VIDYA UNIVERSITY PRESS

TOUCH n PASS

सर्वश्रेष्ठ परीक्षा पथ-प्रदर्शक

B.A.
तृतीय वर्ष
(डिग्री कोर्स)
सेमेस्टर-V

हिन्दी

साहित्यशास्त्र और हिन्दी आलोचना

SYLLABUS

UNIT-I **भारतीय काव्य शास्त्र :** काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्य का स्वरूप।

UNIT-II **भारतीय काव्य सिद्धांत :** अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत, रस सिद्धांत, ध्वनि सिद्धांत, वक्रोक्ति सिद्धांत, औचित्य सिद्धांत।

UNIT-III **साहित्यशास्त्रीय अवधारणाएँ :** काव्यरूप, काव्यगुण, काव्यदोष, शब्द-शक्ति।

UNIT-IV **नाट्यशास्त्र :** भारतीय नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय, वृत्ति, अभिनय, रूपक, कथा, नेतायानायक, नायिका, रंगमंच के प्रकार, रंगमंचीय विशेषताएँ।

UNIT-V **पाश्चात्य काव्यशास्त्र :** अरस्तू : अनुकरण सिद्धांत, विरेचन सिद्धांत, लौंजाईनस उदात्त सिद्धांत, वर्ड्सवर्थ का काव्य भाषा सिद्धांत, रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत, टी.एस. इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत।

UNIT-VI **हिन्दी आलोचना का इतिहास तथा सैद्धांतिकी :** सामान्य परिचय, हिन्दी आलोचना का विकास, सैद्धांतिक आलोचना, स्वछन्दतावादी आलोचना, मार्क्सवादी आलोचना, मनोविश्लेषणवादी आलोचना।

Unit-VII **समीक्षा की विचारधाराएँ :** सामान्य परिचय, नयी समीक्षा, नवशास्त्रवाद, यथार्थवाद, आभिजात्यवाद और नव्यअभिजात्यवाद, कलावाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद, संरचनावाद तथा उत्तर संरचनावाद, विखण्डन।

Unit-VIII **आलोचक एवं आलोचना दृष्टि :** सामान्य परिचय, रामचन्द्र शुक्ल : काव्य में लोकमंगल, प्रेमचंद : साहित्य का उद्देश्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी : आधुनिक साहित्य-नई मान्यताएँ, डॉ. नगेन्द्र : मेरी साहित्यिक मान्यताएँ, रामविलास शर्मा : तुलसी साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य, नामवर सिंह : कहानी : नई और पुरानी, मुक्तिबोध : नई कविता का आत्म संघर्ष।

TOUCH 'n' PASS

VIDYA UNIVERSITY PRESS

पंजीकृत कार्यालय
विद्या एम्पायर, बागपत रोड,
मेरठ, उत्तर प्रदेश (NCR) 250 002
www.vidyauniversitypress.com

© प्रकाशक

लेखन एवं सम्पादन
शोध एवं अनुसन्धान प्रकोष्ठ

मुद्रक
विद्या यूनिवर्सिटी प्रेस

TOUCH n' PASS

विषय-सूची

UNIT-I : भारतीय काव्य शास्त्र ...3
UNIT-II : भारतीय काव्य सिद्धान्त ...19
UNIT-III : साहित्यशास्त्रीय अवधारणाएँ ...43
UNIT-IV : नाट्यशास्त्र ...66
UNIT-V : पाश्चात्य काव्य शास्त्र ...93
UNIT-VI : हिन्दी आलोचना का इतिहास तथा सैद्धांतिकी ...107
UNIT-VII : समीक्षा की विचारधाराएँ : सामान्य परिचय ...122
UNIT-VIII : आलोचक एवं आलोचना दृष्टि ...135

UNIT-I

भारतीय काव्य शास्त्र

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. काव्य का शाब्दिक अर्थ क्या है?

उत्तर काव्य का शाब्दिक अर्थ है—कवि की रचना अर्थात् कवि द्वारा जो कार्य किया जाए, उसे काव्य कहते हैं।

प्र.2. व्यापक अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग किसके लिए किया जाता है?

उत्तर व्यापक अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग साहित्यकार के लिए और काव्य का प्रयोग साहित्य के लिए होता है।

प्र.3. आचार्य दण्डी ने काव्य रचना के लिए किन काव्य-हेतु को आवश्यक माना है?

उत्तर आचार्य दण्डी ने काव्य रचना के लिए तीन काव्य हेतुओं को आवश्यक माना है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। उनकी दृष्टि में केवल प्रतिभा से ही काव्य-सर्जना नहीं हो सकती। काव्य रचना के लिए प्रतिभा के साथ शास्त्र ज्ञान (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास की आवश्यकता होती है।

प्र.4. प्रतिभा के कितने भेद होते हैं?

उत्तर प्रतिभा के दो भेद होते हैं—1. सहजा तथा 2. उत्पाधा।

प्र.5. आचार्य भरत के अनुसार निर्दिष्ट प्रयोजन किस प्रकार का होता है?

उत्तर आचार्य भरत के अनुसार निर्दिष्ट प्रयोजन धर्म, यश, आयु, बुद्धि बढ़ाने वाला, हितसाधक तथा लोक उपदेशक के रूप में नाटक होता है।

प्र.6. आचार्य वामन ने काव्य के प्रयोजन को कितने रूपों में स्वीकार किया है?

उत्तर आचार्य वामन ने काव्य के दो प्रयोजन दृष्ट और अदृष्ट के रूप में स्वीकार किये हैं। इनमें दृष्ट का सम्बन्ध आनन्द तथा अदृष्ट का सम्बन्ध कीर्ति से है।

प्र.7. प्रसिद्ध कवि दांते ने काव्य का प्रयोजन किस प्रकार स्पष्ट किया है?

उत्तर प्रसिद्ध कवि एवं समीक्षक दांते ने काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए स्वीकार करते हैं कि काव्य का उद्देश्य अंततः और पूर्णत व्यक्तियों को दुख की अवस्था से हटाकर सुख की स्थिति की ओर ले जाना है।

प्र.8. साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति किस शब्द से हुई है और इसका अर्थ क्या है?

उत्तर साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है—सहभाव, समन्विति।

प्र.9. आचार्य रूद्रट ने सहजा प्रतिभा को किस प्रकार परिभाषित किया है?

उत्तर आचार्य रूद्रट के अनुसार, सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाइया अध्ययन आदि से अर्जित की जा सकती है।

प्र.10. व्युत्पत्ति के कितने भेद होते हैं?

उत्तर व्युत्पत्ति के दो भेद किए गए हैं—शास्त्रीय और लौकिक।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. काव्य-हेतु से क्या अभिप्राय है?

उत्तर

काव्य-हेतु से अभिप्राय

काव्य-हेतु से अभिप्राय काव्य रचना के मूल कारणों से है। भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य-निर्माण के तीन हेतु स्वीकार किए हैं—(1) प्रतिभा (2) व्युत्पत्ति और (3) अभ्यास। काव्य हेतुओं के संबंध में आचार्यों में दो वर्ग हैं। एक वर्ग के आचार्य काव्य

TOUCH 'n PASS

रचना के लिए प्रतिभा को ही हेतु के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं तथा अन्य दो हेतुओं व्युत्पत्ति और अभ्यास को सहायक कारण मानते हैं। भामह, रूद्रट, वामन, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों की ऐसी मान्यता है किन्तु दूसरे वर्ग के आचार्य जिनमें दण्डी, वाग्मट्ट, मम्मट आदि प्रमुख हैं, काव्य-रचना के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास- तीनों को आवश्यक मानते हैं।

प्र.2. प्रमुख पाश्चात्य विचारकों के काव्य-लक्षण सम्बन्धी मतों पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर प्रमुख पाश्चात्य विचारकों के काव्य-लक्षण संबंधी मत

पाश्चात्य कवियों, आलोचकों और विचारकों ने काव्य या साहित्य के स्वरूप के संबंध में विचार व्यक्त किए हैं। आधुनिक काल के हिंदी कवियों और समीक्षकों की काव्य-परिभाषाओं पर पश्चात्य कवियों और विचारकों का प्रभाव है। प्रमुख पाश्चात्य विचारकों की काव्य संबंधी अवधारणाएँ इस प्रकार हैं—

वर्ड्सवर्थ अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों में प्रमुख हैं, उन्होंने कविता को परिभाषित करते हुए लिखा है—

कविता प्रबल भावनाओं का सहज संवेग है, जिसका स्रोत शांत क्षणों में स्मृत मनोवेग है।' इस परिभाषा में वर्ड्सवर्थ ने कविता को सहज संवेग माना है किंतु उनके विचार में कवि का मानस उस प्रेरणा के क्षण से पूर्व ही गहन चिंतन, मनन और अध्ययन से निर्मित हो चुका होता है। इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि कविता प्रयत्न साध्य नहीं है।

कालरिज ने कविता की अनेक रूपों में परिभाषा दी है। उनका मानना है कि कविता 'best words in best order' है अर्थात् सर्वोत्तम शब्द ही सर्वोत्तम क्रम में कविता का रूप धारण करते हैं। इस परिभाषा में शब्दों के क्रम-विधान के सौंदर्य एवं उत्तमता पर बल दिया गया है।

पी. बी. शेली स्वच्छंदतावादी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके अनुसार सामान्यत: कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है—'Poetry, in a general sense, may be defined to be the expression of the imagination' इस परिभाषा में कल्पना को कविता का मुख्य तत्त्व माना गया है जिसके बिना कविता संभव ही नहीं है।

मैथ्यूआर्नाल्ड मानवतावादी समीक्षक हैं, वे कला का प्रयोग जीवन के लिए मानते हैं। उनके अनुसार, कविता मूलत: जीवन की आलोचना है।'

यह काव्य-परिभाषा अति व्याप्ति-दोष से युक्त है क्योंकि जीवन की आलोचना एक व्यापक क्षेत्र है और सारा वाङ्मय जीवन की आलोचना होता है।

जॉनसन ने कविता की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—'कविता कल्पना और युक्ति के सहयोग द्वारा सत्य को आनंद से एकीभूत करने की कला है।' डॉ० जॉनसन की धारणा है कि कविता में सत्य की आनंदमय अनुभूति विद्यमान रहती है जिसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति कल्पना और युक्ति द्वारा संभव होती है। यह परिभाषा सत्य, आनंद, कल्पना और बुद्धि चार प्रमुख तत्त्वों को व्यक्त करती है।

प्र.3. काव्य प्रयोजन के अर्थ और परिधि पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

उत्तर काव्य-प्रयोजन का आशय और परिधि

संसार की प्रत्येक रचना उद्देश्यपूर्ण है। यहाँ कुछ भी प्रयोजन रहित नहीं होता। काव्य रचना का जीवन और जगत से घनिष्ठ संबंध है, अत: उसके भी कुछ प्रयोजन हैं। काव्य-रचना में कवि के उद्देश्य ही प्रयोजन के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा काव्य प्रयोजनों पर गंभीरता से विचार किया गया है। आदि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तथा उनके बाद भी काव्य-प्रयोजन पर विचार-विमर्श रहा है। आचार्यों ने कवि और पाठक की दृष्टि से काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। काव्य-प्रयोजनों की परिधि बहुत व्यापक है, इसके अंतर्गत मानव जीवन की बाह्य आवश्यकताएँ और अंतरंग भावनाएँ समाहित हैं।

पंचम वेद के रूप में मान्य अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि में नाटक के संदर्भ में जिन प्रयोजनों की चर्चा की है, वे काव्य के लिए भी घटित होते हैं, क्योंकि उस समय तक काव्य और नाटक में भेद नहीं किया जाता था। दोनों की काव्य विद्या रूप में मान्यता थी। तभी तो 'काव्येषु नाटकं रम्यं' कहा जाता था। आचार्य भरत के द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन इस प्रकार है—धर्म, यश, आयु, बुद्धि, बढ़ाने वाला, हितसाधक तथा लोक-उपदेशक के रूप में नाटक होता है।

भामह—भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में काव्य-प्रयोजनों पर विचार किया है। यद्यपि उनके काव्य-प्रयोजन संबंधी चिंतन में आचार्य भरत का सीधा प्रभाव दृष्टिगत होता है तथापि उसमें कुछ नवीन तथ्यों का भी समावेश है—

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य निबंधनम्।। (*काव्यालंकार*, 1/2)

TOUCH 'n' PASS

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय), कलानिपुणता, कीर्ति और प्रीति (आनंद) की प्राप्ति को भामह ने काव्य-प्रयोजन के रूप में निर्दिष्ट किया है। उन्होंने आचार्य भरत के द्वारा निर्दिष्ट धर्म और शास्त्र' को धर्म और कीर्ति के रूप में तथा 'बुद्धिविवर्धन' को 'कलानैपुण्य' के रूप में प्रस्तुत किया है। काव्य-प्रयोजन संबंधी चिंतन में भामह ने प्रीति (आनंद की प्राप्ति) को मुख्य प्रयोजन माना है जिससे परवर्ती आचार्यों को विशेष प्रेरणा मिली।

वामन—आचार्य वामन ने दृष्ट और अदृष्ट के रूप में काव्य के दो प्रयोजन स्वीकार किए। इनमें दृष्ट का संबंध आनंद तथा अदृष्ट का संबंध कीर्ति से है। वे काव्य-सृजन को यश (प्रसिद्धि) का सहज साधन मानते हैं। वामन के काव्य-प्रयोजन में सर्जक (कवि) और भावक (सहृदय) दोनों को महत्त्व दिया है। उन्होंने आचार्य भामह द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजन 'कीर्ति' और प्रीति को अपने काव्य-प्रयोजनों में स्थान दिया है किंतु धर्म और मोक्ष का उल्लेख नहीं किया—

अदृश्य प्रयोजनं कीर्ति हेतु त्वात् (*काव्यालंकार मूलवृत्ति* 1/1/5) अर्थात् सत्काव्य कवि और सहृदय (श्रोता-पाठक) दोनों को आनंद प्रदान करता है, यह दृश्य प्रयोजन है तथा कवि को जीवन काल एवं जीवनोत्तर काल में भी कीर्ति प्रदान करता है, यह अदृश्य प्रयोजन है।

प्र.4. काव्य-प्रयोजन के सन्दर्भ में पाश्चात्य चिंतन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

काव्य-प्रयोजन के संदर्भ में पाश्चात्य चिंतन

काव्य के उद्देश्य या प्रयोजन के संबंध में पाश्चात्य कवियों और सभी क्षकों ने गंभीर चिंतन किया है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धांतों में काव्य-प्रयोजनों की चर्चा मिलती है। धर्म, नीति, सौंदर्य, कला, आनंद आदि के परिप्रेक्ष्य में काव्य प्रयोजनों पर विचार किया गया है।

प्लेटो—प्लेटो की धारणा कवि और काव्य के प्रति उदात्त नहीं है। उनके बिचारों में एकांगीपन अधिक लक्षित होता है। वे मानते हैं कि काव्य से मिथ्या (कल्पनाप्रसूत) अभिव्यक्ति तथा भावों का उत्तेजन होता है जिससे आदर्श राज्य की व्यवस्था बिगड़ सकती है। प्लेटो उस काव्य को महत्त्व देते हैं जिसमें नैतिक उपदेश हो और जो राज्य तथा मानव जीवन के लिए उपयोगी हो।

अरस्तू—अरस्तू के काव्य-प्रयोजन संबंधी विचार प्लेटो से भिन्न हैं। वे प्लेटो के विचारों से सहमत भी नहीं हैं। उन्होंने काव्य से मनोवेगों के उत्तेजन संबंधी प्लेटो के आरोप का अपने विरेचन सिद्धांत में समाधान भी प्रस्तुत किया है, अरस्तू की दृष्टि में काव्य का उद्देश्य विवेचन के माध्यम से मनोवेगों या मनोविकारों का भामन एवं परिष्कार करना है। अरस्तू मुख्य रूप से आनंद को काव्य-प्रयोजन मानते हैं।

लोंजाइनस—उदान्त तत्त्व को महत्त्व प्रदान करने वाले लोंजाइनस की दृष्टि में भव्यता और उदात्तता की अभिव्यक्ति काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

दांते—इटली के सुप्रसिद्ध कवि एवं समीक्षक दांते काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए स्वीकार करते हैं कि काव्य का उद्देश्य अंतत: और पूर्णत: व्यक्तियों को दु:ख की अवस्था से हटाकर सुख की स्थिति की ओर ले जाना है।

सर फिलिप सिडनी के अनुसार, मानवीय सद्गुणों की प्रेरणा काव्य का प्रयोजन है। ड्राइडन आह्लादमयी शिक्षा को काव्य-प्रयोजन मानते हैं। आह्लाद पर उन्होंने विशेष बल दिया है। स्वच्छंदतावादी समीक्षक एस. टी. कालिरिज 'सौंदर्य' के माध्यम से आनंद सिद्धि को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड ने मनुष्य के आत्मिक विकास और सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया है। लियो टालस्टाय सुप्रसिद्ध रूसी साहित्यकार और विचारक हैं। उन्होंने काव्य के प्रयोजन के रूप में नैतिकता, प्रेमभाव और लोकहित को मान्यता दी है।

प्र.5. काव्य-लक्षण का क्या अभिप्राय है?

उत्तर

काव्य-लक्षण का अभिप्राय

किसी विषय या अनुशासन को गंभीरता से समझने के लिए उसके लक्षणों (विशेषताओं) को जानना आवश्यक है। काव्य-लक्षण से तात्पर्य उसके अंतरंग तत्त्वों से है। भारतीय काव्य शास्त्र (संस्कृत) में काव्य-लक्षण-निरूपण की सुदीर्घ परंपरा है और जिसका विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर लक्षित होता है। आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र) से पण्डितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर) तक दिए गए काव्य-लक्षणों के विश्लेषण से विकासात्मक अवधारणा स्पष्ट होती है। मामह, रुद्रट, हेमचंद्र, आदि अलंकारवादी आचार्य शब्द और अर्थ दोनों के समन्वित रूप को काव्य लक्षण मानते हैं, दण्डी एवं पण्डितराज जगन्नाथ शब्द प्रधान काव्य लक्षण मानते हैं। महिम मट्ट, भोज, विश्वनाथ आदि आचार्य रस केन्द्रित काव्य-लक्षणों का समर्थन करते हैं।

काव्य-लक्षणों को समझने के क्रम में काव्य, साहित्य और वाङ्मय, जो प्राय: समानार्थक प्रतीत होते हैं, उनके अंतर की विवेचना कर लेना उचित है। व्युत्पत्ति के आधार पर काव्य का अर्थ 'कवि का कर्म या भाव है। काव्य के कर्त्ता कवि को नवनवोन्मेषशालिनी

TOUCH 'n PASS

प्रतिभासंपन्न तथा लोकोन्तर वयना- निपुण माना गया है। इसी आधार पर वाल्मीकि को आदि कवि और 'रामायण' को आदि काव्य कहा जाता है। काव्य का उक्त अर्थ कवि केंद्रित है किंतु स्वतंत्र रूप से भी काव्य का स्वरूप या लक्षण विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न रूपों में निरूपित किया गया है। साहित्य का व्युत्पत्ति परक अर्थ 'साहितस्य भाव साहित्यम्' अर्थात् हित से युक्त सहभाव (शब्द और अर्थ का सहभाव)। संस्कृत आचार्यों ने शब्द एवं अर्थ के सहभाव को बहुत महत्त्व दिया है। साहित्य का यह अर्थ बहुत व्यापक है क्योंकि इसके अंतर्गत समस्त ग्रंथ समूह समाविष्ट हो जाते हैं। प्राचीन काल में काव्य और साहित्य दोनों ग्रंथ समूह समाविष्ट हो जाते हैं। प्राचीन काल में काव्य और साहित्य दोनों समानार्थ थे, बाद में काव्य संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आज काव्य केवल पद्य रचनाओं के लिए रूढ़ है जबकि साहित्य के अंतर्गत गद्य, पद्य और चम्पू सभी माने जाते हैं। वाङ्मय का मूल रूप' 'वाक्म्मय' है अर्थात् जो कुछ वाणी से बोला जाता है वह वाङ्मय है किंतु अर्थ व्यापक है। आज समस्त भावात्मक और ज्ञानात्मक सामग्री, जो लिपिबद्ध है, उसे वाङ्मय की संज्ञा दी जाती है।

वाङ्मय के समांतर अंग्रेजी का 'लिटेरेचर' शब्द है अर्थात् जो कुछ भी लिखित है, इसे दो भागों में विभक्त किया गया है—शास्त्र या ज्ञानात्मक साहित्य और भावात्मक साहित्य, भावात्मक रचनाओं—गद्य एवं पद्य का समावेश साहित्य में होता है। ये रचनाएँ रमणीय होती हैं और पाठक को आनन्द प्रदान करती हैं। शास्त्र या ज्ञानात्मक साहित्य के अंतर्गत दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, खगोल, भूगोल तथा अन्य सभी ज्ञान के अनुशासन आते हैं। अब हिंदी में काव्य और गद्य दोनों साहित्य कहलाते हैं। विशेष अर्थ में काव्य को पद्य साहित्य तथा गद्य साहित्य कहा जाता है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. काव्य के अर्थ को विस्तारपूर्वक समझाइए।

उत्तर

कवि, काव्य और साहित्य का अर्थ

काव्य का शाब्दिक अर्थ है कवि की रचना अर्थात् कवि द्वारा जो कार्य किया जाए, काव्य कहते हैं—'कवयतीति कवि: तस्य कर्म: काव्यम् (एकावली), कवेरिदं कार्यभावो वा' (मेदिनीकोश)। शब्दकल्पद्रुम में कवि की परिभाषा दी गई है—कवते सर्वजानाति सर्ववर्णयतीति कवि:' जो सब जानता है, सम्पूर्ण विषयों का वर्णन करता है, वह कवि है। हम यह लोकोक्ति अक्सर उद्धृत करते हैं—'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। अर्थात् कवि के पास ऐसी क्षमता होती है, जिससे वह उन विषयों, विचारों, स्थितियों के विषय में सोच और अभिव्यक्त कर सकता है, जिनके विषय में सामान्य व्यक्ति नहीं सोच पाता। श्रुति कहती है—'कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू'।

कवि मनीषी है, परिभू' यानी अपनी अनुभुति के क्षेत्र में सब कुछ समेटने में सक्षम है और स्वयंभू यानी जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का ऋणी नहीं है तात्पर्य यह है कि काव्य उस मनीषी की सृष्टि है जो सर्वज्ञ है, सम्पूर्ण है। कवि को नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पन्न होना चाहिए और उसमें वर्णन निपुणता होनी चाहिए। यह वर्णन निपुणता असाधारण होनी चाहिए। आचार्य मम्मट अपनी कृति काव्यप्रकाश में 'काव्यं लोकोत्तरवर्णननिपुणं कवि कर्म .....' यानी काव्य को लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि की कृति कहते हैं। आनन्दवर्धन का कहना है कि अपार काव्यसंसार में कवि ब्रह्मा है और उसे संसार में जो जैसा अच्छा लगता है, वैसा ही वह उसका निर्माण करता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेक: प्रजापति।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव प्रतिजानीते। (ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत,)

इस आधार पर कवि से आशय रचनाकार से और काव्य से आशय साहित्य से है। हमारे भारतीय चिन्तन में इसीलिए रचनाकार को कवि और उसकी रचना को काव्य कहा जाता रहा है। साहित्य की कोई भी विधा चाहे वह नाटक हो, कविता हो काव्य ही कहलाता था। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्', 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' जैसी उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं। कालान्तर में हिन्दी साहित्य जगत् में काव्य शब्द पद्यबद्ध रचना के लिए रूढ़ हो गया और साहित्य शब्द व्यापक अर्थ में लिया गया। दरअसल आचार्य राजशेखर द्वारा रचित 'काव्य-मीमांसा' नामक कृति में सबसे पहले काव्य के अर्थ में साहित्य और काव्यशास्त्र के लिए साहित्यविद्या शब्द का प्रयोग मिलता है, इसके पूर्व साहित्य के लिए काव्य शब्द ही प्रयुक्त होता रहा है। पश्चिम में साहित्य शब्द के लिए 'लिटरेचर' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' से हुई है, जिसका अर्थ है- सहभाव, समन्विति। साहित्य शब्द की व्याख्या दो रूपों में की जाती है। **एक**-साहित्य का निर्माण शब्द और अर्थ के समन्वय से होता है। **दो**-जिसमें हित की भावना सन्निहित हो, वह साहित्य है। साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समन्वय होता है। वस्तुत: काव्य में शब्द और अर्थ अपने पूरे सामर्थ्य के साथ, सौन्दर्य के

TOUCH 'n PASS

साथ प्रयुक्त होते हैं। तुलसीदास का कहना है 'गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न'। शब्द और अर्थ पानी और उसमें उठने वाली लहर के समान है, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। साहित्य का समस्त कार्य भाषिक अभिव्यंजना का ही व्यापार है। शब्द और अर्थ दोनों के योग से काव्य का स्वरूप संगठित होता है, यह बात तो निर्विवाद है ही, साहित्य का लक्ष्य आनन्द प्रदान करना–यानी सुन्दरम्, यथार्थ का चित्रण करना' यानी सत्यं और व्यवहारज्ञान कराना, अकल्याणकारी तत्त्वों का विनाश करना, यानी शिवं की प्राप्ति कराना भी है। हम यह कह सकते हैं कि सामान्य शब्दार्थ काव्य निर्माण के साधन हैं, कवि की लोकोत्तरवर्णन निपुणता इन्हीं सामान्य शब्दों और अर्थों को ऐसी शक्ति से सम्पन्न बना देती है, जिससे ये रससृष्टि करने में सफल हो जाते हैं। मम्मट आदर्श काव्य ऐसे शब्दार्थ के साहित्य को मानते हैं जो रसनिर्भर है, रस का अभिव्यंजक है। उनका कहना है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयती? (काव्यप्रकाश, आनन्दमंगल, प्रथमउल्लास)

विधाता के द्वारा निर्मित नियमों से रहित, आह्लादमयी, अपने अतिरिक्त अन्य समस्त कार्यकलाप की अधीनता से परे, अलौकिक रस से भरी और नितान्त मनोहर कवि-भारती की जय हो।

काव्य वाणी का सर्वोत्तम व्यापार है और कवि की सर्वोत्कृष्ट कृति है। व्यापक अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग साहित्यकार के लिए और काव्य का प्रयोग साहित्य के लिए होता है। वर्तमान समय में काव्य अंग्रेजी के पोयट्री के और साहित्य लिटरेर के पर्याय के रूप में व्यवहत होता है। अत: जब हम भारतीय काव्य सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं तो काव्यशास्त्र शब्द का व्यवहार करते हैं और जब पाश्चात्य या आधुनिक हिन्दी साहित्य के सिद्धान्तों की बात करते हैं तो साहित्य शास्त्र या समालोचना शब्द का व्यवहार करते हैं।

प्र.2. काव्यु हेतु के प्रमुख आयामों एवं उनके प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

काव्य हेतु के प्रमुख आयाम एवं उनके प्रकार

काव्य हेतु के प्रमुख तीन आयाम हैं—प्रतिमा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास।

(क) प्रतिभा का स्वरूप एवं प्रकार

प्रतिभा वह शक्ति है जिसके द्वारा मौलिक और अपूर्व कार्य संपन्न होते हैं। नवीन उद्भावनाओं और चिंतन की जन्मदात्री प्रतिभा ही है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा के स्वरूप और भेदों का गंभीर एवं सूक्ष्म विवेचन किया गया है। अब हम प्रतिभा के संबंध में भारतीय आचार्यों के मतों का अनुशीलन करेंगे।

भामह (छठी शताब्दी वि.)—भामह भारतीय काव्यशास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार' है, जिसमें प्रतिभा के संबंध में उनके मौलिक विचार व्यक्त हुए हैं। आचार्य भामह प्रतिभा को काव्य-रचना का प्रमुख हेतु मानते हैं। प्रतिभा के द्वारा ही श्रेष्ठ काव्य-रचना हो सकती है किंतु उनके मतानुसार यह प्रतिभा किसी विरले में ही दृष्टिगत होती है—

जड़बुद्धि भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का ज्ञाता हो सकता है किंतु काव्य-रचना तो किसी प्रतिभावान से ही हो सकती है। इस प्रकार आचार्य भामह के अनुसार दोषरहित श्रेष्ठ काव्य की रचना का प्रमुख हेतु प्रतिभा है।

दण्डी (सातवीं शताब्दी वि.)—आचार्य दण्डी के प्रतिभा संबंधी विचार उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यादर्श' में मिलते हैं। आचार्य दण्डी ने काव्य-रचना के लिए तीनों काव्य हेतुओं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को आवश्यक माना है। उनकी दृष्टि में केवल प्रतिभा से ही काव्य-सर्जना नहीं हो सकती है। काव्य-रचना के लिए प्रतिभा के साथ शास्त्र ज्ञान (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास की आवश्यकता पर दण्डी ने विशेष बल दिया है। नैसर्गिक (जन्मजात) प्रतिभा, निर्मल शास्त्र ज्ञान तथा निरंतर अभ्यास काव्य के कारण (हेतु) हैं। किंतु दण्डी उन्हें भी काव्य-रचना के लिए निरूत्साहित नहीं करते जिनमें जन्मजात प्रतिभा नहीं है। यदि ऐसा व्यक्ति अध्ययन और काव्य-रचना का अभ्यास करता है तो उस पर सरस्वती की कृपा होती है और वह काव्य-रचना में समर्थ हो जाता है।

वामन (8वीं शताब्दी)—आचार्य वामन ने प्रतिभा को कविता का मूल या बीज माना है किन्तु अन्य दो काव्य हेतुओं को भी महत्त्व प्रदान किया। पूर्व रचित काव्यों का अनुशीलन, काव्यज्ञ के लिए आवश्यक है। उन्होंने अवधान (चित्त की एकाग्रता), एकांत स्थान तथा ब्राह्ममुहूर्त को काव्य-रचना के लिए उपयोगी माना है।

इस प्रकार वामन प्रतिभा को महत्त्वपूर्ण काव्य हेतु मानते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास पर विशेष बल देते हैं।

रूद्रट (नवम शताब्दी ई. का आरंभ)—आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी काव्य हेतुओं में महत्त्व दिया है। प्रतिभा के रूद्रट ने दो भेद भी किए हैं—सहजा, जो जन्मजात होती है तथा उत्पाद्या जो शास्त्र तथा लोक से अर्जित की जाती है। रूद्रट प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु स्वीकार करते हैं और उसे ही शक्ति मानते हैं।

TOUCH 'n PASS

आनंदवर्द्धन (नवीं शताब्दी वि.)—आचार्य आनंदवर्द्धन के अनुसार प्रतिभा कविता का मूल है। व्युत्पत्ति को भी उन्होंने महत्त्व दिया है। उनका मत है कि व्युत्पत्ति के अभाव में कवि की रचना में अनेक दोष आ जाते हैं। किंतु प्रतिमा से ये दोष कम हो जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों की आवश्यकता प्रतिपादित की है।

राजशेखर (विक्रम की नवीं शताब्दी का मध्य) सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' के रचयिता आचार्य राजशेखर ने काव्य हेतुओं की विवेचना करते हुए प्रतिभा और व्युत्पत्ति को प्रमुख काव्य हेतु स्वीकार किया है। इन दोनों के योग से कविकर्म में श्रेष्ठता आती है। उन्होंने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को केन्द्र में रखकर कवि के दो प्रकार विकसित किए हैं। प्रतिमा सम्पन्न काव्य कवि और व्युत्पत्ति युक्त कविशास्त्र कवि होता है, अभ्यास को वह बाह्य काव्य हेतु मानते हैं। राजशेखर शक्ति को काव्य का मूल मानते हैं। यह शक्ति प्रतिभा का पर्याय नहीं है।

मम्मट (ग्यारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध)—आचार्य मम्मट अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में काव्य हेतुओं में शक्ति (प्रतिभा) निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास की विवेचना करते हैं। उन्होंने शक्ति (प्रतिभा) को कवित्व का बीज कहा है शक्तिः कवित्व बीज रूपः याँ विना काव्य न प्रसोत्' (काव्य प्रकाश 1/13) किन्तु निपुणता और अभ्यास को शक्ति (प्रतिभा) के साथ सम्मिलित मानते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ (16वीं शताब्दी)—इन्होंने काव्य हेतुओं में केवल प्रतिभा को मान्यता दी है इसीलिए उन्हें प्रतिभावादी आचार्य भी कहा जाता है। उनकी मान्यता है 'प्रतिभैव केवल कारणम्' (रस गंगाधर)। इस प्रकार से व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा किसी-किसी में बाल्यावस्था से ही काव्य-रचना की क्षमता दिख जाती है। यद्यपि आचार्य जगन्नाथ की इस मान्यता का खण्डन भी हुआ है। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उनके मत को अतिवादी माना है क्योंकि केवल प्रतिभा काव्य-निर्माण का हेतु नहीं है। काव्य हेतुओं में प्रतिभा मुख्य है और सभी आचार्यों ने इसे काव्य-रचना में प्रमुखता प्रदान करते हुए इसकी अनिवार्यता स्वीकार की है। वस्तुतः साहित्य सर्जना की यह मूल शक्ति है।

प्रतिभा के स्वरूप पर कुछ आचार्यों ने विशेष रूप से प्रकाश डाला है जिनमें आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, भट्ट तौत आदि प्रमुख हैं। आनन्दवर्द्धन मानते हैं कि प्रतिभा वह शक्ति है जिसके द्वारा प्राचीन विषयों को भी नवीन रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रतिभा के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे 'अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा' कहा है। अपूर्व वस्तुओं का निर्माण केवल प्रतिभा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे 'नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा' माना है। आचार्य महिम भट्ट ने कवि की प्रतिभा को शिव के तृतीयनेत्र से उपमित किया है। जिसकी शक्ति से वह त्रिलोक में स्थित भावों का साक्षात्कार करता है। आचार्य पण्डित जगन्नाथ प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं- साच काव्यघटनानुकूल शब्दार्थौ परिस्थितिः। अर्थात् प्रतिभा के द्वारा ही काव्य में वर्णनीय घटना के लिए शब्द और अर्थ की समुचित योजना होती है।

प्रतिभा के प्रकार—आचार्यों ने प्रतिभा के भेदों का भी विवेचन किया है। आचार्य रुद्रट ने शक्ति (प्रतिभा) के दो भेद किए हैं—(1) सहजा (2) उत्पाद्या—'सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति।'

उनके अनुसार, सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या अध्ययन आदि से अर्जित होती है। राजशेखर प्रतिभा के दो भेद स्वीकार करते हैं—कारयित्री और भावयित्री। इनमें से प्रथम का संबंध कवि कर्म से है और दूसरे का संबंध आलोचना कर्म से है। उन्होंने कारयित्री प्रतिभा के पुनः तीन प्रकार बताए हैं—(1) सहजा (2) आहार्या और (3) औपदेशिकी।

1. **सहजा प्रतिभा**—यह पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त होती है और इस जन्म में अल्प प्रयत्न के उद्दीप्त हो जाती हैं।
2. **आहार्या प्रतिभा**—यह प्रतिभा वर्तमान जीवन के संस्कारों से उत्पन्न होती है। अतः इसके लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है।
3. **औपदेशिकी प्रतिभा**—देवता, गुरु, तंत्र, मंत्र आदि से उद्बुध प्रतिभा औपदेशिकी है। उपदेश आदि से प्राप्त होने के कारण इसी औपदेशिकी कहते हैं। इसका संबंध वर्तमान जीवन से रहता है।

इसका संबंध वर्तमान जीवन से रहता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिभा के दो प्रकार निरूपित किए हैं—

(1) सहजा और (2) औपाधिकी। स्वतः (अपने आप) स्फुरित होने वाली प्रतिभा 'सहजा' है।

(2) मंत्र और देवाराधना आदि से प्राप्त होने वाली प्रतिभा औपाधिकी है। पण्डितराज जगन्नाथ भी प्रतिभा में विविधता या अनेक रूपता का उल्लेख करते हैं। उनकी मान्यता है कि सभी कवियों में एक प्रकार की ही प्रतिभा नहीं देखी जाती है। सभी की उद्भावनाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं और इसका कारण प्रतिभा की विविधता है।

TOUCH 'n' PASS

(ख) व्युत्पत्ति का अर्थपरक परिप्रेक्ष्य

व्युत्पत्ति शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'उत्पत्ति' शब्द से बनता है। इसका तात्पर्य यह है कि लोक (संसार) में जो कुछ भी उत्पन्न है, उसका विशेष ज्ञान होना व्युत्पत्ति है। वास्तव में इसके अंतर्गत लोक-व्यवहार और प्रकृति आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान समाहित रहता है। इसीलिए व्युत्पत्ति को बहुज्ञता भी कहा गया है। यह अर्थ काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों द्वारा मान्य है। आचार्य मम्मट ने इसे निपुणता की संज्ञा दी है।

व्युत्पत्ति के दो भेद किए गए हैं—शास्त्रीय और लौकिक।

शास्त्रीय व्युत्पत्ति अध्ययन से प्राप्त होती है तथा लौकिक व्युत्पत्ति लोक के अनुभव एवं निरीक्षण से। लोक के निरीक्षण और शास्त्रों के मनन-चिंतन तथा काव्य-परंपरा का गंभीर अध्ययन करने से कवि में निपुणता आती है और उसका अनुभवजन्य ज्ञान भी विस्तृत होता है जिसके माध्यम से वह काव्य को जीवन और समाज के निकट लाने में समर्थ होता है।

व्युत्पत्ति का क्षेत्र असीमित होता है क्योंकि लोक और शास्त्र की कोई सीमा नहीं मानी गई। व्युत्पत्ति का अधिकाधिक ज्ञान होने से काव्य-दोषों में कमी आती है। व्युत्पत्ति के ज्ञात के अभाव में काव्य में असंगतियाँ और अनौचित्य आ सकता है। काव्य को उत्कृष्ट, दोषरहित और सहृदय-आह्लादक बनाने के लिए व्युत्पत्ति का यथेष्ट ज्ञान होना आवश्यक है।

(ग) अभ्यास का तात्पर्य एवं महत्त्व

काव्य हेतुओं में 'अभ्यास' महत्त्वपूर्ण कारक है। आचार्य राजशेखर के अनुसार, निरंतर प्रयास करना अभ्यास है। काव्य-रचना की पुनः प्रवृत्ति अभ्यास कहलाता है। सभी आचार्यों ने अभ्यास, प्रतिभा को पोषक और संस्कारक माना है। आचार्य दण्डी का मत है कि अभ्यासपूर्वक वाणी की उपासना करने पर अवश्य ही वह अनुग्रह करती है। यह तो निश्चित है कि श्रेष्ठ कवियों (साहित्यकारों) से शिक्षा प्राप्त कर (उनके अनुभव से अवगत होकर) काव्य-रचना का अभ्यास करने से काव्य में उत्कृष्टता आती है तथा काव्य गुणों से समृद्ध और दोषों से रहित हो जाता है। यह माना जाता है कि अभ्यास के अभाव में प्रतिभा भी कुंठित होने लगती है। अभ्यास से काव्य में पूरा निखार आता है। कवि की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ती है तथा भावाभिव्यक्ति सौष्ठवपूर्ण, माधुर्ययुक्त और प्रभावशाली होती है। आचार्य हेमचंद्र (काव्यानुशासन) मानते हैं कि अभ्यास से प्रतिमा संस्कारित होकर कामधेनु जैसी हो जाती है और काव्यामृत प्रदान करती है। 'अभ्यास संस्कृता हि प्रतिभा काव्यामृत कामधेनुर्भवति।'

प्र.3. काव्य-प्रयोजन के सन्दर्भ में संस्कृत साहित्य का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

काव्य-प्रयोजन के संदर्भ में संस्कृत साहित्य

कुंतक (दसवीं भाती का अंत)—आचार्य कुंतक के काव्य-प्रयोजनों के विवेचन में नवीनता और मौलिकता मिलती है। उन्होंने लोकोत्तर चमत्कार के आनंद को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से बढ़कर माना है। उनकी दृष्टि में यह अंतश्चेतना का चमत्कार पुरुषार्थ चतुष्टय को अतिक्रमित कर देता है।

चतुर्वर्गफलस्वादमपि अतिक्रम्य तदविदाम्।
काव्यामृत रसेन अन्तश्चमत्कारो वितन्यते।। (वक्रोक्ति जीवित, 1/5)

भोजराज ग्यारहवीं शती पूर्वार्द्ध—आचार्य भोजराज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती कंठाभरण' में कीर्ति और प्रीति (आनंद) को काव्य प्रयोजन में निरूपित किया है। इनके काव्य प्रयोजन वामन-निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजनों से साम्य रखते हैं।

मम्मट: अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों का स्पष्ट विवेचन किया है। उनके काव्य-प्रयोजनों में पूर्व आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों का समाहार भी लक्षित होता है। उन्होंने निम्नलिखित प्रयोजनों का निर्देश किया है—

1. **यशे**—यश की प्राप्ति काव्य-रचना का प्रमुख प्रयोजन है। कवि में अपनी रचना द्वारा यश-प्राप्ति की प्रबल कामना होती है क्योंकि यश ही उसे अमरत्व प्रदान करता है। मृत्यु के पश्चात् भी वह यशरूपी शरीर से इस जगत में विद्यमान रहता है। वस्तुतः यश शरीर जन्म-मरण से रहित है। आदि कवि वाल्मीकि, कालिदास, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, रहीम, रसखान, प्रसाद, निराला, पंत आदि अपनी काव्यकृतियों के कारण ही अमर हैं। यह प्रयोजन वैश्विक है। यश की प्राप्ति विश्व के अनेक कवियों का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। यद्यपि इस प्रयोजन को दुर्बलता और मंदता युक्त भी कहा गया है। कवि श्रेष्ठ मिल्टन यश प्राप्ति की कामना को उदात्त मनीषियों की अंतिम दुर्बलता कहते हैं। 'The last infirmity of noble minds.' कविकुल गुरु कालिदास भी 'मंदः कवि यशः प्रार्थी' मानते हैं। जायसी ने लिखा है- 'केहि न जगत जस बेंचा' तथा 'जो यह सुनै कहानी हम्ह सँवरे दुह बोल'। गोस्वामी तुलसीदास के 'होहु प्रसन्न देहु बरदान् साधु समाज भनित सनमानू आदि कथन यशः प्राप्ति से संबंधित हैं। इससे इस प्रयोजन की व्यापकता और महत्त्व स्वतः सिद्ध है। कदाचित् मम्मट ने इसीलिए काव्य-प्रयोजनों में 'यश' को प्रथम स्थान दिया हो।

TOUCH 'n' PASS

2. **अर्थकृते**—अर्थ प्राप्ति भी काव्य का उपयोगी एवं व्यावहारिक प्रयोजन है। अनेक कवियों ने अर्थ-प्राप्ति और आजीविका के लिए काव्य रचनाएँ की हैं। संस्कृत बाणभट्ट जैसे कवियों ने महाराज हर्ष से अपनी रचनाओं पर प्रभूत धनराशि एवं सम्मान प्राप्त किया। राजाश्रय प्राप्त करना भी अर्थकृते ही है। हिंदी का चरण काव्य और अधिकांश रीतिकालीन काव्य, इस प्रयोजन से जुड़ा हुआ है। पुरस्कार और पारिश्रमिक के रूप में आज भी यह प्रयोजन अस्तित्व में है।
3. **व्यवहारविदे**—व्यवहार ज्ञान भी काव्य का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। काव्य से रचनाकार और पाठक-श्रोता को लोक व्यवहार की शिक्षा मिलती है। काव्य के अध्ययन-अनुशीलन से उस युग के लोगों के मनोभावों, विचारों, आचरण और व्यवहार को भी जाना जा सकता है। काव्य से प्राप्त ज्ञान द्वारा व्यवहार या आचरण में पर्याप्त बदलाव भी देखा जाता है।
4. **शिवतरक्षते**—शिवेतर की क्षति अर्थात् अशिव (अमंगल) का नाश तथा अनिष्ट निवारण काव्य का प्रयोजन है। अनेक कवि इस प्रयोजन से काव्य-रचना करते हैं। काव्य में लोक मंगल की व्यवस्था शिवेतर क्षति ही है। इसका स्वरूप भी वैश्विक है। संसार के अनेक देशों में मानव हित के लिए की गई क्रांतियों में कवि और उनकी रचनाओं की प्रेरणा रही है। इसी प्रकार श्रेष्ठ काव्य की रचना का प्रमुख प्रयोजन ही अनिष्ट निवारण है। इसके माध्यम से अनेक लोग अपनी तथा समाज के लोगों की पीड़ा तथा अमंगल का निवारण करते हैं। उदाहरणस्वरूप, 'हनुमान बाहुक' की रचना तुलसीदास ने अपनी बाहु-पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए की थी और आज भी बहुत-से लोग पीड़ा तथा अन्य कष्टों के निवारण के लिए उसका नियमित पाठ-पारायण करते हैं।
5. **सद्यः परमिवृत्तये**—उत्कृष्ट आनंद की शीघ्र प्राप्ति काव्य का उदात्त प्रयोजन है। आचार्यों ने इस प्रयोजन को काव्य का मूल प्रयोजन स्वीकार किया है क्योंकि काव्य से जो आनंद प्राप्त होता है, वह भाव योग और ब्रलानंदसहोदर है। यह भी माना गया है कि काव्य की रचना और उसके अनुशीलन से जो आनंद प्राप्त होता है वह अनिर्वचनीय है। शीघ्र (अविलंब) प्राप्ति और परमशांति इसकी अन्यतम विशेषता है।

कांता सम्मिततयो—कांता सम्मित में उपदेश केवल काव्य से ही मिलता है। इसमें रस और माधुर्य की प्रधानता होती है तथा शब्द और अर्थ गौण हो जाते हैं। काव्य के उपदेश की मधुरता, प्रियता और ग्राह्यता का प्रमुख कारण यह है कि यह कर्कश नहीं होता अपितु इसका प्रकारांतर से हृदय और मन-मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। मूलत: यह व्यक्ति के चिंतन को प्रभावित करता है। उपदेश की तीन पृष्ठियाँ मानी गई हैं—(क) प्रभुसम्मित—यह श्रेणी वेद और शास्त्रों की है। यह आदेशात्मक है। इसमें शब्द की प्रधानता होती है, जिस प्रकार प्रभु (राजा) के आदेश की अवहेलना नहीं की जा सकती उसी प्रकार प्रभुसम्मित उपदेश की भी अवहेलना नहीं होती है। (ख) सुहत्सम्मित—यह श्रेणी विशेषत: पुराण ग्रंथों से बंधित है। अर्थ की प्रधानता के कारण इसके उपदेश का अक्षरश: पालन नहीं किया जाता, अपितु उसके आशय (तात्पर्य) का अनुसरण किया जाता है।
6. **कांतासम्मित**—यह उपदेश संबंधी काव्य से संबंधित है। इसमें शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व है। यह उपदेश रस प्रधान होता है। कारण यह है कि काव्य की विषयवस्तु या वर्ण्यवस्तु सुसंघटित होती है कि उसे पढ़कर या सुनकर पाठक प्रभावित होता है तथा उसे कर्त्तव्यबोध भी होता है। उसमें संग्रह और त्याग का विवके भी उत्पन्न हो जाता है। काव्य के उपदेश से सहत्रथ को राम और रावण के व्यवहारगत अंतर का भी ज्ञान होता है और वह राम आदि की भाँति आचरण करने के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य मम्मट का काव्य-प्रयोजन व्यापक और व्यावहारिक है।

हेमचंद्र (बारहवीं शती)—आचार्य हेमचंद्र द्वारा दिए गए युक्त काव्य हेतुओं में यशप्राप्ति और कांतासम्मित उपदेश में आनन्द प्रमुख है क्योंकि इसका संबंध रचनाकार और सहृदय (पाठक या श्रोता) दोनों से है, जबकि यश का संबंध केवल कवि का सर्जक से तथा कांतासम्मित उपदेश का संबंध सहृदय से होता है।

विश्वनाथ (चौदहवीं शती)—'साहित्य दर्पण' आचार्य विश्वनाथ का सुपसिद्ध लक्षण ग्रंथ है। उन्होंने अपने काव्य-प्रयोजनों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को महत्त्व दिया है। इनकी प्राप्ति काव्य के माध्यम से आनंदपूर्वक हो जाती है। वेद और शास्त्रों का प्रयोजन भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति कराना है परंतु इनका अध्ययन और अनुशीलन कष्ट साध्य होता है तथा ये सर्वजन सुलभ और बोधगम्य भी नहीं होते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ—पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य-प्रयोजनों के अंतर्गत कीर्ति, परम आह्लाद, देवताओं की कृपा प्राप्ति आदि का उल्लेख किया है। उन्होंने परम आह्लाद को ब्रह्मानंद स्वरूप स्वीकार किया है। रसानुभूति को वे श्रेष्ठ काव्य प्रयोजन मानते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-प्रयोजनों के समग्र अवलोकन से ज्ञात होता है कि आनंद की प्राप्ति तथा विचारों का परिष्करण ही काव्य के प्रमुख प्रयोजन हैं।

TOUCH 'n PASS

प्र.4. काव्य-प्रयोजन के संदर्भ में हिन्दी साहित्य का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

उत्तर

काव्य-प्रयोजन के संदर्भ में हिंदी साहित्य

हिंदी के मध्यकालीन सुप्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुख अर्थात् आत्म आनंदोपलविध' तथा 'कीरति मनिति भूति मलि सोई' सुरसरी सम सब कहँ हित होई' अर्थात् लोकमंगल को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों और आधुनिक आलोचकों ने काव्य-प्रयोजन के संबंध में चिंतन किया है। रीतिकालीन कवियों के काव्य-प्रयोजन के निरूपण में संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

आचार्य सोमनाथ का लक्षण ग्रंथ 'रस पीयूष निधि' है जिसमें उन्होंने कीर्ति, वित्त, विनोद, मंगल और सदुपदेश को काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया—कीरति बिन्त विनोद अति अति मंगल को देति।

करै भलो उपदेश नित बहु कविन्त चित चेति।।

कीर्ति, वित्त, मंगल और उपदेश के साथ 'विनोद' को सम्मिलित करना सोमनाथ की मौलिकता है। आचार्य वामन द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजन 'प्रीति' में विनोद का समावेश हो सकता है किंतु यह अपेक्षाकृत अधिक सरल और स्पष्ट है। इसी प्रकार 'अतिमंगल को देति' को आचार्य मम्मट के मत की अपेक्षा अधिक सकारात्मक, सुबोध और भावपूर्ण माना जा सकता है। इस प्रकार सोमनाथ का काव्य-प्रयोजन संस्कृत के आचार्यों से प्रभावित होते हुए भी मौलिकता पूर्ण है।

भिखारीदास—आचार्य भिखारीदास का प्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ 'काव्य निर्णय' है। इस ग्रंथ में उन्होंने तपः सिद्धि, संपत्ति प्राप्ति, यशः प्राप्ति, आनंद की उपलब्धि, सहज रूप में शिक्षा की प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है। उनके प्रयोजन निरूपण पर आचार्य मम्मट का प्रभाव है। दास ने हिंदी के सुप्रसिद्ध कवियों के माध्यम से काव्य प्रयोजनों को स्पष्ट किया है।

एक लहै तपपुंजन को फल ज्यों तुलसी अरू सूर गोसाई।
एक लहै बहु संपति केसव भूषन ज्यों बर बीर बड़ाई।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन हैं रसखानि रहीम की नाई।
दास कबिन्तन की चर्चा बुधिवंतन को सुखदै सब ठाई।। (*काव्य निर्णय*, छंद सं. 10)

यहाँ यह माना जा सकता है कि हिंदी के कवियों को उद्धृत कर भिखारीदास हिंदी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र को व्यक्त करना चाहते हैं। आधुनिककाल में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के विभिन्न पक्षों पर चिंतन किया है। वे लोक हित, आनंद तथा नीति एवं सात्विक भावों के उन्नयन को काव्य का प्रयोजन मानते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, आनंद एवं मंगल की सिद्धि काव्य का मूल एवं व्यापक प्रयोजन है, जिसके दो रूप हैं—(i) साधनावस्था और (ii) सिद्धावस्था। वे सौंदर्य के माध्यम से आनंद और लोकमंगल के विधान को प्रयोजन के रूप में निरूपित करते हैं। शुक्लजी ने काव्य-प्रयोजनों का निरूपण प्रायः सामाजिक दृष्टि से किया है। चिंतामणि- भाग-एक के निबंध कविता क्या है? में काव्य के प्रयोजन को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है। कविता ही मनुष्य को प्रकृतदशा में लाती है और जगत के बीच उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई मनुष्यता की उच्चभूमि पर ले जाती है।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। द्विवेदी जी की काव्य-प्रयोजन संबंधी धारणा मुख्यतः मानवतावादी है। उन्होंने एक ही निबंध लिखा है जिसका शीर्षक 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।' इस निबंध में वे लिखते हैं कि मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—आचार्य द्विवेदी वस्तुतः काव्य या कला का प्रयोजन जीवन के लिए मानते हैं। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी है। इस संदर्भ में उनका कथन दृष्टव्य है' साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निकष की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं। जिस बात के कहने से मनुष्य पशु-सामान्य धरातल के ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है।'

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के काव्य-प्रयोजन संबंधी-चिंतन में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों का समन्वय है। उनके अनुसार साहित्य का उद्देश्य है जीवन के किसी मार्मिक स्वरूप या स्थिति का ज्ञान कराना। उनकी मान्यता है कि हास्य या मनोरंजन के लिए रचित साहित्य में युग का प्रतिनिधित्व नहीं होता। उनकी दृष्टि में साहित्य राष्ट्रीय जीवन के लिए उपयोगी है। निष्कर्षतः बाजपेयी जी की दृष्टि में आत्मानुभूति काव्य का प्रयोजन है।

डॉ० नगेन्द्र के काव्य-प्रयोजन संबंधी विचार मनोवैज्ञानिक तथ्यों से युक्त हैं। वे आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का मूलतत्त्व मानते हैं। आत्माभिव्यक्ति से कवि या लेखक को सृजन-सुख की प्राप्ति होती है'। डॉ० नगेंद्र का कथन दृष्टव्य है, 'आप इसे दोष मानिए या गुण: मेरी अंतर्मुखी प्रकृति आनंद से बढ़कर आत्म कल्याण अथवा लोक कल्याण की कल्पना करने में असमर्थ रही है।' वस्तुतः डॉ० नगेंद्र व्यक्तित्व के संस्कार को काव्य का उद्देश्य मानते हैं।

डॉ० भगीरथ मिश्र के काव्य-प्रयोजन संबंधी विचारों में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय चिंतन का समन्वय है। उन्होंने काव्य-प्रयोजनों को सात रूपों में विवेचित किया है—(i) कला कला के लिए (ii) कला जीवन के लिए (iii) जीवन के पलायन के अर्थ (iv) मनोरंजन अथवा आनंद के लिए (v) सेवा के अर्थ (vi) आत्मसाक्षात्कार के अर्थ (vii) एक सृजनात्मक आवश्यकता की पूर्ति। डॉ० मिश्र की मूल मान्यता है कि काव्य एक सृजनात्मक आवश्यकता है।

प्र.5. काव्य लक्षणों से सम्बन्धित मतों के प्रमुख आचार्यों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रमुख आचार्यों के काव्य-लक्षण संबंधी मत

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि काव्य अपने स्वरूप में बहुत व्यापक है। मूलरूप में तो कवि-कर्म को काव्य की संज्ञा दी गई है। भारतीय (संस्कृत), आचार्यों ने काव्य के लक्षणों का जो निरूपण किया, उसके आलोक में काव्य के स्वरूप को विश्लेषित किया जा रहा है। भारत में काव्य का शास्त्रीय चिंतन सबसे पहले भरतमुनि (द्वितीय शताब्दी विक्रमी) के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में व्यवस्थित रूप में मिलता है। यद्यपि उन्होंने काव्य के लक्षणों का निरूपण नहीं किया किंतु नाटक की विशेषताओं का विवेचन करते हुए जिन तत्त्वों का उल्लेख किया है, वे काव्य के भी मूल तत्त्व हैं। वस्तुत: प्राचीनकाल में नाटक भी काव्य का एक प्रमुख रूप था और दृश्यकाव्य के अंतर्गत था। 'काव्येशु नाटक रम्यं' से यह बात स्पष्ट होती है। 'नाट्यशास्त्र में भरत मुनि की प्रसिद्ध कारिका के अन्तर्गत सत्काव्य के लिए सात बातों का उल्लेख है—(1) मृदुललित पदावली (2) गूढशब्दार्थहीनता (3) सर्वसुगमता (4) युक्ति (तर्क) युक्तता (5) नृत्य (अभिनय) में उपयोग किए जाने की योग्यता (6) रस-प्रवाह के अनेक स्रोतों की योजना से परिपूर्ण (7) संधियुक्तता। इनमें से पाँचवें और सातवें लक्षण दृश्यकाव्य (नाटक) की दृष्टि से रखे गए हैं।

यद्यपि इस कारिका में काव्य के आवश्यक तत्त्वों-रस, रीति, अलंकार, गुण आदि का उल्लेख है किंतु इसे मुख्य रूप से काव्य का लक्षण नहीं माना जा सकता है। इसमें वर्णित तत्त्व काव्य लक्षण से अधिक कविता की विशेषताएँ हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीनतम आचार्य भामह माने जाते हैं, जिन्होंने काव्य-स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन किया है, किंतु परंपरा से पुराण प्राचीन माने जाते हैं, अत: 'अग्निपुराण' में दिए गए काव्य-लक्षण को भामह के काव्य-लक्षण से पहले प्रस्तुत किया गया है जिसका अर्थ है- अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदावली काव्य है, जो प्रत्यक्ष रूप में अलंकार युक्त, गुण-सहित तथा दोष-रहित हो। यह परिभाषा काव्य के बहिरंग (बाहरी) पक्ष को अधिक स्पष्ट करती है। इसमें अलंकारों को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। काव्य की आत्मा (प्रमुख तत्त्व) का उद्घाटन इसमें नहीं हो सका। एक बात अवश्य है कि इस परिभाषा में प्रतिपादित तत्त्वों का प्रभाव परवर्ती काव्य-लक्षणों में स्पष्टत: दिखाई देता है।

1. **भामह**—अलंकार आचार्य भामह ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार' में काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—शब्दार्थौ संहितो काव्यं (काव्यालंकार-1-16)

   अर्थात् शब्द और अर्थ का समन्वित (सह) भाव काव्य है। इस प्रकार भामह शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य मानते हैं। इस लक्षण की विशेषताओं को इस प्रकार लक्षित कर सकते हैं—

   (i) यह परिभाषा (लक्षण) संक्षिप्त, सरल और सुबोध है।

   (ii) काव्य को मूल तत्त्वों- शब्द और अर्थ के महत्त्व को इसमें व्यक्त किया गया है।

   (iii) 'संहितो' शब्द के द्वारा 'शब्द' और अर्थ के साहचर्य की अनेक स्थितियों की ओर संकेत किया गया है।

   (iv) परवर्ती अनेक आचार्यों ने काव्य-लक्षण-निरूपण में इसमें निर्दिष्ट 'शब्दार्थौ' से प्रेरणा प्राप्त की।

   आचार्य भामह के काव्य-लक्षण को डॉ० कांतिचंद्र पाण्डेय, डॉ० भागीरथ मिश्र ने अतिव्याप्ति दोष से युक्त माना है। डॉ० भागीरथ मिश्र का मत है कि यह परिभाषा अत्यंत व्यापक है क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्तालाप आदि सभी आ जाते हैं।

   महिम भट्ट, भामह के काव्य-लक्षण को निर्दोष मानते हैं। उन्होंने 'संहितो' पद का अर्थ 'शब्द और अर्थ' का समकोटिक महत्त्व है, प्रतिपादित करने वाला माना है। इसका आशय है कि काव्य में शब्द और अर्थ समान महत्त्व रखते हैं, जबकि इतिहास आदि अन्य विषयों में अर्थ की प्रधानता होती है और शब्द का स्थान गौण होता है।

   आचार्य भामह के काव्य-लक्षण को यथातथ्य समझने के लिए इस पर विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत लक्षण के पहले की कारिकाओं में आचार्य भामह ने स्पष्ट किया है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की शब्द और अर्थ को लेकर दो प्रकार की अतिवादी मान्यताएँ थीं। एक विचारधारा काव्य-सौंदर्य को शब्दालंकारों में निहित मानती थी तो दूसरी अर्थालंकारों में। शब्दालंकारवादी का तर्क है कि प्राथमिक चारूता शब्द कौशल में ही है क्योंकि शब्द के सुनाई पड़ने पर ही अर्थ की

TOUCH 'n' PASS

अभिव्यक्ति होती है। अत: काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा मूलत: शब्द में है और अर्थ तो शब्द के बाद आता है। अर्थालंकारवादी अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं कि काव्यगत सौंदर्य का बोध तो अर्थ-प्रतीति के बाद ही होता है। अत: अर्थालंकार ही आनंदानुभूति का कारण हो सकता है। भामह दोनों अतिवादी मतों में समन्वय स्थापित करते हुए अपना काव्य-लक्षण निरूपित करते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ दोनों की चारूता में काव्य-सौंदर्य निहित है।

2. **आचार्य दंडी** ने अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में काव्य का लक्षण इस प्रकार निरूपित किया है—शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (काव्यार्थ; 1-10)

अर्थात् इष्टार्थ (हृदयाह्लादक अर्थ) से युक्त पद समूह (पदावली) अर्थात् दोनों मिलकर ही काव्य का शरीर है। दण्डी पदावली (पद समूह) को ही काव्य मानते हैं, शब्दार्थ को नहीं। यद्यपि दण्डी की दृष्टि में अलंकार-युक्त होने पर ही काव्य आह्लादक हो सकता है फिर भी उन्होंने अलंकारों के साथ इसका भी समावेश किया है। अत: दंडी का दृष्टिकोण भामह की अपेक्षा उदार है। दंडी के काव्य-लक्षण का एक वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने पदावली को काव्य का शरीर कहकर काव्यात्मा की खोज की ओर संकेत कर दिया और परवर्ती आचार्यों में व्यापक और गंभीर विवेचन किया।

3. **वामन**—रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन माने जाते हैं और उन्होंने रीति विवेचन के संदर्भ में ही अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र' में काव्य-लक्षण पर विचार किया है। वे गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ को काव्य मानते हैं—

काव्य शब्दोडयं गुलालंकारसंस्कृतयो: शब्दार्थयो: वर्तते।'

वामन काव्य को अलंकार द्वारा ग्राहय मानते हैं और समग्र सौंदर्य अलंकार है- काव्य ग्राहयमलंकारात्, सौंदर्यमलंकार:। काव्य में अलंकार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए भी वामन ने काव्य की आत्मा के रूप में रीति को मान्यता प्रदान की। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' उन्होंने पहली बार काव्य के शरीर और आत्मा के भेद को स्पष्ट किया। विशिष्ट पद रचना रीति है और विशिष्ट का अर्थ गुणयुक्त होने से है। इस प्रकार वामन ने अपने काव्य-विवेचन में शब्द और अर्थ को समान महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने गुणों के ग्रहण और दोषों के बहिष्कार पर बल दिया। उनकी दृष्टि में गुण काव्य के अनिवार्य तत्त्व हैं और अलंकार वांछनीय हैं, अनिवार्य नहीं।'

4. **कुंतक**—इन्होंने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) सिद्ध किया है। वे शब्द और अर्थ के समेकित रूप को काव्य मानते हैं जो वक्रोक्ति से युक्त हों। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ अलंकार्य (वर्ण्यवस्तु) हैं और वक्रोक्ति अलंकार है। शब्द और अर्थ का अलंकरण केवल वक्रोक्ति द्वारा ही संभव है। अत: आचार्य कुंतक के अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है—शब्दार्थौ संहितौ वक्रकविव्यापारश: लिनि।

अर्थात् काव्य मर्मज्ञों को आह्लादित करने वाली वक्रतायुक्त कौशलपूर्ण कवि की रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ का समन्वित रूप ही काव्य है। आचार्य कुंतक ने बहुत स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि जो यह मानते हैं कि कार्य कौशल कल्पित केवल शब्द काव्य है और जो यह कहते हैं कि वैचित्रा (रमणीयता) युक्त अर्थ काव्य है—ये दोनों पक्ष उचित नहीं, अत: खण्डित हो जाते हैं, अर्थात् न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, अपितु दोनों के सम्मिलन से काव्य होता है। कुंतक की यह भी मान्यता है कि भाषा में एक अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द हो सकते हैं किंतु कवि उन शब्दों में से केवल उसी शब्द को अपने काव्य में स्थान देता है, जो अन्य सभी शब्दों की अपेक्षा वक्र या विलक्षण अर्थ प्रस्तुत करता है, इसी प्रकार के शब्द और अर्थ सहृदयों को आनंदित करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने कंतुक के मत का यह तर्क प्रस्तुत कर खण्डन किया कि अलंकार कनक कुंडलवत् होते हैं और वक्रोक्ति भी अलंकार है। अत: बाह्य तत्त्व होने के कारण वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) नहीं माना जा सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्ति' उपमा रूपक आदि की भाँति सामान्य अलंकार नहीं है, यह विशिष्ट अलंकार है क्योंकि इसमें वैचित्रय और सौंदर्य को व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है।

5. **आचार्य मम्मट** ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में काव्य लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

तद् दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि।

अर्थात् दोष-रहित, गुण-सहित और कहीं-कहीं अलंकार-रहित शब्दार्थ ही काव्य है। मम्मट द्वारा दी गई यह परिभाषा काव्यशास्त्र में बहुत लोकप्रिय है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य लक्षणों से कुछ तत्त्वों का अपने काव्य लक्षण में समन्वय किया है। आचार्य भामह के काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ' विद्यमान है किंतु मम्मट ने 'अदोषौ तथा सगुसौं' के द्वारा शब्दार्थ के वैशिष्टय को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य भोजराज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती कष्ठामरण' में 'निर्दोष गुणवत् काव्यम्' कहकर 'निर्दोषत्व' को काव्य का आवश्यक अंग माना।

TOUCH 'n' PASS

आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने किया। विश्वनाथ ने अदोषौं को यह कहकर अनुपयुक्त माना कि काव्य मानव रचित होता है. इसलिए उसमें मानव सुलभ दोष अवश्य रहेंगे। इस अवधारणा का भी खण्डन किया गया है क्योंकि काव्य में रस को हानि या न्यून करने वाले कारकों को दोष माना गया है। मम्मट का संकेत रसापकर्षक दोषों की ओर है, सामान्य दोषों की ओर नहीं। मम्मट मानते हैं कि शास्त्रीय दोषों के होने पर भी यदि काव्य सहृदयों को आनंदित करता है तो उसे (पोषयुक्त होने से) अकाव्य नहीं कहा जा सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ पद पर आपत्ति की है क्योंकि पंडितराज 'शब्द' को ही काव्य स्वीकार करते हैं, शब्दार्थ को नहीं। उन्होंने इस काव्य लक्षण के 'विशेष्य-शब्दार्थौं की आलोचना की है। वे मानते हैं कि काव्यत्व न तो शब्द और अर्थ दोनों में और न केवल शब्द या अर्थ में होता है अपितु काव्य तो केवल शब्दों में रहने वाला धर्म है। यदि काव्य को, शब्द और अर्थ दोनों में रहने वाला धर्म मानते हैं तो एक (काव्य) दो (शब्द और अर्थ) में होने से दो (काव्य) हो जाएगा जबकि 'एको न दौ' होने से यह पद्य है, काव्य नहीं- इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। यदि शब्द और अर्थ में अलग-अलग धर्म माने तो दुहरा काव्यत्व आ जाएगा। अत: न काव्य शब्दार्थ की समष्टि में रहता है और न व्यष्टि में अर्थात् पृथक्-पृथक रूप में अपितु केवल शब्द में काव्यत्व रहता है।

अनलंकृती पुनः क्वापि' अंश का अलंकारवादी आचार्य जयदेव ने प्रबल विरोध किया। उन्होंने तर्क देते हुए कहा कि अलंकार-शून्य का उष्णता रहित आग की भाँति व्यर्थ है। यह आक्षेप इसलिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि मम्मट के काव्य-लक्षण में रस (गुण) और अलंकार का पारस्परिक संबंध है।

6. **विश्वनाथ**—विश्वनाथ रसवादी आचार्य हैं, अत: उन्होंने अपने ग्रंथ 'साहित्य दर्पण' में रसपरक लक्षण प्रस्तुत किया—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' उनकी मान्यता है कि रस के अभाव में किसी भी रचना को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विश्वनाथ से कुछ पूर्व महिम भट्ट और चण्डीदास ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया था। विश्वनाथ ने शब्द या शब्दार्थ में काव्य को न मानकर रसात्मक वाक्य में काव्य की मान्यता दी। विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत यह काव्य-लक्षण संक्षिप्त, सुबोध और उपयुक्त है। इसमें 'वाक्य' से काव्य के बहिरंग स्वरूप का और 'रसात्मक' से अंतरंग स्वरूप (आत्मा) का सहजरूप में संकेत हो गया है। रसात्मक के 'रस' कहने से केवल शृंगार आदि रसों से अभिप्राय नहीं है अपितु सहृदयजन-आह्लादक रस, भाव, रसाभास, भावाभास, रसध्वनि आदि से है। यहाँ रसात्मक का तात्पर्य आह्लादन से है। कुछ आचार्यों और समीक्षकों ने विश्वनाथ के काव्य-लक्षण में अव्याप्ति दोष माना है तथा यह भी कहा है कि काव्य में सभी वाक्य रसात्मक नहीं होते तो इस परिभाषा के अनुसार उन वाक्यों की स्थिति क्या मानी जाएगी? अनेक आक्षेपों के बावजूद यह काव्य लक्षण बहुत लोकप्रिय है।
7. **पंडितराज जगन्नाथ** संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा के अंतिम मान्य आचार्य हैं। इनका सुप्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ रसगंगाधर है। इस ग्रंथ में उन्होंने काव्य-लक्षण का इस प्रकार उल्लेख किया है- रमणीयता प्रतिपादक: शब्द: काव्यम' अर्थात रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। 'रमणीयता' को वे 'लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञानगोचरता' (अनुभूति) मानते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि रमणीय अर्थ वह है, जिसके ज्ञान से या बार-बार अनुसंधान करने से लोकोत्तर (प्राय: लोक में अनुपलब्ध) आनंद की प्राप्ति होती है। पण्डितराज का 'रमणीयता' दण्डी के 'दृष्टार्थ', वामन के 'सौंदर्य' और कुंतक के 'लोकोत्तर' 'आह्लाद' का समानार्थी है- रमणीयता का संबंध काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों से है। पंडितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार मानी जा सकती हैं—परंपरागत 'शब्दार्थ' और 'वाक्य' को काव्य न मानकर 'शब्द' को काव्य माना गया क्योंकि काव्यत्व वाक्य (शब्द समूह) में ही नहीं अपितु शब्द मात्र में भी संभव है। 'रमणीयता' के अंतर्गत रस, अलंकार, गुण, निर्दोषत्व आदि का समावेश हो जाता है। पंडितराज के काव्य-लक्षण की आलोचना भी 'शब्द' और 'प्रतिपादन' को लेकर की गई है।

प्र.6. हिन्दी के प्रमुख कवियों, आलोचकों की काव्य-लक्षण सम्बन्धी अवधारणाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

हिंदी के प्रमुख कवियों-आलोचकों की काव्य-लक्षण संबंधी अवधारणाएँ

1. **रीतिकालीन कवियों की मान्यताएँ**—हिंदी के रीतिकाल से क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित काव्य शास्त्रीय चिंतन का प्रारंभ होता है जिस पर संस्कृत के लक्षण ग्रंथों का व्यापक प्रभाव है। अत: रीतिकाल को निरूपित काव्य-लक्षणों में मौलिकता का प्राय: अभाव है किंतु हिंदी के निजी काव्यशास्त्र की परंपरा के ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से उनकी काव्य-स्वरूप संबंधी मान्यताओं का अवलोकन-अनुशीलता उपयुक्त है।

TOUCH 'n PASS

चिंतामणि—रीतिकाल में काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करने वाले महत्त्वपूर्ण आचार्य चिंतामणि हैं। उनके पूर्व आचार्य केशवदास ने 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' लक्षण ग्रंथों की रचना की है जिनमें काव्य के अनेक उपकरणों-तत्त्वों का विवेचन है किंतु उन्होंने काव्य का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, अपितु अलंकारों के महत्त्व का विशेष उल्लेख किया है। चिंतामणि ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरु' में कविता का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होय।
शब्द अर्थ ताको कवित, बिबुध कहत सब कोय।।

चिंतामणि रसवादी आचार्य हैं। वे रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और शब्द-अर्थ को काव्य का शरीर तथा अलंकारों को आभूषण की संज्ञा देते हैं।

कुलपति मिश्र—कुलपति मिश्र का लक्षण ग्रंथ 'रस रहस्य' है। इसमें उन्होंने काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है। इनके काव्य-लक्षण का आधार मम्मट का 'काव्य प्रकाश' है—

दोष रहित अरूगुन सहित कछुक अल्प अलंकार।
सबद अरथ सो कदित है; ताको करो विचार।।

एक दूसरी काव्य-परिभाषा भी कुलपति ने दी है, जो समन्वयात्मक है। इसमें विश्वनाथ और पंडितराज के काव्य-लक्षणों का प्रभाव लक्षित होता है—

जग ते अद्‌भुत सुख सदन, सद अर्ब कवित्र।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहुचित्र।।

महाकवि देव—कवि देव ने अपने प्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ शब्द रसायन में समर्थ काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

शब्द सुमति मुख तें कढ़ें पद वचननि अर्थ।
कंद भाव भूषण सरस सों कहि काव्य समर्थ।।

देव ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—

अलंकार भूषम सुरस जीव छेद तन भाख।
तन भूषण हू बिन जिये बिन जीवन तन राख।।

2. **आधुनिक हिंदी आलोचकों के मत—बाबू श्यामसुंदर दास** का 'साहित्यालोचन' प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें उन्होंने साहित्य की आलोचना संबंधित विषयों की विवेचना की है। उनके काव्य-स्वरूप के विवेचन में पाश्चात्य साहित्य-चिंतन और भारतीय काव्य शास्त्रीय चिंतन का समन्वय लक्षित होता है। काव्य-लक्षण का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—'काव्यशब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। साहित्य दर्पणकार ने काव्य को 'रसात्मक वाक्य' बताया है अर्थात् काव्य के द्वारा पाठक अथवा श्रोता के चित्र में रस की उत्पत्ति का अर्थ है, आनंदपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है, यह परिभाषा 'रसगंगाधर' नामक ग्रंथ की है। 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक का आशय है सौंदर्य की सृष्टि करके पाठक तथा श्रोता के मन मे आनंद उत्पन्न करना.... अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय के अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार काव्य कला है और 'काव्य' साहित्य का समानार्थक है।'

बाबू श्यामसुदंर दास की इस काव्य-लक्षण संबंधी विवेचना में भारतीय और पाश्चात्य मतों का समन्वय है। उन्होंने प्राचीन संस्कृत आचार्यों विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षणों के अनुसार अलौकिक चमत्कार (आनंद) की सृष्टि करने के वैशिष्ट्य को काव्य का प्राण तत्त्व स्वीकार किया। वे पाश्चात्य चिंतन के आधार पर काव्य को कला मानते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल—आधुनिक काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी समीक्षा को सुव्यवस्थित और व्यापक रूप प्रदान किया। उनकी आलोचना में आत्मचिंतन के साथ भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चत्य साहित्यालोचन की प्रवृत्तियों का संतुलित समन्वय है। आचार्य शुक्ल रसवादी समीक्षक हैं। वे काव्य की आत्मा रस को ही मानते हैं। आचार्य शुक्ल काव्य-लक्षण संबंधी विचार उनकी कृतियों चिंतामणि-भाग एक' तथा 'रस मीमांसा' में विशेष रूप से मिलते हैं। 'कविता क्या है' निबंध में कविता की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।' (चिंतामणि भाग-2)। इस परिभाषा में आचार्य शुक्ल ने कविता को

TOUCH 'n' PASS

सामाजिक धरातल प्रदान किया है। साधारणीकरण की क्रिया या भाव योग से व्यक्ति अपनी निजी परिधि व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठकर सामान्य भाव भूमि पर आ जाता है। इसीलिए शुक्ल जी ने यह स्पष्ट किया है कि कविता मनुष्य के हृदय को उदात्त बनाती है। 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-बंधनों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है। जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के माध्यम से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है' (चिंतामणि-1)।

आचार्य शुक्ल भाव या अनुभूति को काव्य की मूल वस्तु मानते हैं, क्योंकि भाव के द्वारा ही मनुष्य मानवेतर प्राणियों और पदार्थों के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करता है। उन्होंने वैशिष्ट्य को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना भाव को। रस ही काव्य का मूल तत्त्व है, अभिव्यक्ति पक्ष या कलात्मकता उनकी दृष्टि में गौण है।

'काव्य में रहस्यवाद' निबंध में भी शुक्ल जी ने काव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।'

इसमें आचार्य शुक्ल काव्य को व्यक्त जगत की अभिव्यक्ति मानते हैं और यह व्यक्त जगत अव्यक्त (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति है। इसका आशय है कि काव्य का सीधा या प्रत्यक्ष संबंध जगत (जड़ और गतिशील-चेतन से है। आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित काव्य-स्वरूप अत्यधिक व्यापक है, अत: इसमें अतिव्याप्ति दिखाई देती है।

बाबू गुलाब राय द्विवेदी युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और समीक्षक थे। सिद्धांत और अध्ययन, साहित्य और समीक्षा, नव रस तथा काव्य के रूप उनके समीक्षा-ग्रंथ हैं। वे रसवादी समीक्षक हैं और उनकी समीक्षा में भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्वों का सहज समन्वय है। वे लिखते हैं कि मेरा दृष्टिकोण सदैव समन्वयात्मक रहा है इसीलिए आलोचना में भी समन्वयवादी है। काव्य-कला और साहित्योगों के विवेचन में मैंने इस पद्धति को अपनाया है। उनका काव्य-लक्षण इस प्रकार है—'काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान (किंतु क्षुद्र वैयक्तिक संबंधों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई, श्रेय की प्रेमरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।'

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि मानवतावादी है। उन्होंने साहित्य का मुख्य लक्ष्य मनुष्य को माना है। वे मनुष्य को मनुष्य बनाने में ही साहित्य की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। साहित्य वृहत्तर मानव-समाज से जुड़ा रहता है। जीवन से पृथक होकर साहित्य का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुत: जीवन से अलग होकर साहित्य वाग्विलास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी मान्यता इस प्रकार है—'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। (अशोक के फूल-निबंध संग्रह, पृ. 179)। साहित्य को आनंद का उच्छलन या अतिरेक मानते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं 'साहित्य मनुष्य के अंतर का उच्छलित आनंद है, जो उसके अंतर में अटाएँ नहीं आ सका था। साहित्य का मूल यही आनन्द का अतिरेक है। उच्छलित आनंद के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है' (*साहित्य का अर्थ*, पृ. 70)।

जयशंकर प्रसाद—छायावाद के सुप्रसिद्ध कवि, नाटककार और कथाकार हैं। वे एक प्रतिभावान चिंतक भी थे। काव्य के स्वरूप के संबंध में उन्होंने गंभीर एवं प्रौढ चिंतन किया है। उनकी कृति काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी रचनात्मक शान धारा है। आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चाहत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

प्रसाद की काव्य परिभाषा की मौलिकता यह है कि उन्होंने काव्य का संबंध मन से नहीं अपितु आत्मा से स्थापित किया है। इस काव्य-लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि काव्य रसात्मक या रसमीय शब्दार्थ मात्र न होकर आत्मा की अनुभूति है और जो विशुद्ध रूप में संकल्पात्मक है अर्थात् वहाँ विशेषय या विज्ञान जैसे बौद्धिक ऊहापोह के लिए स्थान नहीं है।

TOUCH 'n PASS

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'—प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय के काव्य चिंतन पर टी. एस. इलियट की निर्वैयाक्तिकता का प्रभाव दिखाई देता है। अज्ञेय काव्य को कला की साधना मानते हैं। काव्य के संबंध में उनके विचार इस प्रकार हैं—'काव्य-रचना मूलत: अपने को अपनी अनुभूति से पृथक् करने का प्रयत्न है अपने ही भावों के निर्व्यक्तिकरण की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म निवेदन है और सच होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य अभिधा के योग्य नहीं हैं- सर्वनवीनता की कसौटी पर वह खरा नहीं उतरता।' अज्ञेय यह स्वीकार करते हैं कि कलाकार या साहित्यकार को कला और समाज दोनों के प्रति दायित्व का निर्वहन करना होता है। उनका कथन महत्त्वपूर्ण है। 'कलाकार निरा व्यक्ति नहीं है, सामाजिक भी है और नि:स्संदेह उसका समाज के प्रति दायित्व है किंतु जो व्यक्ति और समाज का पचड़ा खड़ा करते हैं, वे भूल जाते हैं कि समाज के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है।'

इलियट की तरह अज्ञेय भी मानते हैं कि कविता अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं है अपितु अनुभूति से मुक्ति है। रस की स्थिति को वे काव्य रचना की चमत्कारिक तीव्रता में मानते हैं- 'काव्य का रस कवि में या कवि के जीवन में या वर्ण्यविषय अथवा अनुभूति में या किसी शब्द विशेष में नहीं, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है (त्रिशुंक)।'

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. आचार्य दण्डी किस शताब्दी में थे?
(क) 7वीं शताब्दी (ख) 9वीं शताब्दी (ग) 12वीं शताब्दी (घ) 16वीं शताब्दी
उत्तर (क) 7वीं शताब्दी

प्र.2. ''काव्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं को श्रेय को प्रेम देने वाली अभिव्यक्ति है।'' यह किसका कथन है?
(क) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (ख) बाबु गुलाब राय
(ग) आचार्य भामह (घ) आचार्य दण्डी
उत्तर (ख) बाबु गुलाब राय

प्र.3. वाणी की महत्ता का विवेचना करते हुए आचार्य दण्डी ने 'शब्द' को तीनों लोकों को क्या देने वाला बताया है?
(क) अमृत (ख) ज्ञान का प्रकाश (ग) अंधकार (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) ज्ञान का प्रकाश

प्र.4. 'स्वान्तः सुखाय' का क्या अर्थ है?
(क) आत्मसुख (ख) परसुख (ग) परमार्थ (घ) चिंतन
उत्तर (क) आत्मसुख

प्र.5. ''मैं यह मानता हूँ कि बसन्त का गुलाब और कवि का स्वप्न अपने मन में पूर्ण होता है, वह किसी को कुछ सिखलाने के लिए नहीं होता।'' यह कथन है–
(क) डॉ० नागेन्द्र (ख) हरिवंश राय बच्चन
(ग) निराला (घ) डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'
उत्तर (घ) डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'

प्र.6. भरतमुनि की रचना का नाम है–
(क) काव्य प्रकाश (ख) नाट्य शास्त्र (ग) काव्यालंकार (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) नाट्य शास्त्र

प्र.7. काव्य के ठीक-ठीक परिभाषा देना कठिन है क्योंकि यह ..... पदार्थ है।
(क) मूर्त (ख) अमूर्त (ग) दोनों (क) व (ख) (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) अमूर्त

प्र.8. काव्य प्रकाश के रचनाकार हैं–
(क) मम्मट (ख) भरतमुनि (ग) महादेवी वर्मा (घ) आचार्य भामह
उत्तर (क) मम्मट

TOUCH 'n PASS

प्र.9. किसने मम्मट के काव्य का खण्डन किया है?
(क) पण्डितराज (ख) विश्वनाथ (ग) आचार्य चिन्तामणि (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) विश्वनाथ

प्र.10. भरतमुनि ने काव्य लक्षण किस विद्या को दृष्टि में रखकर दिया है?
(क) रस (ख) अलंकार (ग) नाट्य (घ) उपन्यास
उत्तर (ग) नाट्य

प्र.11. काव्य सरोज के रचनाकार हैं–
(क) कुलपति (ख) श्रीपति (ग) भिखारी दास (घ) चिन्तामणि
उत्तर (ख) श्रीपति

प्र.12. किसके काव्य लक्षण में काव्य पुरुष की परिकल्पना की गई है?
(क) भिखारी दास (ख) चिन्तामणि (ग) कुलपति (घ) श्रीपति
उत्तर (क) भिखारी दास

प्र.13. ''सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम विधान कविता है।'' यह कथन किसका है?
(क) भरतमुनि (ख) आचार्य चिन्तामणि (ग) कॉलरिज (घ) अरस्तू
उत्तर (ग) कॉलरिज

प्र.14. कविता को प्रबल अनुभूतियों का सहज उच्छलन कौन मानता है?
(क) कीट्स (ख) अरस्तू (ग) कॉलरिज (घ) वर्डसवर्थ
उत्तर (घ) वर्डसवर्थ

प्र.15. निम्नलिखित में से किस समीक्षक ने रचना को पुनर्रचना कहा है?
(क) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) जॉनसन (घ) कीट्स
उत्तर (ख) अरस्तू

प्र.16. किसी कवि की वह शक्ति है, जिससे वह काव्य सृजन करता है, कहलाता है–
(क) काव्य लक्षण (ख) काव्य हेतु (ग) काव्य प्रयोजन (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) काव्य हेतु

प्र.17. निम्नलिखित में से आचार्य भामह की कृति कौन-सी है?
(क) काव्यादर्श (ख) काव्य प्रकाश (ग) ध्वन्यालोक (घ) काव्यालंकार
उत्तर (घ) काव्यालंकार

प्र.18. कवि का उपकार करने वाली प्रतिभा को कहते हैं–
(क) कारयित्ती (ख) भावयित्ती (ग) समाधि (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) कारयित्ती

प्र.19. काव्यशास्त्रीय परंपरा में उचित-अकुचित का विवेक कहलाता है–
(क) अभ्यास (ख) व्युत्पत्ति (ग) काव्य लक्षण (घ) काव्य प्रयोजन
उत्तर (ख) व्युत्पत्ति

TOUCH 'n' PASS

UNIT-II

भारतीय काव्य सिद्धान्त

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भारतीय काव्य शास्त्र क्या है?

उत्तर 'काव्यशास्त्र' काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य या साहित्य को उसके विभिन्न अवयवों की व्याख्या विभिन्न संप्रदायों और उनके संस्थापक आचार्यों द्वारा की गई है। भारतीय काव्यशास्त्र का आधार संस्कृत भाषा है। संस्कृत काव्यशास्त्र का आरंभ भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से माना जाता है।

प्र.2. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख कितने संप्रदाय हैं?

उत्तर यह बहुत महत्त्वपूर्ण काल था। इसमें साहित्यशास्त्र के रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय इन चारों मुख्य सम्प्रदायों के मौलिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस काल में उद्भट, रुद्रट, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन आदि प्रमुख आचार्य थे।

प्र.3. भारतीय काव्यशास्त्र के जनक कौन है?

उत्तर भारतीय काव्यशास्त्र (दिवि) भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा संस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर भरतमुनि को काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है। उनका समय लगभग 400 ईसापूर्व से 100 ईसापूर्व के मध्य समय माना जाता है। इस परंपरा के अंतिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ है। इनका समय 17वीं सदी है।

प्र.4. भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों के अनुसार काव्य के कौन-कौन से लक्षण हैं?

उत्तर अदोषता, रसवत्ता एवं रमणीयता—इन तीन विशिष्टताओं से युक्त लक्षण प्रस्तुत कर संस्कृत-आचार्यों ने काव्य में भाव, कला एवं बुद्धि का समाहार किया है।

प्र.5. भारतीय काव्यशास्त्र में कितनी काव्य वृत्तियाँ मानी गई हैं?

उत्तर आचार्य रुद्रट ने पाँच वृत्तियाँ मानी—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा।

प्र.6. रस की संख्या कितनी होती है?

उत्तर आधुनिक काव्य-शास्त्रियों के अनुसार रसों की संख्या 11 है।

प्र.7. रीति सिद्धांत से क्या तात्पर्य है?

उत्तर रीति सिद्धांत संपादित करें रीति शब्द का सामान्य अर्थ हैं—ढंग, शैली, प्रकार, मार्ग तथा प्रणाली। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। रीयते गम्यतेनेनेतिरीति अर्थात मार्ग जिसके द्वारा गमन किया जाए। रीति निरूपक आचार्यों में वामन की देन सर्वाधिक है. उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है।

प्र.8. रस की परिभाषा क्या है?

उत्तर रस का शाब्दिक अर्थ 'आनंद' होता है। कविता को पढ़ने अथवा नाटक को देखने में जो आनंद की अनुभूति होती है, उसे ही रस कहते हैं। पाठक या दर्शक के हृदय में स्थायी भाव ही विभावादि रूप से संयुक्त होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

प्र.9. विस्मय कौन-सा भाव है?

उत्तर 'विस्मय' स्थायी भाव अद्भूत रस में होता है। इसका स्थाई भाव विस्मय होता है। अद्भूत रस-जब किसी व्यक्ति के मन में अद्भुत या आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखकर विस्मय, आश्चर्य आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, तो वहाँ अद्भुत रस होता है। अद्भुत रस का स्थायी भाव आश्चर्य होता है।

प्र.10. अनुभाव कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर विशेष-अनुभाव के चार भेद हैं—सात्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य।

TOUCH 'n' PASS

प्र.11. आलंबन के कितने अंग होते हैं?

उत्तर आलंबन विभाव के दो पक्ष होते हैं, आश्रयालंबन व विषयालंबन। जिसके मन में भाव जगे वह आश्रयालंबन कहलाता है। जिसके प्रति या जिसके कारण मन में भाव जगे, वह विषयालंबन कहलाता है। उदाहरण- यदि राम के मन में सीता के प्रति रति का भाव जगता है तो राम आश्रय होंगे और सीता विषय।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. अलंकार की व्युत्पत्ति कैसे हुई?

उत्तर

अलंकार

सामान्यत: अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति अलम् शब्द में कृ धातु के योग से हुई है। अलम् शब्द का अर्थ पर्याप्त और कृ का अर्थ करना होता है। इस प्रकार अलंकार का अर्थपूर्ण अथवा 'पर्याप्त' करना हुआ। संस्कृत में 'अलम्' शब्द मूलत: पर्याप्त, अलंकृत और काव्य आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'पर्याप्त' अर्थ में 'अलम्' शब्द-समर्थ, उपयुक्त और योग्य आदि और अरंकृत के अर्थ में अलम् शब्द अलंकरिष्णु आदि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ था। काव्य अर्थ में अलम् शब्द-कवि मानस की लोकोत्तर अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ था।

वैयाकरणिकों के अनुसार, अलंकार शब्द के दो व्युत्पत्यर्थ हैं—

1. **अलंकरोतीति अलंकार**—अर्थात् जो सुशोभित करता है, वह अलंकार है।
2. **अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार**—अर्थात् जिसके द्वारा अन्य अलंकृत (सुशोभित) किया जाता है, वह अलंकार है।

इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्ति परक अर्थ में अलंकार 'कर्त्ता' अथवा 'विधायक' और द्वितीय अर्थ में अलंकार 'करण अथवा 'साधन' हुआ। ये दोनों व्युत्पत्तिपरक अर्थ अलंकार सिद्धांत के विकास क्रम को दर्शाते हैं। संस्कृत और हिंदी के अधिकांश आचार्य अलंकार के द्वितीय व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्वीकार करते हैं। हिंदी के आलोचक प्रवर डॉ० नगेंद्र का मत है—'अलंकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि में रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति अधिक संगत है। जिसके अनुसार, अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है।'

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन करने का श्रेय भरत को जाता है। उन्होंने अलंकार विवेचन में नाट्य की प्रवृत्ति के अनुरूप चार अलंकारों-उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया था। किंतु स्वतंत्र रूप में वे अलंकार के स्वरूप का विवेचन नहीं कर पाए।

प्र.2. रीति संप्रदाय से आप क्या समझते हैं?

उत्तर

रीति संप्रदाय

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन (8वीं शती) माने जाते हैं। यद्यपि रीति शब्द का काव्य-शास्त्र में प्रयोग वामन से पहले भी प्राप्त होता है पर उसका व्यवस्थित स्वरूप और विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम वामन ने ही प्रस्तुत की। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीड' धातु में 'ऋन्' प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका अर्थ है—मार्ग, पंथ, गति, शैली आदि। आचार्य वामन ने अपने साथ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में 'रीति' की परिभाषा देते हुए कहा है—

'विशिष्ट पद रचना रीति:'

अर्थात् यह विशिष्टता 'गुण' से आती है, अर्थात् काव्य से गुणात्मक पद रचना को रीति कहते हैं। गुणात्मकता से उनका अभिप्राय ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि काव्य गुणों से है।

उक्त विवेचन के आधार पर रीति की परिभाषा निम्न शब्दों में की जा सकती है—'प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति है।' इसीलिए रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय भी कहा जाता है।

आचार्य वामन ने 'गुणों' को विशेष महत्त्व दिया। उनके अनुसार 'गुण' काव्य के नित्य धर्म हैं, जिनकी अनुपस्थिति में काव्य का अस्तित्व असंभव है। गुणों को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हुए वे लिखते हैं—'काव्य शोभाया: कर्त्तारौ धर्मा: गुणा:।' अर्थात् गुण काव्य के शोभाकारक धर्म हैं। अलंकार को वे काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं, जो काव्य की शोभा को अतिशय करने वाला तत्त्व है। दूसरों शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वामन 'गुणों' की सत्ता को काव्य में अनिवार्य मानते हैं, किंतु अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते।

आचार्य दंडी अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हैं अत: यह कहना उचित होगा कि दंडी जिसे अलंकार कहते हैं, वामन उसी तत्त्व को गुण कहते हैं।

गुणों के भेद—आचार्य वामन के अनुसार गुण दो प्रकार के होते हैं—1. शब्दगत, 2. अर्थगत।

इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत दस-दस गुण हैं, जिनके नाम इस प्रकार है—1. ओज, 2. प्रसाद, 3. श्लेष, 4. समता, 5. समाधि, 6. माधुर्य, 7. सौकुमार्य, 8. उदारता, 9. अर्थव्यक्ति, 10. कांति।

TOUCH 'n PASS

इस प्रकार वामन ने कुल बीस गुण माने हैं, दस शब्दगत और दस अर्थगत।
वामन के परवर्ती आचार्यों ने गुणों की इस संख्या को स्वीकार नहीं किया। भोजराज ने 24 गुण बताए हैं जबकि आचार्य मम्मट ने गुणों की संख्या केवल तीन तक सीमित कर दी और इनके अंतर्गत माधुर्य, प्रसाद और ओज को ही स्वीकार किया। वामन द्वारा बताए हुए इन गुणों में अधिकांश काव्य तत्त्व निहित हैं। रीति इन गुणों से ही समन्वित है, जिससे उसका काव्य फलक अत्यंत व्यापक हो गया है। इस व्यापकता के कारण ही वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा—रीतिरात्मा काव्यस्य।

प्र.3. रीति के भेदों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

रीति के भेद

आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं—(1) वैदर्भी, (2) गौड़ी, (3) पाँचाली।
वामन के अनुसार, वैदर्भी रीति में सभी गुण रहते हैं, जबकि गौड़ी में केवल दो गुण ओज और कांति विद्यमान होते हैं। पाँचाली में भी केवल दो ही गुण माधुर्य और सौकुमार्य रहते हैं। इन तीनों रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार सांविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र।
वामन ने वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ माना है, क्योंकि इसमें सभी बीसों गुण विद्यमान रहते हैं। इसीलिए वे रीति को काव्य की आत्मा भी स्वीकार करते हैं।
वस्तुत: वामन ने वैदर्भी रीति में सभी गुणों का समावेश मानकर और इस प्रकार इसे सर्वगुण संपन्न कहकर बहुत बड़ी भूल की है। यह स्थिति काव्य में असंभव ही है, क्योंकि कोई भी रचना सर्वगुण संपन्न कदापि नहीं हो सकती। वामन के रीति सिद्धांत में सबसे बड़ी शिथिलता यही है। परवर्ती आचार्यों-आनंदवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने इसी आधार पर वामन की मान्यताओं का खंडन किया। यद्यपि वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता उन्होंने भी स्वीकार की, क्योंकि यह करुण और शृंगार जैसे सुकोमल रसों के बाह्य रूप का विधान करती है।
रीति का खंडन—रीति सिद्धांत का खंडन इसके प्रतिपादन के तुरंत बाद ही प्रारंभ हो गया था। आचार्य वामन के परवर्ती आचार्यों ने वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धांत का अनुमोदन एवं अनुकरण नहीं किया। कई आचार्यों ने तो वामन का उपहास तक किया है। उदाहरण के लिए—कुंतक ने रीति को व्यर्थ बताते हुए लिखा- 'तदलमनेन निस्सार वस्तु परिमल व्यसनेन।'
अर्थात् 'अजी' हटाओ भी, कौन रीति जैसी निस्सार वस्तु के साथ अपना मगज खपाये।'
इसी प्रकार ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन ने रीति का उपहार करते हुए लिखा—'जो लोग ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य तत्त्व को समझ सकने में असमर्थ हैं, उन्हीं लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत में रीतियाँ चला दी गई।'

प्र.4. रीति पर विभिन्न आचार्यों के मत पर उल्लेख कीजिए।

उत्तर

रीति पर विभिन्न आचार्यों के मत

रीति का खंडन करने पर भी परवर्ती आचार्यों ने रीति को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार अवश्य किया है-भले ही उसका नामकरण किसी और रूप में क्यों न किया हो। यहाँ हम कुछ प्रमुख आचार्यों के मत प्रस्तुत कर रहे हैं।

1. **आचार्य कुंतक का मत**—वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानने वाले आचार्य कुंतक ने रीति को उस अर्थ में स्वीकार नहीं किया जो वामन को अभिप्रेरित था। उन्होंने रीति को एक नई दिशा प्रदान की और उसे कवि के स्वभाव से संबंध माना। उन्होंने रीति के लिए नए नाम सुझाए, जो निम्न हैं—
   (i) सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति)
   (ii) विचित्र मार्ग (गौड़ी रीति)
   (iii) मध्यम मार्ग (पाँचाली रीति)
   इस प्रकार यह कहना असंगत न होगा कि कुंतक भी रीति की उपेक्षा न कर सके ओर यत्किंचित रूप में उसके महत्त्व को भी उन्होंने स्वीकार किया। वे रीति को 'मार्ग' कहते हैं।
2. **मम्मट द्वारा रीति विवेचन**—आचार्य मम्मट ने रीति को वृत्ति का पर्याय मानते हुए इसे वृत्यानुप्रास नामक शब्दालंकार के अंतर्गत निरूपित किया और वामन के द्वारा निर्दिष्ट गुणों का निर्ममतापूर्ण खंडन किया। उन्होंने वृत्ति की निम्न परिभाषा की: 'वृत्ति: नियतवर्णगतोरसविषयोव्यापार:'।
   अर्थात् 'नियत वर्णों का रस विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) है।' उन्होंने तीन वृत्तियों और तीन गुणों को स्वीकार किया है।
   (i) **उपनागरिका वृत्ति**—जिसे वामन ने वैदर्भी रीति कहा है, उसे ही मम्मट ने उपनागरिका वृत्ति की संज्ञा प्रदान की है। यह माधुर्य गुण से युक्त होती है और शृंगार, करुण आदि कोमल रसों का उपकार करती है।

TOUCH 'n PASS

(ii) **पुरुषा वृत्ति**—ओज गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना की मम्मट ने पुरुषा वृत्ति कहा है। इसे वामन के अनुसार, गौड़ी रीति कहा गया है। यह वीर, रौद्र आदि कठोर रसों का उपकार करती है।

(iii) **कोमला वृत्ति**—प्रसाद गुण से युक्त रचना के पाँचाली रीति या कोमला वृत्ति की संज्ञा प्रदान की गई है।

3. **आचार्य विश्वनाथ द्वारा किया गया रीति विवेचन**—साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने रीति को 'पद संघटना' का नाम दिया, पर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार, 'पद संघटना रीति: अंग संस्था विशेषवत् उपकर्त्री रसादीनाम्।'

अर्थात् ' रीति तो पद संघटना मात्र है, वह काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व नहीं है। केवल शरीर के अंगों की बनावट के समान शब्दार्थ रूप काव्य शरीर का उपकार करती हुई काव्य की आत्मा रस का प्रकारांतर से उपकार कर देती है।'

आनंदवर्धन—आनंदवर्धन ने भी रीति पर विचार किया है और पद संघटना का नाम देकर प्रसाद गुण से मुक्त माना है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्यों ने वामन के रीति सिद्धांत को पूर्णत: स्वीकार तो नहीं किया पर वे उसकी नितांत उपेक्षा भी न कर सके।

प्र.5. रीति का महत्त्व बताइए।

उत्तर

रीति का महत्त्व

रीति भले ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व न हो, पर उसका महत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य है।

रीति का महत्त्व

1. अलंकार संप्रदाय की अपेखा रीति संप्रदाय अधिक विकसित संप्रदाय है।
2. काव्य का मूल रूप क्या है? इसका विवेचन रीति संप्रदाय में अधिक तार्किकता से किया गया है।
3. वामन ने रीति संप्रदाय के अंतर्गत गुणों के विवेचन द्वारा अलंकार से उनका पार्थक्य दिखलाया। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
4. अलंकार संप्रदाय की अपेक्षा इस संप्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य में बहिरंग साधन मानते हैं, जबकि वामन ने रीति विवेचन के द्वारा रस को काव्य के अंतरंग धर्मों में गिना और इस प्रकार की महत्ता स्पष्ट की वामन रस को कांति नामक अर्थगत गुण के अंतर्गत मानते हैं।
5. पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में रीति को 'शैली' (Style) कहा गया और इसे काव्य के चार तत्त्वों में से एक माना गया। इस शैली तत्त्व को वे लेखक के व्यक्तित्व से संबंधित मानते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भले ही रीति को काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व या प्राणतत्व न माना जाए, किंतु रीति संप्रदाय का काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्र.6. रस सिद्धान्त से क्या अभिप्राय है? इस सिद्धान्त पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर

रस सिद्धांत

रस के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि हैं। यद्यपि राजशेखर ने भरत को रूपक और नंदिकेश्वर को रस आदि निरूपक आचार्य माना है—

रूपक, निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिक नंदिकेश्वरः। —*काव्य मीमांसा*

किंतु साक्ष्यों के अभाव में आचार्य भरत ही रस सिद्धांत के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं, क्योंकि काव्यशास्त्र के उपलब्ध प्राचीनतम भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में सर्वप्रथम शास्त्रीय और व्यापक रूप में रूपकों और रस का विवेचन-विश्लेषण मिलता है। रस विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय शब्द है। किंतु वैदिक ग्रंथों में काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व रस शब्द अनेक अर्थों में व्यापकता के साथ प्रयुक्त हुआ है। अत: प्रयोग की दृष्टि से रस शब्द भारतीय वाङ्मय का प्राचीन शब्द है। रस सर्वप्रथम वैदिक ग्रंथ ऋग्वेद में पदार्थों के सारभूत द्रव, दूध, जल और सोम रस के लिए प्रयुक्त हुआ था, जैसे—

1. *महे यात्पित्रुई रसं दिवे करवत्सवरत्.....(पदार्थों के साभूत द्रव)*—ऋग्वेद, 1/71/5
2. *यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां वस्तनूनाम्* (दूध और जल)—ऋग्वेद, 7/104/10
3. *सोमो अर्वति धर्ष सिर्दधान इंद्रियं रसम्। सूवीरो अभिशास्तियाः।*—ऋग्वेद, 9/6/6

TOUCH 'n' PASS

वस्तुत: स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त रस शब्द-विशिष्ट आस्वाद अथवा आह्लाद का प्रतीक है साथ ही वे रस के अर्थ विकास को स्पष्टत: प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में प्रयुक्त रस शब्द उसके अर्थ विकास को स्पष्ट करते हुए रस आत्मानंद का वाचक बन जाता है—

आकोमो धीरो अमृत: स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोन:।
तमेव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।। —अथर्ववेद, 10/5/44

इसी प्रकार उपनिषदों में 'रस' शब्द बहुलता के साथ प्रयुक्त हुआ है। वेदों के अर्थ विकास के क्रम में उपनिषदों में रस द्रव्य की पोषक शक्ति, आस्वाद, ऊर्जा और आह्लाद आदि विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेत:। तेतस: पुरुष: स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:। तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/1

इतना ही नहीं उपनिषदों में रस अलौकिक अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इसका स्पष्ट आख्यान छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है—

मनोमय: प्राणशरीरो भारूप: सत्य संकल्प आकाक्षात्मक सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:....।
—छान्दोग्य उपनिषद्, 2/7

इसीलिए जीव इसको पाकर आनंद की अनुभूति करता है—

रसो वै स:। रसं ह्येवायलब्ध्वानन्दी भवती।। —तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/7

वस्तुत: वेद, उपनिषद् आदि ग्रंथों के अनुशीलन से निष्कर्ष निकलता है कि काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व रस शब्द का पर्याप्त अर्थ विकास हो चुका था। इतना ही नहीं वैदिक साहित्य में रस शब्द का प्रयोग शृंगार आदि साहित्य के रसों के लिए भी मिलता है। इसलिए रस सिद्धांत के प्रवर्तक भरत का स्पष्ट मत है कि नाट्यशास्त्र नामक इस पंचमवेद में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से नृत्य और संगीत, यजुर्वेद से अभिनव और अथर्ववेद से रस तत्त्व लिया गया है—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानभर्वणादपि? —नाट्यशास्त्र, 1/17

रस के संबंध में भरत मुनि का सिद्धांत सर्वप्रथम मान्य हुआ, पर अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में उसकी चर्चा की है। दंडी में अपने 'काव्यादर्श' में रस का विवेचन किया है। वामन ने उसे कांति गुण का मूल तत्त्व माना है-दीप्ति रसत्व कांति:। रुद्रट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने रस को ध्वनि का प्रधान अंग कहा है। अभिनव गुप्त ने रस की विशेष व्याख्या की। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस की प्राण सत्ता माना है। रसवत् को अलंकार मानने वाले आचार्यों में भामह से लेकर उद्भट तक ऐसा मानते हुए भी परोक्ष रूप से रस की अलंकार का मूल तत्त्व है, ऐसे संकेत उभरते हैं। रसवत् अलंकार के रूप में मान्य नहीं हुआ और इस प्रकार रस की स्वतंत्र सत्ता बनी रही।

प्र.7. ध्वनी का अर्थ और स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

ध्वनि का अर्थ और स्वरूप

ध्वनि का अर्थ और स्वरूप—आनंदवर्धन के अनुसार, 'जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान को प्रकाशित करता है उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि काव्य कहा है।'

इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) का होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना भी आवश्यक है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ व्ययार्थ प्रमुख हो और वाच्यार्थ गौण हो वहीं ध्वनि मानी जा सकती है। उदाहरण के लिए यह दोहा देखिए—

माली आवत देख के कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुन लई काल हमारी बार?

यहाँ 'माली और 'कली' वाला अर्थ वाच्यार्थ है जो गौण है जबकि जीवन की क्षणभंगुरता को व्यंजित करने वाला अर्थ 'व्यंग्यार्थ' है और वही प्रमुख भी है। व्यंग्यार्थ की प्रमुखता के कारण यह ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

आनंदवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं—(1) ध्वनि काव्य, (2) गुणीभूत व्यंग्य काव्य, (3) चित्र काव्य।

जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सुंदर हो वहाँ ध्वनि काव्य होता है। जहाँ वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ कम सुंदर है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है और जहाँ केवल वाच्यार्थ होता है उसे चित्र काव्य कहते हैं। इन तीनों प्रकार के काव्यों को उन्होंने क्रमश: उत्तम, मध्यम और अधम कोटि का काव्य माना है।

प्रतीयमान अर्थ—काव्यशास्त्र में तीन शब्द शक्तियों का उल्लेख किया गया है: अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से व्यंजना का संबंध ध्वनि से है। व्यंजना वह शब्द शक्ति है जो मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर काव्य के वास्तविक लवण्य को व्यक्त करती है।

TOUCH 'n PASS

व्यंजना से व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है। आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की प्रशंसा करते हुए इसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। उनके अनुसार—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वसत्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।।

अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अव्यवों (मुख, नेत्र आदि) से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में भाषित होता है।'

प्र.8. ध्वनि संप्रदाय के विकास पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

ध्वनि संप्रदाय का विकास

1. **आनंदवर्धन**—यद्यपि आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में इस बात को स्वीकार किया है कि ध्वनि सिद्धांत की परंपरा उनसे पहले भी वर्तमान थी, किंतु उसके पुष्ट प्रमाण न मिलने के कारण हम आनंदवर्धन को ही ध्वनि सिद्धांत का प्रथम आचार्य मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक में ध्वनि सिद्धांत का विस्तृत विवेचन करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया।

   व्यंजना को ध्वनि का आधारभूत तत्त्व मानते हुए आनंदवर्धन ने व्यंजना के मूल मे अभिधा और लक्षण दोनों शब्द शक्तियों को माना है और इसी आधार पर उन्होंने ध्वनि के दो भेद किए हैं।

   अभिधामूला ध्वनि और लक्ष्णामूला ध्वनि। आनंदवर्धन अलंकार, रस, रीति, आदि सभी के मूल में ध्वनि को ही स्वीकार करते हैं और ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य मानते हैं।

2. **अभिनव गुप्त**—'अभिनव गुप्त' ने ध्वन्यालोक की टीका 'ध्वन्यालोक लोचन' नाम से लिखी जो अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुई है। इस ग्रंथ के द्वारा उन्होंने ध्वनि सिद्धांत को पल्लवित और विकसित किया और इस बात को स्पष्ट किया है। ध्वनिवादियों की व्यंजनाशक्ति ही रस की अभिव्यक्ति कर सकती है क्योंकि रस भात आदि का बोध व्यंग्य रूप में ही हुआ करता है। अपने इस विवेचन द्वारा अभिनव गुप्त ने रस सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत को परस्पर प्रगाढ़ रूप से संबंध कर दिया। अभिनव गुप्त मूलत: रसवादी आचार्य थे। रस की सम्यक् पुष्टि के लिए उन्होंने ध्वनि सिद्धांत को महत्त्व प्रदान किया और सिद्ध किया कि रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। दूसरे शब्दों में वे ध्वनि सौंदर्य से युक्त रसात्मक काव्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

3. **मम्मट**—मम्मट का काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे एक सुलझे हुए प्रतिभाशाली आचार्य थे। यद्यपि उन्हें रसवादी आचार्य माना जाता है तथापि वे ध्वनि सिद्धांत के भी प्रबल पक्षधर थे। ध्वनि सिद्धांत के विरोधियों ने ध्वनि के विरोध में जो तर्क दिए थे मम्मट ने उनका विद्वत्तापूर्ण ढंग से खंडन किया और इस प्रकार ध्वनि सिद्धांत को सुदृढ़ आधार प्रदान किया इसीलिए मम्मट को 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' कहा जाता है। मम्मट ने व्यंजना शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया और ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं में एकरूपता लाने का ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया।

   ध्वनि विरोधी आचार्य—ध्वनि विरोधी आचार्यों में प्रमुख हैं मुकुट भट्ट, प्रतिहारेंदुराज, भट्ट नायक, कुंतक, धनंजय और महिम भट्ट।

   मुकुल भट्ट केवल अभिधा शक्ति को ही स्वीकार करते थे, जबकि प्रतिहारेंदुराज ने अलंकार अंतर्गत ही ध्वनि को इसी प्रकार भट्ट नायक ने भी भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना कर व्यंजना को स्वीकार नहीं किया। महिम भट्ट ने ध्वनि सिद्धांत का विरोध करने के लिए 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रंथ की रचना की।

   उनकी मान्यता है कि ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु वह अनुमान का ही एक भेद है। ध्वन्यालोक में ध्वनि के जो उदाहरण दिए गए है उन्हें महिम भट्ट ने 'अनुमान' सिद्ध किया है। महिमा भट्ट की मान्यता है कि प्रतीयमान अर्थ तो अनुमान पर आधारित होता है और अनुमान के आधार पर किसी भी कथा के अनेक अर्थ हो सकते हैं फिर इन अनुमानित अर्थों को प्रमुख कैसे माना जा सकता है यही कारण है कि वे अभिधा को ही स्वीकार करते हैं और ध्वनि का खंडन करते हैं।

प्र.9. ध्वनि के भेदों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

ध्वनि के भेद

ध्वनि के सामान्यत: दो भेद किए गए हैं—

1. अभिधामूला ध्वनि 2. लक्षणामूला ध्वनि

TOUCH 'n' PASS

अभिधामूला ध्वनि में अभिधेयार्थ से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, जबकि लक्षणामूला ध्वनि में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधामूला ध्वनि को पुनः दो वर्गों में बाँटा गया है—

(क) असंलक्ष्य क्रम ध्वनि

(ख) संलक्ष्य क्रम ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ के साथ-साथ ही व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, दोनों के बीच समय का अंतराल प्रतीत नहीं होता, वहाँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है, जबकि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में समय का अंतराल होने पर संलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है।

आनंदवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद दिए हैं—रसध्वनि, अलंकारध्वनि, वस्तुध्वनि। इनमें से रसध्वनि को ध्वनि संप्रदाय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। ध्वनिवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि 'रस' श्रेष्ठतम काव्य तत्त्व है, पर वे काव्य की आत्मा पद पर 'ध्वनि' को ही प्रतिष्ठित करते हैं।

वस्तुतः ध्वनि के सैंकड़ों भेदोपभेद किए गए जिससे यह संप्रदाय अत्यंत व्यापक रूप से विचार-विमर्श का विषय बना।

काव्य की आत्मा 'ध्वनि'—ध्वनि सिद्धांत निश्चय ही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति सिद्धांतों से अधिक व्यापक है तथा इसका विवेचन भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किया गया है। ध्वनि को काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार करते हुए ध्वनि संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन कहते हैं।

'काव्यस्य आत्मा ध्वनिरितिः'

अर्थात् 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' अन्य आचार्यों ने ध्वनि को रस व्यंजना का माध्यम मात्र माना है, वे ध्वनि के स्थान पर 'रस' को वरीयता देते हैं। वस्तुतः ध्वनि सिद्धांत ने रस सिद्धांत के रहस्य को खोल दिया, अतः इसे रस सिद्धांत का पूरक ही कहना चाहिए। आनन्दवर्धन ने भी 'रसध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ माना है। इस प्रकार वे भी रस के महत्त्व को नकार नहीं सके। अभिनव गुप्त ने तो रस और ध्वनि का ऐसा संबंध किया है कि परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि युक्त सरस काव्य को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। ध्वनि द्वारा रस की ही व्यंजना की जाती है, अतः काव्य की आत्मा तो रस ही है, तो ध्वनि उसके साधिका अवश्य मानी जा सकती है।

प्र.10. वक्रोक्ति संप्रदाय से आप क्या समझते हैं? इसकी अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

वक्रोक्ति संप्रदाय

वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य कुंतक को है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में वक्रोक्ति को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे काव्य की आत्मा कहा। काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग कुंतक से पहले भी उपलब्ध होता है, पर यह उस अर्थ में नहीं मिलता, जिस अर्थ में कुंतक ने इसका प्रयोग किया है। **वक्रोक्ति का अर्थ**-वक्रोक्ति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है-वक्र + उचित। वक्र का अर्थ है-कुटिल या विलक्षण और उक्ति का अर्थ है-कथन। अतः वक्रोक्ति से अभिप्राय है बाकपन या विलक्षता से भरा हुआ कथन। किसी बात को सामान्य ढंग से व्यक्त करने में सरसता नहीं आती, अतः उसे चमत्कारिक ढंग से या विलक्षणता से कहना ही वक्रोक्ति है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए छवि सामान्य मनुष्यों द्वारा अपनाए गए मार्गों से भिन्न विलक्षणता या वक्रता का आश्रय लेता है कथन की यह विलक्षण भंगिमा ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति की अवधारणा

वक्रोक्ति का इतिहास—काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का प्रयोग आरंभ से ही होता रहा है। भामह, दंडी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति का निरूपण करने का प्रयास किया है।

भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्यायवाची स्वीकार करते हैं। उन्होंने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को ही स्वीकार किया है।

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नो अस्याँ कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना?'

इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया और सभी अलंकारों के मूल में इस वक्रोक्ति को स्वीकार किया। वक्रोक्ति की परिभाषा उन्होंने निम्न शब्दों में दी—'लोकातिक्रांतगोचरं वचनम्'

अर्थात् 'लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्न उक्ति ही वक्रोक्ति है। भामह अलंकारवादी आचार्य करते थे। तथा इन अलंकारों में वक्रोक्ति की अनिवार्यता भी मानते थे। उनका मत था कि वक्रोक्ति की अनिवार्यता भी मानते थे। उनका मत था कि।

आचार्य दंडी ने काव्य को दो भागों में विभक्त किया—(1) स्वभावोक्ति और (2) वक्रोक्ति। वक्रोक्ति को वे अर्थालंकारों का सामूहिक रूप मानते हैं और श्लेष इस वक्रोक्ति के सौंदर्य में वृद्धि करता है। आगे चलकर वक्रोक्ति की सीमा संकुचित होती गई और आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को एक-दूसरे ही रूप में स्वीकार किया। उन्होंने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में से एक विशेष अलंकार माना है और इसकी निम्न परिभाषा दी है—'नादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः।'

TOUCH 'n PASS

अर्थात् सादृश्य पर आश्रित लक्षणा (गौणी लक्षणा) ही वक्रोक्ति है, पर वामन के मत को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। अलंकारवादी आचार्यों ने इसे एक अंलकार विशेष ही माना और इस प्रकार इसे संकुचित अर्थ ही प्रदान किया आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मानकर इसके दो भेद किए—(1) काकु वक्रोक्ति (2) श्लेष वक्रोक्ति।

ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को पुनः महत्त्व प्रदान किया और इसे समग्र अलंकारों का मूल तत्त्व स्वीकार किया। संक्षेप में कुंतक से पहले वक्रोक्ति का यही स्वरूप था।

कुंतक द्वारा वक्रोक्ति विवेचन—आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्त्व की विशद व्याख्या की है और इसे काव्य का प्राण तत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा।

'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्'

अर्थात् वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं-'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते।' अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण विचित्र उक्ति ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्यय का अर्थ है—विलक्षणता, भंगी का तात्पर्य है—भंगिमा और भणिति का अर्थ है—कथन। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ—कथन की वह भंगिमा, जो विलक्षणता से युक्त हो। कुंतक ने वक्रोक्ति के लिए काव्य में तीन बातों की आवश्यकता मानी है। 1. कवि कौशल, 2. चमत्कार, 3. उक्ति।

वक्रोक्ति का सौंदर्य शब्द और अर्थ दोनों में निहित होता है अर्थात् उक्ति की विचित्रता शब्द में भी होती है और अर्थ में भी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं और उनको अलंकृत करने वाला तत्त्व वक्रोक्ति है।

प्र.11. वक्रोक्ति के भेदों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

वक्रोक्ति के भेद

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति के छह भेद माने हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं—

1. वर्ण विन्यास वक्रता
2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता
3. पद-परार्द्ध वक्रता
4. वाक्य वक्रता
5. प्रकरण वक्रता
6. प्रबंध वक्रता।

1. **वर्ण-विन्यास वक्रता**—व्यंजन वर्णों की ऐसी व्यवस्था एवं विन्यास जिससे सौंदर्य का विधान हो, वर्ण-विन्यास वक्रता कहलाती है। यमक और अनुप्रास अलंकार इसी के अंतर्गत आते हैं। वर्णों की कर्णप्रियता एवं बार-बार आवृत्ति भी इसी वक्रता का परिणाम है।
2. **पद पूर्वार्द्ध वक्रता**—पद से तात्पर्य सविभक्तिक शब्द से है। पद के दो भाग किए जा सकते हैं—(1) प्रकृति, (2) प्रत्यय। प्रकृति पद का पूर्वार्द्ध होती है और प्रत्यय पद का परार्द्ध। वह वक्रता, जो पद के पूर्वार्द्ध (अर्थात् प्रकृति) पर आधारित होती है। पद पूर्वार्द्ध वक्रता कहलाती है। इसे प्रकृति वक्रता भी कहते हैं। कुंतक ने इसके नौ भेद माने हैं। यह वक्रता लिंग, क्रिया, भाव, वृत्ति, विशेषण, उपचार आदि पर आधारित होती है।
3. **पद परार्द्ध वक्रता**—पद के परार्द्ध में 'प्रत्यय' रहता है। यह वक्रता इसी भाग में स्थापित की जाती है। इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। इसके आठ भेद होते हैं—(1) काल वैचित्र्य वक्रता, (2) कारक वक्रता, (3) संख्या वक्रता, (4) पुरुष वक्रता, (5) उपग्रह वक्रता, (6) प्रत्यय वक्रता, (7) उपसर्ग वक्रता, (8) निपात वक्रता।
4. **वाक्य वक्रता**—वाक्य वक्रता को वस्तु वक्रता या वाच्य वक्रता भी कहते हैं। यह कवि की प्रतिभा पर आश्रित होती है। अतः यह वक्रता भी विविध रूप में पाई जाती है। कुंतक ने इसके अंतर्गत अलंकारों का विवेचन किया है। अलंकारों में वे चारुत्व के अतिरिक्त वैचित्र्य और कवि प्रतिभा को भी विशेष महत्त्व देते हैं।
5. **प्रकरण वक्रता**—वाक्यों के संयोग से प्रकरण बनता है। एक प्रबंध काव्य में अनेक प्रकरण होते हैं। इन प्रकरणों या प्रसंगों को औचित्यपूर्ण तथा प्रभावशाली बनाना ही प्रकरण वक्रता का प्रयोजन है। अनेक लालित्यपूर्ण और सरस प्रसंगों से प्रकरण में सौंदर्य का समावेश किया जाता है। यह वक्रता भी कवि की कुशलता पर निर्भर है। इसके नौ भेद बताए गए हैं।
6. **प्रबंध वक्रता**—जब संपूर्ण प्रबंध में वक्रता होती है, तब उसे प्रबंध वक्रता कहते हैं। प्रबंध वक्रता के अंतर्गत प्रबंधात्मक काव्य रूपों का वस्तु कौशल अपेक्षित होता है। प्रबंध का योग सर्वाधिक व्यापक है और सभी प्रकार की वक्रताओं का सहयोग इसमें अपेक्षित होता है। कुंतक ने इसके छः भेद किए हैं।

प्र.12. वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद का उल्लेख कीजिए। इसका महत्त्व भी दीजिए।

उत्तर

वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत का विलायती उत्थान बताया है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में अभिव्यंजनावाद पर विचार करने का श्रेय इटली के विद्वान 'क्रोचे' (Croce) को है। क्रोचे की मान्यता थी कि

TOUCH n PASS

कला का संबंध स्वयं प्रकार ज्ञान (Intution) से है, जबकि कुंतक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से संबंधित मानते हैं। क्रोचे ने उक्ति की सहजता और स्वभाविकता में काव्य का सौंदर्य माना है, जबकि कुंतक वक्रता या विचित्रता, को ही सौंदर्य का मूल आधार स्वीकार करते हैं। क्रोचे ने मानसिक अभिव्यंजना को प्रमुख माना है। तथा वाच्य अभिव्यक्ति उनके लिए गौण है। जबकि कुंतक ने वाच्य (शाब्दिक) अभिव्यक्ति की ही चर्चा की है। उन्होंने क्रोचे की तरह मानसिक अभिव्यक्ति की ही चर्चा की है। वे क्रोचे की तरह मानसिक अभिव्यक्ति की कल्पना नहीं करते।

इसके अतिरिक्त इन दोनों सिद्धांतों में एक बहुत बड़ा अंतर यह भी है कि क्रोचे केवल की आत्मतुष्टि को ही काव्य का लक्ष्य मानता है, जो मानसिक अभिव्यक्ति से पूरा हो जाता है। जबकि कुंतक इसके स्थान पर सहृदय के मन ने वक्रोक्ति को प्रसन्नता प्रदान करना काव्य का लक्ष्य स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि डॉ० गणपति चंद्र गुप्त ने वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद को अलग-अलग माना है और वे इस संबंध में शुक्ल जी के मत से सहमत नहीं है।

आगे चलकर डॉ० नगेंद्र ने अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में कुछ साम्य भी खोजा है, जो निम्नलिखित है—

1. दोनों सिद्धांत अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण तत्त्व मानते हैं।
2. दोनों ने काव्य में कल्पना तत्त्व को प्रमुखता दी है।
3. दोनों ही मूलत: उक्ति को अखंड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं।
4. दोनों ने ही अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।
5. दोनों की सफल अभिव्यंजना अथवा सौंदर्य अभिव्यंजना में श्रेणियाँ स्वीकार नहीं करते।

वक्रोक्ति सिद्धांत का महत्त्व—यद्यपि वक्रोक्ति सिद्धांत का अधिक प्रचार काव्यशास्त्र में न हो सका, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। वक्रोक्ति में व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्व प्रचलित सिद्धांतों का थोड़ा बहुत समन्वय हो जाता है वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों पर दृष्टिपात करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि कौशल और काव्य-सौंदर्य दोनों ही वक्रोक्ति में समाहित हैं। वस्तुत: इस सिद्धांत को अधिक मान्यता इसलिए नहीं मिली कि यह काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता, जैसी कि रस सिद्धांत करता है। दूसरे, यह सिद्धांत किंचित् बाद में सामने आया। इससे पहले रस, अलंकार, ध्वनि, रीति आदि पर विचार किया जा चुका था और काव्यशास्त्र में इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अत: नए सिद्धांत को स्वीकार करने में लोगों ने अरुचि दिखाई। तीसरा कारण यह भी है कि वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का वर्गीकरण अस्पष्ट एवं जटिल हो गया है. अत: यह सिद्धांत लोकप्रियता प्राप्त न कर सका।

कुछ भी हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि वक्रोक्ति सिद्धांत आचार्य कुंतक की अद्‌भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिंतन में उद्‌भूत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

प्र.13. औचित्य के अर्थ एवं अवधारणा पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

औचित्य की अवधारणा

औचित्य का अर्थ है उपयुक्त सामंजस्य। भारत के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने औचित्य पर ध्यान दिया है। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने काव्य के प्राणभूत रस के साथ औचित्य का घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के बारे में कहा है कि उचित का भाव ही औचित्य है।

औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले आचार्य क्षेमेंद्र थे। यद्यपि मूलत: क्षेमेंद्र ध्वनिवादी आचार्य थे, परंतु उन्होंने अपने ग्रंथ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को व्यापक काव्य तत्त्व में रूप में प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

'औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'

अर्थात् रस से सिद्ध काव्य पर स्थिर जीवित (प्राणतत) औचित्य है। रस की सत्ता होने पर ही काव्य सिद्ध होता है और तब उस समय स्थिर जीवन के रूप में औचित्य का जन्म होता है, अर्थात औचित्य के बिना रस की सत्ता संभव ही नहीं है रस को स्थिर जीवनी-शक्ति प्रदान करने वाला तत्त्व औचित्य है, अत: वही काव्य का प्राण तत्त्व है। क्षेमेंद्र से पूर्व भी आचार्यों ने औचित्य पर विचार किया है, परंतु उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेंद्र को ही है। भरत मुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में नायक के स्वरूप, अभिनय, वेशभूषा आदि के लिए औचित्य की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है—

वयोऽनुरूप: प्रथमस्तु वेषो वेषोनुरूपश्च गति: प्रचार:।
गति प्रचारनुगतं च पाठ्यं पाठयानुरूपोऽभिनयश्च कार्य:॥

अर्थात् आयु के अनुसार वेश, वेश के अनुरूप क्रिया, गति प्रचार के अनुरूप पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए। औचित्य का ध्यान न रखने से उपहास होता है। भरत का निम्न श्लोक इस प्रसंग में बड़ा सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेषश्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बंधे च हास्यायेवोपजायते॥

अर्थात् जो जिस देश का वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है, उससे भिन्न देश या अंग में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई करधनी को गले में पहन ले तो वह उपहास का ही पात्र होगा।

वस्तुत: औचित्य का अर्थ है उपयुक्त सामंजस्य रस इस सामंजस्य या संतुलन का नियामक है तथा इसका महत्त्व न केवल काव्य गति जगत में अपितु व्यावहारिक जगत में भी है।

देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप औचित्यपूर्ण व्यवहार ही सदाचार कहा जाता है।

सौंदर्य एवं कला के क्षेत्र में भी औचित्य का विशेष महत्त्व है। भरत के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी बाद में औचित्य पर ध्यान दिया। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने काव्य के प्राणभूत रस के साथ औचित्य का घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है।

अनौचित्याद् ऋते नान्यद रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबंधतु रसस्योनिषत्पर।।

अर्थात् अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण ही नहीं है और औचित्य ही रस का रहस्य है। वस्तुत: क्षेमेंद्र ने औचित्य विवेचना का मूल आधार भरत और आनंदवर्धन के मत को ही बनाया है और उन्हीं से सामग्री ग्रहण की है।

आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—

उचितं प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य चयो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे उचित कहा जाता है और उचित का भाव ही औचित्य है।

प्र.14. औचित्य के भेदों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

औचित्य के भेद

औचित्य के प्रकार-काव्य में इस औचित्य के छ: भेद बताए गए हैं—(1) अलंकार औचित्य, (2) गुण औचित्य, (3) संगठन औचित्य, (4) प्रबंध औचित्य, (5) रीति औचित्य, (6) रस औचित्य।

1. **अलंकार औचित्य** से अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से मुख्य भाव की पुष्टि के लिए होना चाहिए। उनका स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व उचित नहीं है।
2. **गुण औचित्य** से तात्पर्य यह है कि काव्य में रसानुकूल गुणों की योजना होनी चाहिए। प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों से संपन्न कविता तदनुसार प्रभाव उत्पन्न करेगी।
3. **संगठन औचित्य** में चार बातों पर विचार किया जाता है—(i) रस का औचित्य, (ii) विषय का औचित्य, (iii) वक्ता का औचित्य, और (iv) वाच्य का औचित्य।
   सम्यक सामासिक पद रचना को संगठन औचित्य कहा जाता है।
4. **प्रबंध औचित्य** से अभिप्राय यह है कि प्रबंध काव्य में प्रख्यात एवं कल्पित कथा उचित अनुपात होना चाहिए कोई कथा रस प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए और संपूर्ण घटनाएँ देश काल स्वभाव आदि के अनुसार होनी चाहिए।
5. **रीति औचित्य** का अभिप्राय यह है कि विविध गुणों के अनुकूल वैदर्भी, गौड़ी, पाँचाली आदि रीतियों का प्रयोग होना चाहिए।
6. **रस औचित्य** का अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का वर्णन करने में औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। मुख्य रस का विवेचन किस प्रकार होना चाहिए? अंग रस किस प्रकार मुख्य रस को विकसित करते है? रसों में पारस्परिक विरोध किस प्रकार होता है? कौन-सा रस किस रस के साथ किस विधि से निबद्ध होने पर अपनी विरुद्धता का परिमार्जन करता है? यह सारा विवेचन रसौचित्य का विषय है। यदि काव्य में इस रसौचित्य का ध्यान नहीं रखा जाएगा तो अनेक दोष उत्पन्न हो जाएँगे।

   इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य निर्माण में विविध अनुकूलताओं पर ध्यान देना ही औचित्य है। इसका ध्यान रखने से काव्य में सरसता आती है, उसकी शोभा बढ़ती है, भाव प्रेषणीयता में वृद्धि होती है और काव्य सहृदयों के लिए आह्लादकारी बन जाता है। काव्य के सभी सिद्धांत अपने स्थान पर भले ही उपस्थित हों, परंतु यदि उनमें औचित्य का निर्वाह नहीं किया गया है तो ऐसा काव्य अनेक दोषों से युक्त हो जाएगा और उसकी प्रभावोत्पादकता समाप्त हो जाएगी।

   क्या औचित्य काव्य की आत्मा है? प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्य के ऐसे व्यापक तत्त्व औचित्य को काव्य की आत्मा माना जा सकता है? यह तो निर्विवाद है कि औचित्य एक व्यापक तत्त्व है। अलंकार योजना, रस योजना, वाक्य विन्यास, पद रचना, प्रबंधत्व आदि सभी में औचित्य का भाव आवश्यक है। औचित्य से अलंकार भाव निरूपण में सहायक बनते हैं, वर्ण विन्यास में चारुता और रसानुकूलता आती है। उद्देश्य कथन में सहज आकर्षण उत्पन्न हो जाता है।

TOUCH 'n' PASS

फिर भी औचित्य को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता। औचित्य काव्य का पथ प्रदर्शक तो हो सकता है किंतु यह काव्य का मूल तत्त्व नहीं है।

काव्य का अंतरंग तत्त्व होने पर भी औचित्य की महत्ता रस पर टिकी हुई है। रस से पृथक् औचित्य का अस्तित्व नहीं है। इस बात को आचार्य अभिनव गुप्त ने पहले ही बताया था। आचार्य क्षेमेंद्र भी इस बात को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे रस सिद्ध काव्य का ही स्थिर जीवित (प्राणतत्त्व) औचित्य को मानते हैं, रसहीन काव्य का नहीं। निष्कर्ष रूप में औचित्य काव्य का नितांत अंतरंग गूढ़ और अति सूक्ष्म तत्त्व है, किंतु यह काव्य की आत्मा नहीं है।

अलंकार के स्वरूप विवेचन की परंपरा का आरंभ आचार्य भामह से आरंभ होती है। तब से लेकर अद्यावधि तक अलंकार के स्वरूप का विवेचन किसी न किसी रूप में अवश्य होता आ रहा है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. अलंकार के स्वरूप विवेचन की परंपरा का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

उत्तर

अलंकार के स्वरूप विवेचन की परंपरा

अलंकार के स्वरूप विवेचन की परंपरा का आरंभ आचार्य भामह से आरंभ होती है। तब से लेकर अद्यावधि तक अलंकार के स्वरूप का विवेचन किसी न किसी रूप में अवश्य होता आ रहा है।

अलंकार का स्वतंत्र रूप से विवेचन करने वाले आचार्य भामह ने अलंकार को काव्य का महत्त्वपूर्ण सौंदर्यवर्द्धक तत्त्व माना था। उनका स्पष्ट मत था कि जिस प्रकार कामिनी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषणों के बिना सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती है—

न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। —काव्यालंकार

आचार्य भामह शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति को अलंकार मानते हैं—

वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।

उन्होंने अलंकार के मूल में वक्रोक्ति को आवश्यक माना है। उनका स्पष्ट मत है कि यह सारी अतिशयोक्ति ही वक्रोति होती है। इससे अर्थ चमत्कृत होता है। कवि को इसी में प्रयत्न करना चाहिए। कौन अलंकार है जो इससे रहित हो—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।। —काव्यालंकार; 2/85

आचार्य दंडी ने काव्य के शोभाकार धर्मों को अलंकार माना है—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —काव्यादर्श: 2/1

अग्निपुराणकार भी भामह और दंडी की भाँति अलंकार को काव्य के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है—अर्थालंकारों से रहित कविता (सरस्वती) विधवा के समान होती है—

अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती। —अग्निपुराण, 343/12

वामन मूलत: रीति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य थे। फिर भी वामन ने संस्कृत के पूर्वाचार्यों की भाँति काव्य में अलंकार की महत्ता का प्रतिपादन किया था। वे अलंकार के द्वारा काव्य को ग्राह्य और सौंदर्य मात्र को अलंकार मानते हैं—

काव्य ग्राहयमलंकारात्।-सौंदर्यमलंकारः।। —काव्यालंकार सूत्र: 1/1/2

वामन गुणों को काव्य की शोभा के धर्म मानते हैं।

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। —काव्यालंकार सूत्र, 3/1/1

और उस शोभा के अतिशय के हेतु-अलंकार को मानते हैं—

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।। —काव्यालंकार सूत्र, 3/1/2

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य भामह, दंडी और वामन ने काव्य के लिए अलंकार को अनिवार्य तत्त्व माना था। किंतु आनंदवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' के सृजन के पश्चात् अलंकार के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। क्योंकि अब अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व न रहकर मात्र काव्य के बाह्य शोभाकर धर्म मात्र रह गए। क्योंकि आनंदवर्धन ने अपने ठोस प्रमाणों द्वारा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर अलंकारों को काव्य के बहिरंग शोभावर्द्धक तत्त्व सिद्ध किया। उनका स्पष्ट मत है कि जो अंगीरूप अर्थ का अवलंबन करते हैं, वह गुण कहलाते हैं और कटक आदि की भाँति अंगों पर आश्रित रहने वालों को अलंकार मानना चाहिए—

तमर्थवलम्बन्ते येऽगिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मंतव्याः कटकादिवत्।। —ध्वन्यालोक: 2/6

TOUCH 'n PASS

इससे स्पष्ट होता है कि आनंदवर्धन की दृष्टि में जिस प्रकार कटक - कुंडलादि आभूषण कामिनी के बाह्य सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य के अलंकार काव्य के बाह्य शरीर में अवस्थित होकर-काव्य के बाह्य सौंदर्य की ही अभिवृद्धि करते हैं। अत: काव्य के लिए अलंकारों का महत्त्व उतना ही मानना चाहिए, जितना रमणी के सौंदर्योत्कर्ष के लिए अलंकारों का होता है। इस प्रकार आनंदवर्धन की दृष्टि में अलंकार काव्य के गौण तत्त्व हुए, अनिवार्य नहीं।

आनंदवर्धन के अनुकरण पर आचार्य अभिनव गुप्त भी अलंकार और अलंकार्य को पृथक् मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है जो वाच्य वाचक रूप अंगों पर आश्रित होते हैं, उन्हें कटक आदि की भाँति अलंकार मानना चाहिए—

वाच्य वाचक लक्षणान्यंगानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलंकारा मन्तव्या: कटकादिवत्। —ध्वन्यालोक (लोचन टीका): 2/6

आनंदवर्धन के पश्चात् के अधिकांश आचार्यों ने उनके अनुसरण पर अलंकार को काव्य का बाह्य शोभाकर तत्त्व मानते हुए, अलंकार को काव्य के लिए गौण तत्त्व माना। इन आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार शरीर के हार आदि आभूषणों की भाँति-काव्य शरीर का उपकार करते हैं—

उपकुर्वन्ति तं संतं येऽगद्वरेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय:।। —काव्य प्रकाश: 6/67

इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने भी रस आदि के उपकारक, शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्मों को अलंकार माना, जो शरीर में बाजूबंद के समान काव्य शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं—

शब्दार्थयोस्थिरा धर्मा: शोभातिशय शालिन:।
रसादीनुपकुर्वतोऽलंकारास्तेऽगदादिवत्।। —साहित्य दर्पण, 10/1

पंडितराज जगन्नाथ रमणीयता के प्रयोजकों को अलंकार मानते हैं—

.....रमणीयता प्रयोजका अलंकारा।। —रस गंगाधर-II पृष्ठ 210

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार काव्य के बाह्य शोभावर्द्धक उपकरण सिद्ध हो जाने के पश्चात् एक बार पुन: काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन हुआ। इन आचार्यों में कुंतक, भोजराज और जयदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य कुंतक ने अलंकारयुक्त उक्ति को काव्य माना था—

.....सालंकारस्य काव्यता —वक्रोक्ति जीवितम्: 1/6

पीयूषवर्षी जयदेव का काव्य के लिए अलंकारों का अतिरिक्त आग्रह चरम सीमा का स्पर्श करता प्रतीत होता है। जयदेव ने लिखा है कि जो अलंकार शून्य भी शब्दार्थ में काव्यत्त्व स्वीकार करते हैं, वे चतुर मनुष्य अग्नि में अनुष्णता को स्वीकार करें—

अंगी करोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृति।। —चंद्रालोक; 1/8

वस्तुत: संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार विषयक मूलत: दो धारणाएँ परिलक्षित होती हैं—

1. अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इस धारणा को मानने वाले आचार्यों में भामह, दंडी, वामन, अग्निपुराणकार कुंतक और जयदेव आदि प्रमुख हैं।
2. अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकर धर्म हैं। इस धारणा को मानने वाले आचार्यों में आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम आता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कतिपय आचार्य ऐसे भी है, जिन्होंने अलंकार को काव्य में चमत्कारोत्पादक तत्त्व माना है। इन आचार्यों में महिम भट्ट और देवशंकर पुरोहित का नाम उल्लेख्य है। यद्यपि महिम भट्ट संस्कृत के आरंभिक आचार्यों की भाँति अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं किंतु उनकी अलंकार परिभाषा उन आचार्यों से सर्वथा भिन्न है। उनका मत है कि वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्त्व की बुद्धि विषय होने पर अलंकार होता है—

चारुत्त्वं हि वेचित्र्यापर पर्याय प्रकाशमानलंकार:। —व्यक्तिविवेक: पृष्ठ-22

देवशंकर पुरोहित चमत्कारोत्पादक तत्त्व को अलंकार मानते हैं—

चमत्कार प्रभावता तदवच्छेदकमलंक्रिया।। —अलंकार मंजूषा: श्लोक-133

फिर भी आनंदवर्धन के प्रबल तर्कों के कारण अलंकार की काव्य के बाह्य शोभावर्धक धारणा ही सर्वाधिक लोकप्रिय और मान्य रही।

हिंदी के रीतिकाल में भी संस्कृत काव्यशास्त्र की भाँति अलंकार विषयक तीन वर्ग बनते हैं। प्रथम वर्ग के अंतर्गत वे आचार्य कवि आते हैं, जिन्होंने आचार्य भामह और उनके अनुयायियों की भाँति अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व माना था। इन आचार्यों

में केशवदास, श्रीपति, दलपति, वंशीधर, दूल्ह, गुलाब सिंह और मुरारिदान आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। केशव ने काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि कविता रूपी कामिनी यद्यपि अच्छी जाति, अच्छे लक्षणों अच्छे वर्णों, अच्छे छंदों और रस युक्त होने पर भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होती है—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त।। —कविप्रिया-5

आनंदवर्धन की तरह अलंकार को काव्य का शोभाकार साधन मानने वाले हिंदी के आचार्यों में चिंतामणि. भिखारीदास, रूपसाहि और देव का नाम उल्लेखनीय है। आनंदवर्धन आदि आचार्यों की भाँति इन आचार्यों ने अलंकारों को शरीर के आभूषणों की तरह काव्य शरीर के शोभावर्द्धक साधन माना है—

अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यौं जानि।। —कविकुल कल्पतरु: 2/1

हिंदी में संस्कृत के महिमभट्ट और आचार्य देवशंकर पुरोहित के समान अलंकार को काव्य का चमत्कारोत्पादक तत्त्व मानने वाले आचार्यों की संख्या पर्याप्त है। इन आचार्यों में जनराज, गोविंददास, ग्वाल, लच्छिराम और अर्जुनदास केडिया आदि का नाम महत्त्वपूर्ण है। गोविंददास का मत है—

रस तै बिगि तै भिन्न अरू शब्दार्थ के चमत्कार को प्रकट करै सो अलंकार है।
—दूषणोल्लास: पृष्ठ-137

हिंदी के आधुनिक आचार्यों ने अलंकार के समन्वित स्वरूप का उद्घाटन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है कि 'वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पहुँचाने के लिए कभी-कभी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।' डॉ० रामकुमार वर्मा अलंकारों को काव्य के भावों और भाषा की सौंदर्य सृष्टि का कारण मानते हुए लिखते हैं—वस्तुत: अलंकारों का प्रयोग भाषा और भावों का संचय करने में तथा उसके द्वारा जीवन के कार्य व्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसीलिए अलंकार नाम दिया गया है।

बाबू गुलाबराय अलंकारों को कवि की अभिव्यक्ति के साथ स्वत: प्रयुक्त मानते हैं। उनका मत है, अलंकार नितांत बाहरी वस्तु नहीं हैं, जो जब चाहे पहन लिए जाए या उतारकर रख दिए जाए। वे कवि या लेखक के साथ बँधे हुए हैं। ' डॉ० भगीरथ मिश्र ' कथनों की विशेषता को अलंकार कहते हैं।' डॉ० नगेंद्र ने अलंकारों का समन्वित लक्षण दिया है। उनका मत है, 'रसवादियों का यह सिद्धांत कि रमणीयता मूलत: भाव के आश्रित है तथा सर्वथा निभ्रान्त है। परंतु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता साधारण शब्दों द्वारा बिना किसी प्रकार की वक्रता के व्यक्त की जा सके यह संभव नहीं है।'

वस्तुत: अलंकार काव्य के लिए न तो आवश्यक तत्त्व हैं न गौण, अपितु अलंकार काव्य के वे सहज धर्म हैं जो कवि अभिव्यक्ति के साथ स्वत: प्रयुक्त हो जाते हैं। काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व सृजित वैदिक साहित्य में प्रयुक्त अलंकार इस बात के प्रमाण हैं।

प्र.2. अलंकार साहित्य के उद्भव और विकास का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर अलंकार साहित्य का उद्भव और विकास

मानव जीवन और अलंकार का अभिन्न संबंध है, क्योंकि अलंकरण मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है। आरंभ में अलंकार मनुष्य के जीवनयापन के ढंगों और उसके क्रियाकलापों के माध्यम से व्यक्त हुआ था। कालांतर में काव्य के जन्म के साथ कवि की अभिव्यक्ति के साथ अलंकार सहज रूप में प्रयुक्त हुए थे। काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व सृजित वैदिक साहित्य में उपलब्ध विविध अलंकारों के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व वैदिक साहित्य के अनेक ग्रंथों में अलंकारबोधक अलंकृता; अलंकृतम् और अलंकरिष्णु आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और व्याकरण ग्रंथों में भी कतिपय स्थलों पर उपमावाचक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। किंतु संख्यात्मक दृष्टि से सर्वप्रथम भरत ने नाट्य की प्रवृत्ति के अनुरूप चार अलंकारों का उल्लेख किया। ये अलंकार क्रमश: उपमा, रूपक, दीपक और यमक हैं—

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अंलकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया:।। —नाट्यशास्त्र; 17/43

तब से लेकर अद्यावधि तक संस्कृत और हिंदी में अलंकार के विकास का क्रम स्पष्टत: देखा जा सकता है। संस्कृत और हिंदी में अलंकारों का विकास निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—

(क) संस्कृत में अलंकारों का विकास

संस्कृत में अलंकारों के विकास क्रम को अग्र चरणों में दिखाया जा सकता है—

TOUCH 'n PASS

1. **ध्वनि से पूर्व काल**—ध्वनि से पूर्व काल अलंकारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काल माना जाता है। इस काल के अधिकांश आचार्यों ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना था। इसलिए इस काल को अलंकार काल भी कहा जा सकता है। इस काल के अंतर्गत आचार्य भामह, दंडी, उद्‌भट, वामन, रुद्रट और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है।
आचार्य भामह इस काल के प्रतिनिधि थे। सच्चाई तो यह है कि आचार्य भामह से ही अलंकार संप्रदाय की व्यवस्थित परंपरा का आरंभ होता है। इसीलिए अधिकांश विद्वान भामह को काव्यशास्त्र का आद्य आचार्य मानते हैं। क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र में भामह ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में अलंकार का व्यापक और व्यवस्थित विवेचन किया था। अलंकार को काव्य का अनिवार्य पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी भामह को ही जाता है। इन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में द्वितीय से लेकर पंचम अध्याय तक अलंकारों का विवेचन किया है। आचार्य भामह ने कुल 40 अलंकारों का विवेचन किया था। द्वितीय परिच्छेद में भामह ने दो शब्दालंकार-अनुप्रास, यमक और सत्रह अर्थालंकारों रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति अतिशयोक्ति हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्या, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति का विवेचन किया था। आचार्य भामह ने तृतीय परिच्छेद में 35 अलंकारों-प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति विशेषेक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति निदर्शना, उपमा, रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति ससंदेह, अनंवय, उत्पेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक और आशी अलंकारों का विवेचन किया है।
अलंकारों के विकास की दृष्टि से आलोच्य काल में दंडी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दंडी ने भी अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। दंडी ने अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में द्वितीय से तृतीय परिच्छेद में अलंकारों का व्यापक विवेचन किया है। इन्होंने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में पैंतीस (35) अलंकारों का विवेचन किया है। वे अलंकार इस प्रकार हैं स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि पर्यायोक्ति, समाधि, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेष, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, संसृष्टि और भाविक।
तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र और प्रहेलिका का विवेचन है। किंतु दंडी प्रहेलिका को अलंकार नहीं मानते। इसी प्रकार दंडी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में गुण विवेचन प्रसंग में श्लेष, यमक, वर्णानुप्रास और समाधि का विवेचन है। कुल मिलाकर दंडी ने 37 अलंकारों का विवेचन किया था।
इसी प्रकार रुद्रट ने काव्यालंकार में 64 अलंकारों का विवेचन किया है।
वस्तुत: ध्वनि पूर्वकाल के अंत तक अलंकारों की संख्या पर्याप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त आलोच्य काल से ही अलंकारों का वैज्ञानिक अध्ययन भी आरंभ हो जाता है। कुल मिलाकर अलंकार साहित्य की दृष्टि से आलोच्य काल का अभूतपूर्व स्थान है।

2. **ध्वनि काल**—इस काल के अंतर्गत आनंदवर्धन, अग्निपुराणकार, राजशेखर, कुंतक, अभिनव गुप्त और धारानरेश भोज आते हैं। इस काल के प्रथम आचार्य आनंदवर्धन हैं। यद्यपि संख्यात्मक दृष्टि से आनंदवर्धन अलंकार साहित्य को कुछ नहीं दे पाए। किंतु अलंकार स्वरूप विवेचन की दृष्टि से आनंदवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' का समूचे काव्यशास्त्र में अभूतपूर्व स्थान है। क्योंकि आनंदवर्धन ने ही सर्वप्रथम पूर्वाचार्यों की अलंकार की काव्य के लिए अनिवार्यता की धारणा को ठोस प्रमाणों द्वारा खंडन करके अलंकारों को गौणता प्रदान की। इसी प्रकार राजशेखर भी अलंकार के विकास में विशेष योग नहीं दे पाए, किंतु उन्होंने अलंकार को वेद का सप्तम अंग मानकर अलंकारों के प्रति उदारदृष्टि का परिचय अवश्य दिया था।
आलोच्य काल में अलंकार साहित्य के विकास की दृष्टि से वक्रोक्ति सिद्धांत के संस्थापक कुंतक का विशेष योगदान रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम भामह आदि पूर्वाचार्यों की भाँति 'सालंकार काव्यता' कहकर काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। किंतु अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में कतिपय अलंकारों का विवेचन करने पर भी संख्यात्मक दृष्टि से अलंकार को कुछ नहीं दे पाए। इतना अवश्य है कि अलंकार की काव्य में गौणता सिद्ध हो जाने के पश्चात् पुन: उन्होंने अलंकारों की काव्य के लिए अनिवार्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।
इसी प्रकार आलोच्यकाल के आचार्य अभिनव गुप्त ने भी अलंकारों के विकास में विशेष योग नहीं दे पाए, किंतु उनकी अलंकार विषयक धारणाएँ काव्यशास्त्र की महत्त्व निधि मानी जाती है।

TOUCH 'n PASS

आलोच्य काल में अलंकार विकास, वर्गीकरण और स्वरूप विवेचन की दृष्टि से धारानरेश भोज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भोज कृत 'सरस्वती कंठाभरणम्' में कुल 72 अलंकारों का विवेचन प्राप्त होता है। इन्होंने 'सरस्वती कंठाभरण' के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेद में क्रमशः बाह्य/शब्दालंकारों, आभ्यांतर/अर्थालंकारों और उभयालंकारों का विवेचन किया है। इनके द्वारा विवेचित अलंकार इस प्रकार हैं—

(i) **बाह्य अथवा शब्दालंकार**—जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़ प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अन्विति-24।

(ii) **आभ्यंतर अथवा अर्थालंकार**—जाति, विभावना, हेतु अहेतु, सूक्ष्म, विरोध, उत्तर, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्राँति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव-24।

(iii) **उभयालंकार**—उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपहनुति, समासोक्ति, समाधि, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसुष्टि-24।

वस्तुतः आलोच्य काल के अधिकांश आचार्यों ने अलंकारस्वरूप विवेचन पर विशेष बल दिया था और आलोच्यकाल के प्रतिनिधि आचार्यों ने अलंकार स्वरूप विवेचन में ही मौलिकता का परिचय दिया है। अलंकार के स्वरूप का मौलिक विवेचन की दृष्टि से ध्वनि काल का विशेष महत्त्व है। इसी काल से अलंकार को काव्य के बाह्य शोभाकर साधन मानने की परंपरा का आरंभ हुआ था।

3. **ध्वन्युत्तर काल**—अलंकार साहित्य के विकास की दृष्टि से आलोच्य काल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में भी अलंकार काव्य के साध्य और साधन दोनों माने गए थे। इसके प्रमुख आचार्यों में मम्मट, रुय्यक वाग्भट, हेमचंद्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

आलोच्यकाल में मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' को प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ न केवल अलंकारों की दृष्टि से अपितु संपूर्ण काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। इस ग्रंथ में 61 अलंकारों का विवेचन हैं। इस काल के आचार्य रुय्यक कृत 'अलंकार सर्वस्व' का अलंकारों के विकास और वर्गीकरण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है। अलंकारों का प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक ही थे। इन्होंने 'अलंकार सर्वस्व' ग्रंथ शब्द और अर्थ को विविध वर्गों के अंतर्गत 75 अलंकारों का विवेचन किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में वाग्भट नामक दो आचार्य हुए हैं। वाग्भट प्रथम ने 'वाग्भटालंकार' ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ पाँच परिच्छेदों में लिखा गया है। इस ग्रंथ के चतुर्थ परिच्छेद में अलंकारों का विवेचन है। इनके द्वारा वर्णित शब्दालंकारों की संख्या चार और अर्थालंकारों की संख्या 35 है। वाग्भट द्वितीय ने 'काव्यानुशासन' ग्रंथ का सृजन किया था। इस ग्रंथ के तृतीय अध्याय में 63 अर्थालंकार और चतुर्थ अध्याय में 6 शब्दालंकार वर्णित हैं। इनके पश्चात् हेमचंद्र ने 'काव्यानुशासन' के छठे अध्याय में 6 शब्दालंकार और 29 अर्थालंकारों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त संसृष्टि को शंकर, तुल्ययोगिता को दीपक, पर्याय को परिवृत्ति, अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और निदर्शना को निदर्शन में अंतर्भाव किया है।

आलोच्य काल के आचार्य जयदेव का अलंकारों के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयदेव ने सर्वप्रथम काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। जयदेव ने 'चंद्रालोक' के पंचम मयूख में चार शब्दालंकारों-अनुप्रास, पुनरुक्तप्रकाश, यमक और चित्र तथा उनके भेदों और 87 अर्थालंकारों का विवेचन किया है। यद्यपि जयदेव द्वारा विवेचित अधिकांश अलंकार पूर्ववर्ती आचार्यों की देन हैं। फिर जयदेव ने कतिपय नए अलंकारों की उद्भावना की हैं। जयदेव प्रदत्त नए अलंकारों में स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास (अनुप्रास के भेद) शब्दालंकार और अनुगुण, असंभव, अवज्ञा, उन्मीलित, उल्लास, प्रौढोक्ति, प्रहर्षण, परिकरांकुर, पूर्वरूप, भाविकच्छवि, विकस्वर, निषादन तथा संभावना हैं। जयदेव के पश्चात् अलंकार साहित्य के विकास में विद्याधरकृत 'एकावली' भी विशेषरूपेण उल्लेख है। इन्होंने एकावली के सप्तम और अष्टम उन्मेश में अलंकारों का वर्गीकृत विवेचन किया है। वर्गीकृत विवेचन के कारण ही अलंकार साहित्य में विद्याधर का मान है।

TOUCH 'n PASS

विद्याधर के पश्चात् आलोच्यकाल में 'विश्वनाथ' कृत 'साहित्य दर्पण' का विशेष महत्त्व है। संपूर्ण काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'साहित्य दर्पण' आधार ग्रंथ है। इस ग्रंथ में भारतीय काव्यशास्त्र की समग्र सामग्री सुबोध ढंग से व्यवस्थित की गई है। विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' के दशम परिच्छेद में आठ शब्दालंकारों, 75 अर्थालंकारों और 2 समिश्रित अलंकारों का विवेचन है। आलोच्य काल में अप्पय दीक्षित कृत 'कुवलानंद' भी उल्लेखनीय ग्रंथ है। यह अलंकारों का संग्रह ग्रंथ है। इसमें 123 अलंकारों का विवेचन हुआ है। अलंकार साहित्य के विकास में पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रस गंगाधर' भी उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ के द्वितीय आनन में 13 और तृतीय आनन में 57 अलंकारों का विवेचन हुआ है। वस्तुत: संस्कृत काव्यशास्त्र के इन आचार्यों के अतिरिक्त अनेक आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकारों के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। जिनका विवेचन यहाँ संभव नहीं है।

(ख) हिंदी साहित्य में अलंकारों का विकास

हिंदी साहित्य में अलंकार ग्रंथ की रचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुष्य नामक बंदीजन द्वारा लिखा हुआ मानते हैं। किंतु खेद है कि यह ग्रंथ संप्रत्ति उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से आचार्य केशवदास को ही प्रथम हिंदी अलंकारिक आचार्य माना जाना चाहिए।
वस्तुत: हिंदी अलंकार साहित्य का जन्म आचार्य केशवदास से और चिंतामणि से अलंकार साहित्य परंपरा का आरंभ होता है। सुविधा की दृष्टि से हिंदी अलंकार साहित्य के विकास को निम्न चरणों में बाँटा जा सकता है।

1. रीतिकालीन अलंकार साहित्य
2. गद्यकालीन अलंकार साहित्य
3. आधुनिक अलंकार साहित्य

1. **रीतिकालीन अलंकार साहित्य**—इस काल का अलंकार साहित्य का आरंभ आचार्य केशवदास से आरंभ होता है। इस काल में आचार्य केशवदास ने 'कविप्रिया', जसवंत सिंह कृत 'भाषा भूषण', मतिराम कृत 'ललित ललाम' और 'अलंकार पंचाशिका', भूषण कृत 'शिवराज भूषण', कुलपति मिश्र कृत 'रस रहस्य', देव कृत 'भाव विलास' और 'काव्य रसायन', श्रीधर कवि कृत 'भाषा भूषण' रसिक सुमति कृत 'अलंकार चंद्रोदय', रघुनाथ कृत 'रसिक मोहन', गोविंददास कृत 'कर्णाभरण' दूलह कृत 'कविकुल कंठाभरण' दासकृत 'काव्य निर्णय', रसरूप कृत 'तुलसी भूषण' रामसिंह कृत 'अलंकार दर्पण', पद्माकर कृत 'पद्माभरण', गिरिधर कृत 'भारती भूषण' और गुलाब सिंह कृत 'वनिताभूषण' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन आचार्य कवियों के अतिरिक्त हिंदी के अनेक आचार्य कवियों ने अलंकार साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। किंतु उन सब आचार्यों का इस ग्रंथ में उल्लेख कर पाना असंभव है।
   वस्तुत: हिंदी के अधिकांश विद्वान हिंदी के रीतिकालीन अलंकार साहित्य पर संस्कृत के अलंकार साहित्य का प्रभाव मानते हैं। फिर भी हिंदी के कतिपय आचार्यों में केशवदास ने प्रेम, अभिमत, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, गणना, आशिष और युक्तलंकार, मतिराम ने गुणवत, देवकृत गुणवत लेख, संकीर्ण और प्रयुक्ति, भिखारीदास कृत सिंहावलोकन, वीप्सा, स्वगुण, स्वरूप कृत धन्यता, निर्णय उन्मतोक्ति तथा जगत सिंह कृत संग्रामोद्दाम मौलिक अलंकार प्रदान किए हैं।
2. **गद्य युगीन अलंकार साहित्य**—हिंदी साहित्य में रीतिकाल के पश्चात् भी अलंकारों का विकास हुआ था। इस काल में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का जन्म हुआ था। फिर भी इस काल का अलंकार साहित्य पूर्णत: संस्कृत अलंकार साहित्य के प्रभाव से मुक्त नहीं है। इस काल में कविराज मुरारिदान कृत 'जसवंतजसोभूषण', जगन्नाथप्रसाद भानुकृत 'काव्य प्रभाकर', भगवानदीन कृत 'अलंकार मंजूषा, अर्जुनदास केडिया कृत 'भारती भूषण', बिहारीलाल भट्ट कृत 'साहित्य सागर', कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'अलंकार मंजरी', रामदहिन मिश्र कृत 'काव्यदर्पण', रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'अलंकार पीयूष' और देवेंद्रनाथ शर्मा कृत 'अलंकार मुक्तावली आदि का अलंकार साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।
   आलोच्यकाल में मुरारिदान, बिहारीलाल भट्ट, और सेठ पोद्दार ने मौलिक अलंकारों की उद्भावना की थी। इस काल मैं मुरारिदान ने 13 अलंकारों–अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, प्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिमा, मिष, विकास, संकोच और संस्कार, बिहारीलाल भट्ट ने 2 अलंकारों–दीपयोग और गुणोक्ति तथा सेठ पोद्दार ने। अलंकार–अपरिवृत्ति नए अलंकारों की उद्भावना की थी। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गद्यकालीन अलंकार साहित्य ने हिंदी काव्यशास्त्र को 16 नए अलंकार प्रदान किए। इनके अतिरिक्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से रामदहिन मिश्र ने

TOUCH 'n' PASS

'काव्यदर्पण' के बारहवें प्रकाश में तीन पाश्चात्य अलंकारों-मानवीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यंजना और विशेषण विपर्यय का विवेचन किया है।

3. **आधुनिक अलंकार साहित्य**—यद्यपि आलोच्यकाल में संख्यात्मक दृष्टि से अलंकार साहित्य में विशेष वृद्धि नहीं हो पाई। किंतु आधुनिक काल में शोध और आलोचना के माध्यम से अलंकार संबंधी पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। आधुनिक काल में अलकार संबंधी सैद्धांतिक सामग्री देने वाले आचार्यों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, सुमित्रानंदन पंत, गुलाबराय, नंददुलारे वाजपेयी, राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० ओमप्रकाश, डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, किशोर काबरा, डॉ० देशराज सिंह भाटी और वचन देव कुमार का नाम विशेष रूपेण उल्लेख है। यद्यपि इन सभी विद्वानों ने अलंकार को साधन पद ही प्रदान किया है, किंतु इन सभी विद्वानों ने अलंकारों को काव्य का भावोत्कर्षक तत्त्व भी माना है।

प्र.3. अलंकारों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

अलंकारों का वर्गीकरण

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वर्गीकरण निम्न शीर्षकों के अंतर्गत दिखाया जा सकता है।

संस्कृत में अलंकारों का वर्गीकरण

संस्कृत के आरंभिक आचार्यों ने अलंकारों का स्पष्टत: वर्गीकरण नहीं किया है, किंतु, भामह, दंडी और वामन आदि आचार्यों के अलंकार स्वरूप विवेचन से स्पष्टत: अलंकारों के दो भेद परिलक्षित होते हैं। वे हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। इस संदर्भ में भामह कृत अलंकार लक्षण द्रष्टव्य हैं—

वाचा वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकारान कल्पते:। —काव्यालंकार; 5/66

अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति वाणी का अलंकार कहा जाता है। वस्तुत: भामह ने अप्रत्यक्ष रूप से अलंकारों के दो भेदों का निरूपण कर दिया है। इसी प्रकार दंडी और वामन ने भी प्रकारांतर अलंकार स्वरूप विवेचन के बहाने अलंकारों के शब्दगत और अर्थगत दो भेदों का निरूपण अप्रत्यक्ष रूप में किया था। किंतु स्पष्ट विविध अलंकारों को वर्गीकृत करके विवेचन करने की परंपरा का आरंभ रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' से होता है। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में पाँच शब्दालंकारों वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रालंकार का उल्लेख किया है—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दास्यालंकारा: श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्युस्तु।। —काव्यालंकार; 2/13

इसके पश्चात् उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष को अर्थालंकार और अन्य सभी को इन्हीं के भेद माने हैं—

अर्थास्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशय: श्लेष।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति नि:शेषा:।। —काव्यालंकार; 7/9

इस प्रकार रुद्रट के अलंकार वर्गीकरण की तालिका इस प्रकार बनती है—

(क) शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र।

(ख) अर्थालंकार—

1. **वास्तव के भेद**—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।
2. **औपम्य के भेद**—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थांतरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।
3. **अतिशय के भेद**—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तदगुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु।
4. **अर्थ श्लेष के भेद**—अविशेष, विरोध, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष, असंभव श्लेष, अवयव श्लेष, तत्त्व श्लेष, विरोधाभास, अलंकार-सांकर्य।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक हैं। आचार्य रुय्यक ने अलंकारों के दो भेद और उनके अनेक भेदों में वर्गीकृत किया था। इनके अलंकार वर्गीकरण को निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—

(क) शब्दालंकार—पौनरुक्त वर्ग—

1. अर्थपौनरुक्त्य-पुनरुक्तवदाभास।
2. व्यंजनपौनरुक्त्य-छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास।
3. स्वर व्यंजन पौनरुक्त्य-यमक।

TOUCH 'n' PASS

4. शब्दार्थोभयपौनरुक्त्य-लाटानुप्रास।
5. स्थानविशेष पौनरुक्त्य-चित्र।

(ख) अर्थालंकार—

1. सादृश्य मूलक अलंकार वर्ग—

(अ) **भेदोभेदतुल्यतामूलक**—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा स्मरण।

(आ) **अभेद प्रधानमूलक**

1. **आरोप मूलक**—रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान, उल्लेख और अपह्नुति।
2. **अध्यवसाय मूलक**—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(इ) **गम्यमान औपम्य**—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, दृष्टांत, निदर्शना।

(ई) **भेद प्राधान्य मूलक**—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।

2. **विशेषण विच्छिति—**

(i) **विशेषण साम्य**—समासोक्ति, परिकर।

(ii) **विशेष्य साम्य**—श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थांतरन्यास।

(iii) **गम्यतार्थ विच्छित्ति**—पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप।

(iv) **विरोध मूलक**—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष।

(v) **शृंखलामूलक अलंकार**—कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(vi) **न्याय मूलक अलंकार—**

(क) **तर्क न्याय मूलक**—काव्यलिंग, अनुमान।

(ख) **वाक्य न्याय मूलक**—यथासंख्या, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि।

(ग) **लोक न्याय मूलक अलंकार**—प्रत्यंनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, अतद्गुण, उत्तर।

(vii) **गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार**—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति, भाविक, उदात्त।

(viii) **चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकार**—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित।

(ix) **चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकारों से पृथक अलंकार**—भावोदय, भावसंधि, भाव सबलता,

(x) **मिश्र अलंकार**—संसृष्टि, संकर।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य रुय्यक के पश्चात् 'विद्याधर' ने अपने ग्रंथ एकावली और विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया था। किंतु इन आचार्यों का अलंकार वर्गीकरण पूर्णत: रुय्यक के वर्गीकरण से प्रभावित प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि विद्यानाथ का अलंकार वर्गीकरण कतिपय नूतनता को लिए हुए है। आचार्य विद्यानाथ की अलंकार वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं—

1. **साधर्म्य मूलक—**

(क) **अभेद प्रधान**—रूपक परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान उल्लेख तथा अपह्नुति।

(ख) **भेद प्रधान**—दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टांत, प्रतिवस्तुपमा, वक्रोक्ति, प्रतीप और व्यतिरेक।

(ग) **भेदोभेद प्रधान**—उपमा, अन्नवय, उपमेयोपमा और स्मरण।

2. **अध्यवसाय मूलक**—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।
3. **विरोध मूलक**—विभावना, विशेषोक्ति, विषम, चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्गुण, भाविक और विशेष।
4. **वाक्य न्याय मूलक**—यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प और समुदाय।
5. **लोक व्यवहार मूलक**—परिवृत्ति, प्रत्यनीक, तदगुण, समाधि, सम स्वाभावोक्ति, उदात्त और विनोक्ति।
6. **तर्कन्याय मूलक**—काव्यलिंग, अनुमान और अर्थातरन्यास।
7. **शृंखला वैचित्र्य मूलक**—(रुय्यक निर्दिष्ट अलंकार)
8. **अपह्नव मूलक**—व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलित।
9. **विशेषण वैचित्र्य मूलक**—समासोक्ति और परिकर।

TOUCH 'n' PASS

इस वर्गीकरण के आरंभ में विद्यानाथ ने शब्दालंकारों और अंत में मिश्र अलंकारों का विवेचन किया है।
इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विद्यानाथ का अलंकार वर्गीकरण प्रकारांतर रुय्यक की ही अनुकृति है। अत: भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य रुय्यक का अलंकार वर्गीकरण सर्वाधिक वैज्ञानिक है।

हिंदी में अलंकारों का वर्गीकरण

हिंदी साहित्य में भी अलंकारों के वर्गीकरण के प्रयास हुए हैं। इन आचार्यों में मुख्यत: केशवदास, भिखारीदास, कन्हैयालाल पोद्दार, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', डॉ० नगेंद्र और डॉ० वचनदेव कुमार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
आचार्य केशवदास ने अपने ग्रंथ 'कविप्रिया' में नवें प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक अलंकारों का विवेचन किया है। इनके अलंकार विवेचन से अप्रत्यक्ष रूप में अलंकार स्वयं वर्गीकृत हो जाते हैं। किंतु प्रभावों के वर्गों में वर्गीकृत आचार्य केशवदास के अलंकारों का वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार न होने के कारण बाह्य नहीं हो सकता।
इसी प्रकार आचार्य भिखारीदास ने भी 'काव्य निर्णय' में अलंकारों का तीसरे, आठवें से अठारहवें और बीसवें से इक्कीसवें उल्लासों में अलंकारों का निरूपण किया है। इनके अलंकार विवेचन से भी अलंकारों के ग्यारह वर्ग बनते हैं। किंतु, इन वर्गों का भी ठोस वैज्ञानिक आधार न होने के कारण भिखारीदास का भी अलंकार वर्गीकरण सर्वमान्य नहीं हो सका। इतना अवश्य है कि आचार्य भिखारीदास ने अलंकारों के साम्य का सामान्य आधार ढूँढ़कर विवेचन अवश्य किया है। इनके पश्चात् कन्हैयालाल पोद्दार और डॉ० रामशंकर मिश्र 'रसाल' ने भी क्रमश: काव्य प्रकाश' और 'अलंकार पीयूष' में अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया था, किंतु इनका वर्गीकरण पूर्णत: संस्कृत के आचार्यों के अलंकार वर्गीकरण का अनुकरण मात्र प्रतीत होता है।
हिंदी के आधुनिक आचार्यों में डॉ० नगेंद्र ने विशेष भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अलंकारों को छह वर्गों में वर्गीकृत किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट वर्ग–साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार हैं। किंतु डॉ० नगेंद्र का अलंकार वर्गीकरण सर्वथा वैज्ञानिक नहीं है। इसीलिए डॉ० नगेंद्र का वर्गीकरण भी ग्राह्य नहीं हो सकता।
वस्तुत: आचार्य रुय्यक का अलंकार वर्गीकरण सर्वथा वैज्ञानिक है और अनेक संस्कृत और हिंदी के विद्वानों ने रुय्यक के वर्गीकरण को ही सर्वाधिक मौलिक और प्रामाणिक माना है। आचार्य रुय्यक के अलंकार वर्गीकरण की कमियों को डॉ० वचनदेव कुमार ने अपनी सूझबूझ से पूर्णता प्रदान कर दी है। क्योंकि आचार्य रुय्यक के अलंकार वर्गीकरण में बहुत सारे अलंकार स्थान नहीं पा सके थे। डॉ० वचनदेव कुमार ने अपने शोध प्रबंध ' रामचरितमानस में अलंकार योजना' ग्रंथ में रुय्यक के वर्गीकरण में 'वर्गीकरण–बहिर्गत' वर्ग जोड़कर रुय्यक के वर्गीकरण को निर्दोष बना दिया है। अत: अलंकार वर्गीकरण की दृष्टि से आचार्य रुय्यक और हिंदी के विद्वान डॉ० वचनदेव कुमार दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्र.4. रस के अंगों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

उत्तर

रस के अंग

जिन कारणों से शृंगारादि रसों की निष्पत्ति, अस्वाद अथवा अनुभूति प्राप्त होती है, वे रस की सामग्री कहे जाते हैं। आद्य आचार्य भरत के रस सूत्र में ही रस की सामग्री उपलब्ध हो जाती है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोद्रस निष्पतिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ रत्यादि स्थायी भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। अत: रस की उत्पत्ति हो, चाहे आस्वादन या अनुभूति, उसके मूल कारण स्थायी भावों के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव होते हैं। इसलिए रस की सामग्री के अंतर्गत स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों और संचारी भावों की गणना होती है। भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धांत के अंतर्गत रस सामग्री भी विवेच्य विषय रही है। रस की सामग्री का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(क) विभाव

विभाव का तात्पर्य है–कारण। अत: विभाव सामाजिक के हृदय में विद्यमान रत्यादि भावों के उद्दीपक कारणों को विभाव कहा जाता है। अधिकांश आचार्यों ने विभाव को परिभाषित किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, लोक में जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावों से उद्वेलित होते हैं, वे वहीं नाट्य एवं काव्य में चित्रित होने पर विभाव कहे जाते है—

रत्याद्युद्बोधक लोके विभावाः काव्य नाट्ययोः।

भरत मुनि के अनुसार वाणी और अंगों के आश्रित अनेक अर्थों का अनुभव कराने वाले विभाव हैं—

वह्वोर्था विभाव्यते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेनेऽयस्मात्तेनायं विभावभूति कथ्यते॥ —नाट्यशास्त्र, 7/6

आचार्यों ने विभाव के आलम्बन और उद्दीपन के दो भेद माने हैं—

आलम्बनोद्दीपनोख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतः। —साहित्य दर्पण, पृ. 137

1. **आलम्बन विभाव**—नाट्य और काव्य में वर्णित नायकादि आलम्बन विभाव कहे जाते हैं, क्योंकि इन्हीं के साथ साधारणीकृत होकर सामाजिक को रसास्वादन होता है—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्॥ —साहित्य दर्पण, पृ. 137

आश्रयालंबन और विषयालंबन विभाव के भेद हैं। विजन वन प्रांतर में शकुंतला को दुष्यंत के द्वारा देखे जाने पर शकुंतला विषयालंबन और दुष्यंत आश्रयालंबन विभाव कहा जाएगा।

2. **उद्दीपन विभाव**—वे कारण उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। जिनको देखने पर आश्रय के मन में रत्यादि भाव उद्दीप्त होते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, उद्दीपन वे विभाव हैं, जो रस को उद्दीप्त करते हैं—

उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। —साहित्य दर्पण, 3/31

जैसे—चंद्रोदय, कोकिल कूजन और एकांत स्थल आदि।

विश्वनाथ आलम्बन की चेष्टाएँ, देश और काल को उद्दीपन के कारण मानते हैं—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालाद्यस्तया। —साहित्य दर्पण, पृ. 131

(ख) अनुभाव

जिस प्रकार लौकिक जीवन में कारण के पश्चात् कार्य संपन्न होता है। उसी प्रकार नाट्य एवं काव्य में विभाव के पश्चात् अनुभाव उत्पन्न होते हैं। विभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाले भाव अनुभाव हुए। विभाव यदि सामाजिक हृदय में विद्यमान स्थायी भाव के उद्दीपक कारण है, तो अनुभाव सामाजिक के हृदय स्थायी भाव उत्पन्न होने के पश्चात् अंगादि चेष्टाएँ रूप कार्य! अतः इस प्रकरण में अनुभाव कार्य हुए। आद्यमुनि, वाणी और अंग संचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावाभिव्यंजन को अनुभाव कहते हैं।

धनंजय अनुभाव को विकार और भाव सूचनात्मक मानते हैं—

अनुभावों विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः। —दशरूपक, पृ. 4/3

आचार्य विश्वनाथ उन कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अंगादि व्यापारों का नाम अनुभाव कहते हैं—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिभावं प्रकाशयन्। —साहित्य दर्पण, पृ. 3/132

वे लोक जीवन में अंगादि व्यापार को कार्य और काव्य और नाट्य के क्षेत्र में इन्हें 'अनुभाव' की संज्ञा देते हैं—

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्य नाट्ययोः। —साहित्य दर्पण, पृ. 3/132

अनुभावों के वर्गीकरण में भारतीय काव्यशास्त्रियों ने विविधता का परिचय दिया है। किंतु सभी विद्वानों ने अनुभाव के चार प्रकार स्वीकार किए हैं—

(अ) **कायिक अनुभाव**—शरीर की चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है। जैसे—कटाक्षपात, भ्रू-संचालन आदि कार्य अनुभाव के अंतर्गत आते हैं।

(ब) **वाचिक**—वाणी के द्वारा कठोरता और कोमलता आदि का प्रदर्शन वाचिक अनुभाव के अंतर्गत आएँगे।

(स) **आहार्य**—मन के अनुरूप वस्त्राभूषण, धारण करना आहार्य अनुभाव के अंतर्गत आएगा।

(द) **सात्त्विक**—सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न मनोविकारों को सात्त्विक अनुभाव कहा जाता है। ये सात्त्विक अनुभाव अंतः कारण का एक धर्म विशेष हैं। जिनके द्वारा सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में अवस्थित रत्यादि भावों 'का उद्बोधन होता है। ये सात्त्विक भाव स्तंभ, स्वेदन, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय आठ प्रकार हैं। इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

1. **स्तम्भ**—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन अथवा शरीर के व्यापारों का रुक जाना स्तंभ है। —सा.द., 3/136.
2. **स्वेद**—रीति प्रसंग, आतप, परिश्रम आदि के कारण शरीर से उत्पन्न जल 'स्वेद' है। —सा.द., 3/137.
3. **रोमांच**—हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटों के खड़े हो जाने को रोमांच कहते हैं। —सा.द., 3/137.
4. **स्वरभंग**—मद्यमान, हर्ष, पीड़ा आदि के कारण गले के रुंध जाने का नाम स्वरभंग है। —सा.द., 3/138.
5. **वेपथु**—अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कंकंपी को 'वेपथु' कहा करते हैं। —सा.द., 3/138.
6. **वैवर्ण्य**—विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न वर्ण विकास का नाम 'वैवर्ण्य' अथवा 'विवर्णता' है। —सा.द., 3/139.
7. **अश्रु**—क्रोध, दुःख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न नेत्रजल अश्रु कहलाते हैं। —सा.द., 3/139.
8. **प्रलय**–सुख अथवा दुःख के अतिरेक में चेष्टाशून्यता अथवा ज्ञानशून्यता प्रलय है। —सा.द., 1/139.

TOUCH n PASS

(ग) व्यभिचारी भाव

इनको संचारी भाव भी कहते हैं। सामान्यत: ये भाव किसी एक रस विशेष के न होकर विभिन्न रसों में समाज और स्वच्छंद रूप से विचरण करते हैं। इसलिए इन्हें व्यभिचारी कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वे भाव व्यभिचारी भाव हैं। जो विशेष उत्कृष्टता या अनुकूलता से रत्यादि स्थायीभावों को रसास्वाद में परिणत करते हैं तथा जिन्हें स्थायी भावों के समुद्र में बुलबुलों की भाँति उतरते और डूबते देखा जा सकता है—

विशेषादभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिण:।
स्थायिन्युन्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिटा:। —साहित्य दर्पण, 3/140.

काव्यशास्त्रियों ने व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी है। विविध व्यभिचारी भावों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

1. **निर्वेद**—निर्वेद का तात्पर्य स्वयं को धिक्कारना होता है। यह व्यभिचारी तत्त्व ज्ञान, ईर्ष्या और आपत्ति आदि कारणों से उत्पन्न होता है। इसके होने से दीनता, चिन्ता, अश्रु, विश्वास, विवर्णता और उच्छास आदि उत्पन्न होते हैं।
2. **आवेग**—आवेग का अभिप्राय संभ्रम अथवा घबराहट से है। यह आवेग, हर्षज, उत्पातज, अग्निज, राजविद्रवज, गजादिजन्य, वायुज, इष्टज, और अनिष्टज आदि प्रकारों का होता है।
3. **दैन्य**—दैन्य दुर्गति आदि कारणोत्पन्न निस्तेजस्विता को कहा जाता है। इससे मुखादि मालिन्य होता है।
4. **श्रम**—रति प्रसंग, मार्गगमन आदि कारणों से उत्पन्न खेद को श्रम कहा जाता है। इसके द्वारा निद्रा और श्वास की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।
5. **मद**—संमोह (बेहोशी) और आनंद के मिश्रण को मद कहते हैं। मद के कारण मंदिरा सेवन से उत्पन्न होता है। मद से उल्लास, रुदन और निंद्रा उत्पन्न होती है।
6. **जड़ता**—इष्ट और अनिष्ट के दर्शन तथा श्रवण से उत्पन्न किंकर्त्तव्यविमूढ़ता को जड़ता कहते हैं।
7. **उग्रता**—शौर्य, अपराध और अपकार आदि द्वारा उत्पन्न प्रचण्डता अथवा अत्यधिक असहिष्णुता को उग्रता कहा है। इससे स्वेद, कंपन आदि स्वभावत: उत्पन्न होते हैं।
8. **मोह**-भय, दु:ख, आवेग, अत्यंत चिंतन आदि कारणों से उत्पन्न व्याकुलता को मोह कहते हैं।
9. **विबोध**—नींद के दूर करने के कारणों से उत्पन्न चेतना की पुन: प्राप्ति को विबोध कहा जाता है। इसके होने से, जंभाई, अंगड़ाई, आँख मींचना, अंगों का देखना आदि हुआ करते हैं।
10. **स्वप्न**—निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव को स्वप्न कहा जाता है। इसके द्वारा कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख और दु:ख आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं।
11. **अपस्मार**—ग्रह, भूत-प्रेत आदि के आवेश से उत्पन्न चित्त की विक्षप्तता अपस्मार है। इसके द्वारा पृथ्वी पर लौट पड़ना, कंपकंपी, पसीना निकलना, मुँह से झाग भरना आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं।
12. **गर्व**—प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या और कुलीनता आदि से उत्पन्न मद अथवा घमंड को गर्व कहा जाता है। इसके द्वारा दूसरों की अवज्ञा, नीचा दिखाना और अविनयपूर्ण व्यवहार आदि स्वभावत: दिखायी पड़ते हैं।
13. **मरण**—अंगभंग, शरीर पात आदि के कारण प्राणत्याग मरण कहलाता है। निश्चेष्टता, निर्जीवता इसके अनुभाव हैं।
14. **आलस्य**—परिश्रम अथवा गर्भ धारण आदि कारणों द्वारा उत्पन्न आलस्य है। इन संचारी भाव के द्वारा उत्पन्न होने पर जंभाई बैठा रहना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
15. **अमर्ष**—किसी के द्वारा निंदित अपमानित और धमकाए जाने के कारण चित्त के अत्यंत आग्रह-परिग्रह को अमर्ष कहा जाता है। इस संचारी भाव के द्वारा आँखों का लाल होना, सिर में कंपन, त्यौरी चढ़ना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
16. **निद्रा**—परिश्रम, मन:खेद, मद्यपान आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की निश्चलता अथवा निश्लेष्टता को निद्रा कहा जाता है। इस संचारी के उत्पन्न होने पर जंभाई लेना, आँखें मीचना, उच्छास अंगड़ाई आदि विकार परिलक्षित होते हैं।
17. **अवहित्था**—भय, गौरव और लज्जादि कारणों से उत्पन्न प्रसन्न मुद्रा काम मुद्रा आदि को छिपाना अवहित्थ कहा जाता है।
18. **उन्माद**—काम, शोक और भयादि से उत्पन्न व्यामूढ़ता अथवा चंचलता को उन्माद कहा जाता है।
19. **औत्सुक्य**—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण अधैर्य को औत्सुक्य कहा जाता है।
20. **शंका**—किसी दूसरे के क्रूराचरण और आत्मदोष आदि कारणों से उत्पन्न अनर्थ चिंतन को शंका कहा जाता है। इससे वैवर्ण्य, कम्प, स्वरभंग, इधर-उधर देखना और मुँह सूखना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

TOUCH 'n PASS

21. **स्मृति**—पहले कभी अनुभव में आयी हुई, किसी वस्तु के पुनर्ज्ञान को स्मृति कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति सदृश वस्तु के अनुभव चिंतनादि से संभव है। इससे त्यौरियों का चढ़ना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
22. **मति**—नीतिमार्ग के अनुसरण से वस्तु-तत्त्व के बोध को मति कहा जाता है। इसके उत्पन्न होने पर मुस्कुराहट, धैर्य, संतोष और आत्म-सम्मान आदि स्वभावतः हुआ करते हैं।
23. **व्याधि**—वात, पित्त और कफ आदि कारणों से उत्पन्न रोग को व्याधि कहते हैं। कंपकंपी आदि इसके विकार हैं।
24. **विषाद**—अनर्थ के निवारक उपायों के अभाव में उत्पन्न 'पौरुष हानि' विषाद है। इसके द्वारा विश्वास, उच्छास, चित्त संताप, सहायान्वेष व विकार उत्पन्न होते हैं।
25. **धृति**-यथार्थ ज्ञान और अभीष्ट लाभ आदि कारणों से इच्छाओं की पूर्ति को धृति कहते हैं। इससे उल्लास और हास आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
26. **त्रास**—भयंकर झंझावत, विद्युत्पात और उल्कापात आदि कारणों से उत्पन्न मन की बेचैनी को त्रास कहते हैं। इससे कंप और रोमांच विकार उत्पन्न होते हैं।
27. **व्रीड़ा**—किसी दुराचरण के कारण उत्पन्न धृष्टा के न होने को व्रीड़ा कहते हैं। इससे सिर नीचा होना और मुँह का रंग उड़ना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
28. **हर्ष**—किसी अभिलाषित पदार्थ की प्राप्ति के कारण मन की प्रसन्नता हर्ष है। आनंद के आँसू और गदगद कंठ इसके विकार हैं।
29. **असूया**—स्वभाव की उद्धतता के कारण, दूसरे की गुम समृद्धि के उत्पन्न ईर्ष्या को असूया कहा जाता है। इसमें भौंहों का चढ़ना और उपेक्षा, क्रोध आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
30. **चपलता**—मात्सर्य, राग और द्वेष आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की अस्थिरता को चपलता कहा जाता है।
31. **ग्लानि**—रतिश्रम, अन्यविध परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि कारणों से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता ग्लानि हैं।
32. **चिंता**—अभीष्ट की अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान को चिंता कहा जाता है। शून्यता, ताप और श्वास इसके विकार हैं।
33. **तर्क**—संदेह के कारण उत्पन्न विचार को 'तर्क' कहा जाता है। इससे भौहों का सिकुड़ना, सिर हिलना, अंगुलियों का उठना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विरोध और अविरोध के आधार पर व्यभिचारी भावों के चार भेद किए हैं—

(i) **सुखात्मक व्यभिचारी**—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संताप, चपलता, मृदुलता और धैर्य।

(ii) **दुःखात्मक**—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिंता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असंतोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण और व्याधि।

(iii) **उभयात्मक**—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चपलता।

(iv) **उदासीन**—वितर्क, मति, श्रम, निद्रा और विबोध। —रस मीमांसा, पृ. 200.

स्थायी भाव—सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में स्थित भाव स्थायी भाव कहलाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अन्य रस उपकरणों की भाँति स्थायी भाव को लक्षणबद्ध करने की परंपरा लंबी है। आचार्य विश्वनाथ स्थायी भाव उसे मानते हैं, जो न किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है और न ही प्रतिकूल भाव से दबता है। यह भाव तो अंत तक अवस्थित रहता है और इसी में रस के अंकुरण की मूल शक्ति रहती है—

अविरुद्ध विरुद्धा वायं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीतिः संमतः॥ —साहित्य दर्पण, 3/174.

क्योंकि यही रत्यादि स्थायी भाव-विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, तो उन्हें रस कहा जाता है—

विभावेनानुभावेन व्यक्त संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भाव सन्चेतसाम्॥ —साहित्य दर्पण, 3/1.

अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने स्थायी भावों की संख्या नौ मानी है। ये स्थायी भाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम है—

रतिहासिश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौं भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्समष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपिच॥ —साहित्य दर्पण, 1/75.

TOUCH 'n' PASS

सम्प्रति वत्सल भी स्थायी भाव माना जाता है। इस प्रकार स्थायी भावों की संख्या दस है। इन स्थायी भावों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

1. **रति**—प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उन्मुक्ता अथवा प्रेमार्द्रता को रति स्थायी भाव कहा जाता है। रति शृंगार रस का स्थायी भाव होता है।
2. **हास**—वाणी आदि की विकृतियों के दर्शन अथवा चिंतन से संभूत चित्त विकास 'हास' कहलाता है। यह हास्य रस का स्थायीभाव होता है।
3. **शोक**—प्रिय वस्तु के क्षय से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता 'शोक' है। यह करुण रस का स्थायी भाव है।
4. **क्रोध**—विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न प्रतिशोध की भावना क्रोध है। क्रोध रौद्र रस का स्थायी भाव है।
5. **भय**—किसी भीषण वस्तु की विभीषिका शक्ति से उत्पन्न व्याकुलता स्थायी भाव कहलाता है। भयानक रस का स्थायी भाव है।
6. **उत्साह**—कार्य के आरंभ में हृदय के आवेश उत्साह होता है। उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है।
7. **जुगुप्सा**—विस्मयजन्य घृणाभाव को जुगुप्सा कहा जाता है। यह वीभत्स रस का स्थायी भाव है।
8. **विस्मय**—नाना प्रकार के अलौकिक पदार्थों के दर्शनजन्य चित्त का विस्तार विस्मय है। विस्मय अद्‌भुत रस का स्थायी भाव है।
9. **शम**—निस्पृहताजन्य अंत:करण की अंतर्मुखता शम कहलाती है। यह शांति रस का स्थायी भाव है।
10. **वत्सल**—बड़ों के मन में पुत्र, अनुजादि के प्रति स्नेह और सद्‌भाव वत्सल है। यह वात्सल्य रस का स्थायी भाव है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. भारतीय काव्यशास्त्रों में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्णन वाले आचार्य का क्या नाम है?
(क) आचार्य कुंतक (ख) आचार्य भामह (ग) आचार्य रूय्यक (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) आचार्य रूय्यक

प्र.2. निम्नलिखित में से कौन-सी रचना आचार्य केशवदास की है?
(क) साकेत (ख) चाँद का मुँह टेढ़ा है (ग) कविप्रिया (घ) सड़क के फूल
उत्तर (ग) कविप्रिया

प्र.3. 'रामचरितमानस में अलंकार योजना' ग्रंथ की रचना किसने की है?
(क) डॉ० नगेन्द्र (ख) आचार्य केशव (ग) डॉ० वचनदेव कुमार (घ) आचार्य भिखारीदास
उत्तर (ग) डॉ० वचनदेव कुमार

प्र.4. आचार्य कुंतक ने काव्य के 'प्राण' किसे माना है?
(क) वक्रोक्ति (ख) रस (ग) छंद (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) वक्रोक्ति

प्र.5. साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने नीति को क्या नाम दिया है?
(क) काव्य की आत्मा (ख) पद संघटना (ग) रसानुभूति (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) पद संघटना

प्र.6. पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में रीति को क्या नाम दिया गया है?
(क) व्याख्या (ख) शैली (ग) प्राण (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) शैली

प्र.7. भरत कृत 'रस सूत्र' के प्रथम व्याख्याकार कौन हैं?
(क) भट्‌ट लोल्लट (ख) आचार्य भरत मुनि
(ग) विश्वनाथ (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) भट्‌ट लोल्लट

TOUCH 'n' PASS

प्र.8. श्री शंकुक की दृष्टि में अनुकर्त्ता में कौन-सा भाव नहीं होता?
(क) अनुभाव (ख) विभाव (ग) स्थायी भाव (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) स्थायी भाव

प्र.9. भरत के 'रस सूत्र' के तीसरे व्याख्याता कौन हैं?
(क) भट्ट लोल्लट (ख) भट्ट नायक (ग) श्री शंकुक (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) भट्ट नायक

प्र.10. महिम भट्ट ने ध्वनि सिद्धांत का विरोध करने के लिए किस ग्रंथ की रचना की थी?
(क) व्यक्ति विवेक (ख) नाट्यशास्त्र (ग) न (अ) और न (ब) (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) व्यक्ति विवेक

प्र.11. निम्नलिखित में कौन ध्वनि विरोधी आचार्य नहीं है?
(क) आचार्य कुंतक (ख) प्रतिहारेंदुराज (ग) मुकुट भट्ट (घ) आचार्य निम्बक
उत्तर (घ) आचार्य निम्बक

प्र.12. आचार्य महिमा भट्ट के अनुसार, प्रतीयमान अर्थ किस पर आधारित होता है?
(क) कल्पना (ख) अनुमान (ग) सत्य घटना (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) अनुमान

प्र.13. आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति के कितने भेद माने हैं?
(क) 5 (ख) 8 (ग) 6 (घ) 9
उत्तर (ग) 6

प्र.14. आचार्य कुंतक ने पद पूर्वार्द्ध वक्रता के कितने भेद माने हैं?
(क) 8 (ख) 10 (ग) 5 (घ) 9
उत्तर (घ) 9

प्र.15. वाक्य वक्रता के अंतर्गत आचार्य कुंतक ने किस चीज की विवेचना की है?
(क) दोहों की (ख) रस की (ग) अलंकारों की (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) अलंकारों की

प्र.16. औचित्य को क्या नहीं कहा जा सकता?
(क) काव्य का गूढ़ तत्त्व (ख) काव्य का अति सूक्ष्म तत्त्व
(ग) काव्य की आत्मा (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) काव्य की आत्मा

प्र.17. औचित्य के कितने प्रकार बताइए गए हैं?
(क) 5 (ख) 6 (ग) 8 (घ) 7
उत्तर (ख) 6

प्र.18. संगठन औचित्य में कितनी बातों पर विचार किया जाता है?
(क) 8 (ख) 14 (ग) 4 (घ) 8
उत्तर (ग) 4

TOUCH 'n' PASS

❑

UNIT-III

साहित्यशास्त्रीय अवधारणाएँ

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. 'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन' में काव्य-गुण कौन-सा है?

उत्तर 'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन में" ओज काव्य-गुण है।

प्र.2. काव्य-गुण किसको कहते हैं? काव्य-गुण कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर काव्य की सरस पदावली में स्थित रहकर काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को काव्यगुण कहते हैं। ये माधुर्य, प्रसाद तथा ओज नामक तीन प्रकार के होते हैं।

प्र.3. माधुर्य गुण का एक उदाहरण लिखिए।

उत्तर माधुर्य गुण का उदाहरण—

नील परिधान बीच सुकुमार।
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल।
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

प्र.4. ओज गुण का एक उदाहरण लिखिए।

उत्तर ओज गुण का उदाहरण—

जब तक हैं लक्ष्मण महावाहिनी के नायक
मध्य मार्ग में अंगद, दक्षिण श्वेत सहायक।
मैं, भल्ल सैन्य है वाम पार्श्व में हनुमान।
नल नील और छोटे कपिगण उनके प्रधान।

प्र.5. प्रसाद गुण का एक उदाहरण लिखिए।

उत्तर प्रसाद गुण का उदाहरण—

प्रजा मूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिवौ।
जज्ञन को मूल धन, धन मूल धर्म अरु
धर्म मूल गंगाजल बिन्दु पान करिबौ।

प्र.6. माधुर्य गुण की उदाहरण सहित परिभाषा लिखिए।

उत्तर परिभाषा—जिससे चित्त आह्लाद से द्रवित हो जाए, उस काव्य गुण को माधुर्य कहते हैं।

उदाहरण—प्रीतम छवि नैनन बसी, परछबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिरि जाय।

प्र.7. प्रसाद गुण की परिभाषा दीजिए।

उत्तर परिभाषा—जिस रचना का अर्थ सुनते ही सुनने वाले की समझ में आ जाए वहाँ प्रसाद गुण होता है। जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि तुरन्त व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार चित्त में प्रसाद गुण शीघ्र व्याप्त हो जाता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.8. ओज गुण की परिभाषा दीजिए।

उत्तर जिस काव्य-रचना के पढ़ने अथवा सुनने से पाठक अथवा श्रोता का मन उत्साह से भर उठे, उसमें ओज नामक काव्य-गुण होता है।

प्र.9. प्रसाद गुण किन-किन रसों में प्रयुक्त होता है?

उत्तर प्रसाद गुण सभी रसों में प्रयुक्त होता है किन्तु करुण रस, हास्य रस, शान्त रस तथा वात्सल्य रस में अधिक प्रयुक्त होता है।

प्र.10. ओज गुण किन रसों में प्रयुक्त होता है? ओज रस का एक उदाहरण दीजिए।

उत्तर ओज गुण वीर रस, वीभत्स रस तथा रौद्र रस में पाया जाता है।

उदाहरण—सांस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर... मैं हूँ-
मेवाड़ मैं।

प्र.11. माधुर्य गुण किन-किन रसों से सम्बन्धित है?

उत्तर माधुर्य गुण शृंगार रस, शान्त रस तथा करुण रसों से सम्बन्धित है। वैसे आचार्यों ने माधुर्य को सभी रसों के लिए उपयुक्त माना है।

प्र.12. काव्य गुणों का रसों से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर काव्य-गुणों को रस की आत्मा कहा गया है। काव्य गुण वर्णों, पदों तथा अर्थ के माध्यम से काव्य की सरसता की वृद्धि किया करते हैं।

प्र.13. काव्य दोष किसे कहते हैं?

उत्तर मुख्यार्थ में बाधा पहुँचाने वाले कारकों को काव्य-दोष कहते हैं। काव्य-दोष रसानुभूति में बाधा उत्पन्न करने तथा काव्योद्देश्य में व्यवधान पैदा करने वाले तत्त्वों को कहते हैं।

प्र.14. ग्राम्यत्व काव्य-दोष किसे कहते हैं? ग्राम्यत्व काव्य-दोष का एक उदाहरण लिखिए।

उत्तर जहाँ काव्य में असाहित्यिक, भदेस, लोक प्रचलित, गँवारू शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ ग्राम्यत्व काव्य दोष होता है। ग्राम्यत्व काव्य-दोष का उदाहरण—

वाह रे अकबरा, तेरे जे जे ठाठ।
नीचे दरी और ऊपर खाट?

यहाँ बादशाह अकबर को 'अकबरा', राजसिंहासन को 'खाट' तथा कालीन को 'दरी' कहने से ग्राम्यत्व दोष है।

प्र.15. च्युत संस्कृति दोष किसको कहते हैं?

उत्तर जहाँ काव्य में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करके शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ च्युत संस्कृति दोष होता है।

प्र.16. अश्लीलत्त्व दोष की सोदाहरण परिभाषा लिखिए।

उत्तर जहाँ किसी काव्य में घृणास्पद, अभद्र तथा असंस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है जिनके कारण काव्य में भद्दापन आ जाता है। वहाँ अश्लीलत्व दोष होता है, जैसे—

रावण के दरबार में थिर अंग का पाद।

इस पंक्ति में 'पाद' शब्द का अर्थ पैर है किन्तु यह अपान वायु के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसे पढ़ने से घृणा का भाव पैदा होता है।

प्र.17. क्लिष्टत्व दोष की परिभाषा लिखिए।

उत्तर जहाँ किसी शब्द का अर्थ समझने में कठिनाई होती है और अर्थ-ग्रहण के लिए बौद्धिक व्यायाम करना होता है, वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.18. दुष्क्रमत्व और अक्रमत्व दोषों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर लोक परम्परा. शास्त्रीय विधि के विरुद्ध कोई बात करने से दुष्क्रमत्व दोष होता है। इसमें शास्त्र विरुद्ध क्रम में किसी बात का वर्णन किया जाता है, जबकि अक्रमत्व दोष में वाक्य में शब्दों का क्रम ठीक नहीं होता उसमें विभक्ति चिह्न, अव्यय, उपसर्ग आदि का क्रम ठीक नहीं होता।

प्र.19. काव्य-दोष का काव्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर काव्य-दोष होने पर पाठक अथवा श्रोता को काव्य से रसानुभूति नहीं होती। वह काव्य का आनन्द भली प्रकार नहीं ले पाता। वह काव्य का अर्थ नहीं समझ पाता। मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है।

प्र.20. 'च्युत संस्कृति दोष' का एक उदाहरण दीजिए तथा बताइए कि यहाँ यह दोष किस कारण है?

उत्तर 'च्युत संस्कृति दोष' का उदाहरण—फूलों की लावण्यता देती है आनन्द।
यहाँ 'लावण्यता' शब्द का प्रयोग दोषपूर्ण है। 'लावण्य' कहना ही ठीक है। उसमें 'ता' प्रत्यय जोड़ना ठीक नहीं है।

प्र.21. 'न्यून पदत्व दोष' तथा 'अधिक पदत्व दोष' में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर जहाँ वाक्य-रचना में किसी शब्द की कमी रह जाती है, वहाँ 'न्यूनपदत्व दोष' होता है। इसके विपरीत अधिक पदत्व दोष तब होता है जब कवि कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनके हटा देने पर भी काव्यार्थ ग्रहण में कोई बाधा नहीं आती। ऐसे शब्दों को अधिक पद कहते हैं।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. काव्य के स्वरूप पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक, जटिल और सूक्ष्म है। इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों तथा विचारकों ने समय-समय पर विचार किया है। स्वदेशी-विदेशी विचारकों के इस विषय में जो मत हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. **दण्डी**—इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावलिः काव्यम् (इष्ट अर्थ से युक्त पदों को काव्य कहते हैं।)
2. **मह**—शब्दार्थौ संहितौ काव्यम्। (शब्द और अर्थ सहित रचना को काव्य कहते हैं।)
3. **विश्वनाथ**—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। (रसपूर्ण वाक्य काव्य है।)
4. **मम्मट**—तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। (दोषरहित, गुण सहित तथा यदा-कदा अलंकारविहीन शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।)
5. **पण्डितराज जगन्नाथ**—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। (रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है।)
6. **न्याय-नागीश**—गुणालंकार संयुक्तौ शब्दार्थौ रस भावव्यै नित्यदोष विनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते। (गुण, अलंकार, रस, भाव से युक्त तथा नित्यदोषों से मुक्त शब्दार्थौ को काव्य कहा जाता है।)

उपर्युक्त विचारों में काव्य प्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट का विचार ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आचार्य मम्मट मानते हैं कि वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं जो दोष मुक्त हों गुण युक्त हों, और रसाभिव्यञ्जक हों, वह अलंकृत हों अथवा न हों। 'अलंकृती पुनः क्वापि' कहकर आचार्य मम्मट यह बताना चाहते हैं कि यथासम्भव-शब्दार्थ अलंकृत हों किन्तु यदि कहीं कोई स्पष्ट रूप से अलंकार न हो, तब भी रसपूर्ण होने से काव्यत्व का अभाव नहीं माना जायेगा।

यह नहीं माना जा सकता कि यदि अलंकार नहीं होगा तो काव्य-सौन्दर्य का अनुभव ही नहीं होगा क्योंकि काव्य का सौन्दर्य तो रसादि की अभिव्यक्ति में निहित होता है। आचार्य मम्मट द्वारा बताए उपर्युक्त काव्य-लक्षण पर विचार करें तो दो बातें सामने आती हैं। एक, अदोषों विशेषण द्वारा वह यह व्यक्त करना चाहते हैं कि संसार में कुछ भी तथा कोई भी पूर्णतः निर्दोष नहीं है किन्तु यदि काव्य में कोई भाग ऐसा हो, जिसमें कोई दोष हो किन्तु वह सौन्दर्यानुभूति में बाधक न हो तो उसको अकाव्य नहीं काव्य ही मानना चाहिए।

TOUCH 'n' PASS

आचार्य की उपर्युक्त परिभाषा में 'सगुणौ' शब्द यह प्रकट करता है कि 'गुण' युक्त शब्द और अर्थ ही काव्य के लिए उपयुक्त होते हैं। आचार्य ने रसस्याङ्गिनो धर्माः' कहकर गुणों को रस का धर्म माना है किन्तु यहाँ इन गुणों को शब्दों और अर्थों का गुण बताने का आशय यह है कि भले ही गुण रस का धर्म हो किन्तु रस की व्यजंना शब्दार्थ के द्वारा ही होने से वे शब्द और अर्थ के भी गुण हैं। नागेश ने काव्य के लिए अलंकार, रस तथा भाव को भी आवश्यक माना है। उपर्युक्त परिभाषाओं में 'साहित्य दर्पण' में दी गई आचार्य विश्वनाथ की वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में काव्य के लिए सरसता को आवश्यक माना गया है। उनकी यह परिभाषा मान्य होने के साथ लोकप्रिय भी है।

काव्य के स्वरूप पर आधुनिक हिन्दी साहित्य के विचारकों आचार्य महावीर प्रसार द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुन्दर दास, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द आदि ने भी विचार किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में लिखा है- 'सादगी, असलियत और जोश आदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या। उनके इस कथन पर अंग्रेजी भाषा के कवि मिल्टन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।'

भारतीय ही नहीं पाश्चात्य विचारकों ने भी काव्य-कला पर विचार किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोइटिक्स' में अरस्तू ने कला को अनुकृति कहा है। इसके लिए कल्पना को आवश्यक माना गया है। पाश्चात्य विद्वानों पर अरस्तू का प्रभाव है। इन विचारकों में मैथ्यू आरनाल्ड, वर्ड्सवर्थ, शैक्सपीयर, जॉन मिल्टन, कालरिज, हडसन आदि का नाम लिया जा सकता है।

काव्य के स्वरूप का निर्माण पाँच तत्त्वों के सम्मिलन से होता है—1. शब्द, 2. अर्थ, 3. भाव, 4. कल्पना तथा 5. विचार। इनके संतुलित समन्वय से ही सुन्दर काव्य की रचना होती है। स्मरणीय शब्द तथा भावमय अर्थ से युक्त रचना ही काव्य कहलाती है।

प्र.2. शब्द शक्ति के अन्तर्गत लक्षणा का क्या अभिप्राय है?

उत्तर

लक्षणा

मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण शब्द की जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखने वाले अन्य अर्थ का बोध हो उसे लक्षणा कहते हैं।

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के लिए तीन शर्तें अनिवार्य बतायी हैं—1. मुख्यार्थ; 2. मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का संबंध; 3. रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

1. **मुख्यार्थ-बाध**—अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए मुख्य अर्थ में बाधा पड़ना लक्षणा की पहली शर्त है; अर्थात् वक्ता जिस अर्थ को प्रकट करना चाहता हो उसका मुख्यार्थ से विरोध होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'देवदत्त शेर है' में पशु रूप शेर के मुख्यार्थ में स्पष्ट रूप से बाधा है; क्योंकि देवदत्त चार टांगों वाला एक हिंस्र पशु नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत वाक्य का अर्थ होगा—'देवदत्त वीर है'। यही अन्य अर्धवक्ता का अभीष्ट अर्थ है।
2. **मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का संबंध**—मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर जिस अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है उसमें और मुख्यार्थ में किसी-न-किसी प्रकार का संबंध अत्यन्त आवश्यक है। जैसे—देवदत्त और शेर वीरता का गुण समान होने के कारण दोनों में सादृश्य-संबंध है।
3. **रूढ़ि या प्रयोजन**—मुख्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ के द्योतन में या तो रूढ़ि काम करती है या फिर कोई प्रयोजन। उदाहरणार्थ, देवदत्त को शेर कहने में वक्ता का मुख्य प्रयोजन उसकी अतिशय वीरता को बताना है।

लक्षणा शक्ति जिस अर्थ का बोध कराती है उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं और जो शब्द इस लक्ष्यार्थ को प्रकट करते हैं उन्हें लाक्षणिक या लक्षक पद कहते हैं।

प्र.3. लक्षणा के भेद कौन-से हैं? रुढ़ा लक्षणा को परिभाषित करते हुए इसके भेदों पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

लक्षणा के भेद

लक्षणा के दो मुख्य भेद स्वीकार किये गये हैं—(1) रूढ़ा लक्षणा और (2) प्रयोजनवती लक्षणा।

TOUCH 'n PASS

रूढ़ा लक्षणा और उसके भेद

रूढ़ा लक्षणा—जहाँ किसी रूढ़ि अथवा अति प्रसिद्धि के कारण कोई शब्द किसी लक्ष्यार्थ का बोध कराता है, वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है। रूढ़ि का अर्थ है प्रचलन, रीति या प्राचीन परंपरा। इसे अति प्रसिद्धि भी कह सकते हैं। जब कोई शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर किसी अन्य विशिष्ट अर्थ में प्रचलित हो जाता है तब उसे रूढ़ शब्द कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि 'महेश चौकन्ना है' तो यहाँ 'चौकन्ना' रूढ़ शब्द है। 'चौकन्ना' का मुख्यार्थ है 'चार कानों वाला' पर महेश चार कानों वाला नहीं है, अत: यहाँ मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है। यहाँ 'चौकन्ना' का अर्थ 'अतिरिक्त रूप से सावधान'। कारण यह है कि दो कान वाले की अपेक्षा चार कान वाला विशेष या अधिक सावधान होगा। यहाँ 'चौकन्ना' इसी अर्थ में अर्थात् विशेष सावधान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार 'चौकन्ना' रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण है।

रूढ़ा लक्षणा के भेद—रूढ़ शब्दों पर आधारित लक्षणा रूढ़ा लक्षणा कही जाती है। इसके दो भेद हैं—गौणी और शुद्धा।

1. **गौणी रूढ़ा लक्षणा**—गौणी रूढ़ा लक्षणा में दो बातें अपेक्षित हैं—1. गुण का सादृश्य अर्थात् समानता और 2. रूढ़ि। कहने का भाव यह है कि इसमें मुख्यार्थ के गुणों के (समान) गुण मिलते हैं तथा वह अर्थ रूढ़ भी हो जाता है, इसीलिए इसे गौणी रूढ़ा लक्षणा कहते हैं। इस लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध होता है तथा यह लक्ष्यार्थ रूढ़ि के आधार पर निकलता है। गौणी रूढ़ा लक्षणा का ही उदाहरण है। उदाहरण—

   अपने अंग के जानि कै जोबन नृपति प्रबीन।
   स्तन, मन, जैन, नितंब को बड़ौ इजाफा कीन।। —बिहारी लाल

   प्राचीन काल में प्रबीन (तत्सम प्रवीण प्र + वीणा) उस व्यक्ति को कहा जाता था जो वीणा बजाने में चतुर होता था। बाद में यह शब्द उस व्यक्ति के लिए रूढ़ हो गया जो अन्य कार्यों के करने में भी चतुर हो। प्रस्तुत दोहे में 'प्रबीन' का अर्थ 'चतुर' इसी रूढ़ि के कारण है। मुख्यार्थ 'कुशल वीणा-वादक' और लक्ष्यार्ण 'चतुर नृपति' में 'चातुर्य' का गुण समान होने के कारण सादृश्य-संबंध है। अत: यहाँ 'प्रबीन' का चतुर अर्थ गौणी रूढ़ा लक्षणा के कारण ही संभव हो सकता है।

2. **शुद्धा रूढ़ा लक्षणा**—शुद्धा रूदा लक्षणा में गुणों के सादृश्य की अपेक्षा नहीं होती। इसमें गुण अथवा सादृश्य से भिन्न संबंध अपेक्षित हैं। कहने का भाव यह है कि जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य से भिन्न संबंध तथा रूढ़ि हो, वहाँ शुद्ध रूढ़ा लक्षणा होती है। जैसे—

   डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
   कपि किसोरी दरसि कै खरै लजाने लाल।।

   यहाँ 'ब्रज' का अर्थ है 'ब्रजवासी'। किसी प्रदेश के वासियों के लिए उस प्रदेश का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। अत: यहाँ रूढ़ि है। पुन: मुख्यार्थ 'ब्रज प्रदेश' और लक्ष्यार्थ 'ब्रजवासी' में सादृश्य संबंध न होकर उससे भिन्न आश्रय-आश्रयी भाव संबंध है। प्रदेश आश्रय है और उसके निवासी आश्रयी (आश्रय में रहने वाले) हैं। ऐसी स्थिति में 'ब्रज' का अर्थ 'ब्रजवासी' शुद्धा रूढ़ा लक्षणा के बल पर ही संभव हो सका है। 'जागा जागा पंजाब वीर', 'कलिंग साहसी है' आदि शुद्धा रूढ़ा लक्षणा के ही कुछ और उदाहरण हैं।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. काव्य गुण किसे कहते हैं? इसकी परिभाषा तथा उदाहरण देकर काव्य गुण के प्रमुख भेद का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

काव्य-गुण

गुण काव्य के प्रभाव को बढ़ाते हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं उसी प्रकार काव्य- गुण रस में अवस्थित रहते हैं, वर्गों में नहीं। आचार्य आनन्द वर्धन तथा आचार्य अभिनव गुप्त ने गुणों को रस से अपृथक् सिद्ध रूप में ही माना है। 'काव्य प्रकाश' के रचयिता आचार्य मम्मट ने गुणों को रस का धर्म माना है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शोयोदयः इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्तस्यश्चल स्थितयो गणाः।।

TOUCH 'n' PASS

गुणों की व्यंजना वर्णों अथवा अक्षरों से होती है। किन्तु इस कारण यह नहीं माना जा सकता कि गुण अक्षरों में विद्यमान रहते हैं। गुण रस में रहते हैं, वर्णों में नहीं। गुण नीरस नहीं सरस साधन होते हैं। नीरस शब्दार्थ को सगुण नहीं कहेंगे। उसी प्रकार दोषों के अभाव को गुण नहीं माना जायेगा।

भारतीय काव्य-शास्त्र में भरतमुनि, वामन, मम्मट, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने गुणों के सम्बन्ध में विचार किया है। आचार्यों ने उनको रीति के अन्तर्गत माना है। **आचार्य वामन** के अनुसार, विशेष प्रकार की पदरचना तथा यह गुणों पर आश्रित होती है। आचार्य विश्वनाथ ने दोनों के संयोजन को रीति कहा है। उन्होंने माना है कि रस के उत्कर्ष में वृद्धि करने वाले वर्ण-विन्यास और पद-विन्यास काव्यगुण हैं।

प्रसिद्ध आलोचक **डॉ० नगेन्द्र** का कहना है कि आचार्य दण्डी काव्य के समस्त अवयवों को अलंकार मानते हैं, इस प्रकार गुण भी अलंकार ही हैं।

परिभाषा—गुण, रस के सहायक धर्म हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार गुण, रस के धर्म हैं। गुण काव्य की सरस शब्दावली तथा पदावली में स्थित होकर काव्य की श्रीवृद्धि किया करते हैं।

गुणों की संख्या—गुणों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्य एकमत नहीं हैं। भरत मुनि से पण्डितराज जगन्नाथ तक में मतभेद हैं। भरतमुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है—1. श्लेष, 2. प्रसाद, 3. समता, 4. समाधि, 5. माधुर्य, 6. ओज, 7. सौकुमार्य, 8. अर्थ-व्यक्ति, 9. उदारता तथा, 10. कान्ति।

आचार्य दण्डी ने भी गुणों की संख्या दस ही मानी है। ये दस गुण हैं—1. श्लेष, 2. प्रसाद, 3. समता, 4. माधुर्य, 5. सौकुमार्य, 6. अर्थ व्यक्ति, 7. उदारता, 8. ओज, 9. कान्ति तथा 10. समाधि।

रीतिवादी आचार्य वामन भट्ट ने इसी प्रकार निम्नलिखित दस गुण माने हैं—1. ओज, 2. प्रसाद, 3. श्लेष, 4. समता, 5. समाधि, 6. माधुर्य, 7. सौकुमार्य, 8. सदारता, 9. अर्थ व्यक्ति तथा, 10. कान्ति।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त दस गुणों का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज तथा प्रसाद में किया है तथा कहा है कि गुण केवल तीन ही होते हैं।

'माधुर्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते-न-पुनर्दश।'

माधुर्य, ओज तथा प्रसाद का सम्बन्ध मनुष्य की चित्तवृत्तियों से है। माधुर्य का चित्त के द्रवित होने से, प्रसाद का चित्त को प्रफुल्लित होने से तथा ओज का चित्त के उद्दीप्त होने से है। प्रसाद गुण सभी रसों से भी सम्बन्धित है तथा माधुर्य और ओज गुणों का सम्बन्ध तीन-तीन रसों से है।

गुणों का सम्बन्ध चित्त की वृत्तियों से है। ओज गुण मनुष्य की कठोर वृत्तियों से तथा अन्य कोमल वृत्तियों से सम्बन्धित है। रीतिवादी आचार्य गुणों को रीति से जोड़कर देखते हैं। आचार्य मम्मट दोनों को एक मानते हैं। रीतियों का वर्गीकरण स्थान अथवा देश के आधार पर है। वरयों का आधार रचना के गुण होते हैं। काव्य गुणों से सम्बन्धित वृत्तियाँ तथा रीतियाँ इस प्रकार मानी जाती हैं—

1. माधुर्य गुण-वैदर्भी रीति, उप नागरिका वृत्ति।
2. प्रसाद गुण-पाँचाली रीति, कोमल वृत्ति।
3. ओज गुण-गौड़ी रीति, परुष (कठोर) वृत्ति।

1. **माधुर्य गुण**—माधुर्य शब्द का अर्थ है- मधुरता। जिस गुण के कारण रचना में मधुरता उत्पन्न होती है उसको माधुर्य गुण कहते हैं। माधुर्य गुण वाली रचना के पठन-श्रवण से पाठक तथा श्रोता का मन द्रवित हो उठता है तथा वह आनन्दमय हो उठता है। आह्लाद माधुर्य गुण का प्रमुख भाव है।

   माधुर्य गुण में समास रहित, मधुर तथा कोमल शब्दावली का प्रयोग होता है। इसमें कोमल वर्ण, क वर्ग, च वर्ग, प वर्ग, त वर्ग तथा य, ल, व का प्रयोग अधिक होता है। ट वर्ग तथा लम्बे सामासिक पदों का प्रयोग नहीं किया जाता।

   माधुर्य गुण वैदर्भी रीति से सम्बन्धित है। यह विदर्भ देश के कवियों की रीति है। दण्डी ने इसको सभी गुणों के लिए उपयुक्त माना है। यह उपनागरिका वृत्ति से सम्बन्धित है।

   आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' में माधुर्य गुण की परिभाषा देते हुए लिखा है—

   'चित्त द्रवी भावमयोल्हादो माधुर्यमुच्यते'।

   (जिससे चित्त आह्लालाद से द्रवित हो जाये, वह गुण माधुर्य कहा जाता है।)

TOUCH 'n' PASS

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र' में माधुर्य का अर्थ श्रुतिमधुरता माना है। आचार्य दण्डी माधुर्य का अर्थ रसपूर्णता मानते हैं। आचार्य वामन मानते हैं कि माधुर्य गुण के लिए रचना को सामासिक पदावली से रहित होना चाहिए। आचार्य मम्मट आह्लाद तथा शृंगार रस में द्रवित करने को माधुर्य गुण की विशेषता मानते हैं।

माधुर्य गुण शृंगार, शान्त और करुण रसों में प्रयुक्त होता है। श्रुति मधुरता, समासादि हीनता, आह्लादकता, चित्त की द्रवणशीलता, आर्द्रता आदि माधुर्य के लिए आवश्यक हैं।

भिखारीदास ने माधुर्य गुण के लक्षण बताते हुए लिखा है, यह अनुस्वार तथा कोमल वर्णों से युक्त किन्तु ट वर्ग के वर्णों से रहित होता है।

अनुस्वार औ वर्गजुत, सबै बरन अट वर्ग
अच्छर जामें मदु परै सौ माधुर्य निसर्ग।

उदाहरण-1. सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।।

2. पाकर अहा! उमंग उर्मिला अंग भरे थे।
आली ने हँस कहा—'कहाँ ये रंग भरे थे।।
सुप्रभात है आज स्वप्न की सच्ची माया।
किन्तु कहाँ वे गीत? यहाँ जब श्रोता आया।।

3. नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते।
पर इनसे जब आँसू बहते।
सदय हृदय वह कैसे सहते।
गये तरस ही खाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।

2. **प्रसाद गुण**—प्रसाद शब्द का अर्थ है—प्रसन्नता किन्तु प्रसाद गुण का होना वहाँ माना जाता है जहाँ स्वयं में सुबोधता हो तथा उसका अर्थ सुनते ही समझ में आ जाये। दण्डी के मतानुसार जिस रचना का अर्थ सुनते ही सुनने वाले की समझ में आ जाये, वहाँ प्रसाद गुण होता है। आचार्य मम्मट का कथन है—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्कन्धनामिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

उनका कहना है कि जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि तुरन्त व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार चित्त में शीघ्र ही व्याप्त हो जाने वाला काव्य गुण प्रसाद है।

प्रसाद गुण पाँचाली रीति से सम्बन्धित है। प्रसाद गुण यद्यपि सभी रसों में मिलता है। किन्तु करुण रस, शान्त रस, वात्सल्य रस और हास्य रस में प्रसाद गुण अधिक पाया जाता है। इसमें कोमलकान्त पदावली, वर्गों के पाँचवें वर्णों, क वर्ग, त वर्ग का प्रयोग अधिक होता है। नीति, भक्ति आदि के वर्णन में प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है।

उदाहरण 1. मुनिवर जतनु करहिं जेहि लागी। भूप राजु तजि होंहि बिरागी।
सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया।
जो पिय मानतु मोर सिखावन। सुजसु होई तिहूँ पुर अति पावन।
अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात।।

2. भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल।
धूल भरा मैला-सा आँचल

TOUCH 'n' PASS

गंगा यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।।

3. चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बर तल में।।

3. **ओज गुण-'ओज'** शब्द का अर्थ तेज, दीप्ति, उत्तेजना आदि होता है। जिस रचना के पढ़ने अथवा सुनने से पाठक अथवा श्रोता के मन में आवेग और उत्साह पैदा हो, उसमें ओज गुण का होना माना जाता है।
इसमें द्वित्व, संयक्त तथा परुष वर्णों, रेफ, लम्बे समस्त पदों आदि का प्रयोग होता है। इसमें मर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग होता है। इसका सम्बन्ध गौड़ी रीति तथा परुष वृत्ति से है। इस रीति में ओज गुण, अलंकारों तथा समासों की प्रधानता रहती है। 'ढ' तथा 'ण' का प्रयोग अधिक होता है। वीर, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसों में ओज गुण रहता है।
ओज गुण के बारे में विभिन्न आचार्यों ने विचार किया है। भरत मुनि समस्त गम्भीर अर्थ पूर्ण और श्रवण-सुखद पदावली को ओज गुण के उपयुक्त मानते हैं। दण्डी समस्त पदावली की बहुलता को ओज गुण के लिए आवश्यक मानते हैं। वामन के मतानुसार, संयुक्ताक्षरों और संश्लेषण पदों के वीररस की अपेक्षा वीभत्स रस में तथा वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में ओज गुण अधिक उद्दीप्त होता है। आचार्य विश्वनाथ कठोर वर्गों और संयुक्ताक्षरों के प्रयोग को ओज गुण के लिए जरूरी मानते हैं। उदाहरण—

1. धंसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के विश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास।।
घनीभूत हो चुके पवन, फिर श्वासों की गति होती रुद्ध।
और चेतना थी, बिलखती दृष्टि विकल होती थी क्रुद्ध।।
2. हयरुण्ड गिरे, गज झुण्ड गिरे,
कटकट अवनी पर शुण्ड गिरे।
भू पर हय विकल वितुण्ड गिरे,
लड़ते-लड़ते अरि झुण्ड गिरे।

प्र.2. काव्य दोष से क्या अभिप्राय है? इसके प्रकारों का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।

उत्तर

काव्य-दोष

काव्य का जितना गुण युक्त होना आवश्यक है, उतना ही दोष मुक्त होना भी। कविता के बाह्य तथा अन्तरंग दोनों ही रूपों को प्रभावशाली होना चाहिए। बाह्य रूप से तात्पर्य कविता के वर्णों, पदों, शैली आदि विशेषताओं से है तथा अन्तरंग रूप उसमें व्यंजित भाव और कल्पना को माना जायेगा। जब ये दोनों ही रूप सब प्रकार दोष रहित होते हैं, तभी काव्यकार अपनी बात सहृदयों तक सफलतापूर्वक पहुँचा पाता है तथा सहृदय भी उसको आत्मसात करने में सफल होते हैं।
अच्छी कविता वह है जिसमें व्यक्त भावों को पाठक या श्रोता बिना विशेष प्रयास के सरलतापूर्वक ग्रहण करने में समर्थ हो। सरसता कविता का प्राण है। काव्य की सरसता में जिन तत्त्वों के कारण बाधा उत्पन्न होती है तथा सहृदय को उसकी रसानभूति से वंचित होना पड़ता है, उन तत्त्वों को काव्य-दोष कहा जाता है। जिस प्रकार सुस्वादु भोजन से शरीर तृप्त होता है, उसी प्रकार रसपूर्ण काव्य से चित्त अनुरंजित होता है। काव्य दोष मीठी खीर में मिल जाने वाले लवण के समान होते हैं, जो काव्यानन्द को कम या नष्ट कर देते हैं।
काव्य के मुख्यार्थ में बाधा उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को आचार्यों ने काव्य-दोष कहा है—'मुख्यार्थ-हति दोषः। भामह, वामन, मम्मट आदि सभी आचार्यों ने काव्य-दोष पर विचार किया है। **वामन** के अनुसार, काव्य-सौन्दर्य को क्षति पहुँचाने वाले तत्त्व काव्य-दोष होते हैं। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता **आचार्य मम्मट** कहते हैं कि मुख्यार्थ का अपकर्ष करने वाले तत्त्व काव्य-दोष हैं। काव्य का उद्देश्य रसानुभूति है। इसमें बाधा आने से मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है। रस में बाधा तीन प्रकार की होती है। देर से रस

TOUCH 'n PASS

की अनुभूति होना, रसानुभूति में बाधा होना तथा रस की अनुभूति होना ही नहीं। रसानुभूति के बाधक यही तत्त्व काव्य-दोष कहे जाते हैं।

परिभाषा—जिस तत्त्व के कारण कविता के अर्थ को समझने में बाधा उत्पन्न होती है और काव्य-सौन्दर्य का अपकर्ष होता है, उसको काव्य-दोष कहते हैं। काव्य की रसानुभूति में बाधक तत्त्वों को काव्य-दोष कहा जाता है।

काव्य-दोषों के प्रकार—काव्य-दोषों की कोई निश्चित संख्या नहीं है।

काव्य के अर्थ को समझने में सामान्यत: चार प्रकार की बाधाएँ होती हैं। काव्यार्थ को व्यक्त करने में शब्द, वाक्य, रस और अर्थ महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं। काव्यार्थ की व्यंजना में आने वाली बाधाएँ इनसे ही सम्बन्धित होती हैं। इनको शब्द दोष, वाक्य दोष, रस दोष तथा अर्थ दोष कह सकते हैं।

1. **शब्द दोष**—वर्णों अथवा शब्दों के प्रयोग में असावधानी होने पर जब अर्थ का बोध होने से पहले ही दोष जान पड़े, वहाँ शब्द-दोष होता है। शब्द-दोष निम्नलिखित होते हैं—

श्रुति कटुत्व दोष—जब किसी कविता के पढ़ने अथवा सुनने मात्र से कानों में कटुता अथवा कड़वापन उत्पन्न हो जाये तो वहाँ श्रुति कटुत्व दोष होता है। कोमल रसों के वर्णन में कठोर वर्गों के प्रयोग से श्रुति कटुत्व दोष उत्पन्न होता है। उदाहरण—

देखत कबु कौतुक इतै, देखौ नेकु विचारि।
कब की इकटक डटि रही, टटिया अँगुरिन डारि।।

उपर्युक्त दोहे में नायिका टटिया को अँगुलियों से हटाकर नायक को देख रही है। शृंगार रस के इस वर्णन में ट वर्ग के वर्गों के प्रयोग के कारण श्रुति कटुत्व दोष है।

च्युत संस्कृति दोष—जब किसी शब्द के प्रयोग में व्याकरण सम्बन्धी दोष होता है तब भाषा के संस्कार से गिरने के कारण वहाँ च्युत संस्कृति दोष होता है। उदाहरण—

मरम बचन सीता जब बोला।
हरि प्रेरित लछमन मन डोला।

'बोला' क्रिया पुल्लिंग की है। उसका प्रयोग सीता के लिए होना व्याकरण का दोष है। यह च्युत संस्कृति दोष है। ग्राम्यत्व दोष जब कवि की भाषा में ग्रामीण भाषा अथवा बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग होता है तो उसमें ग्राम्यत्व दोष माना जाता है। उदाहरण—

खोपरी पै परति पन्हैयाँ ब्रज नारिन की।

इस पंक्ति में कवि ने 'खोपरी' और 'पन्हैयाँ' जैसे ग्राम्य शब्दों का प्रयोग किया है। अत:, यहाँ ग्राम्यत्व दोष है।

अश्लीलत्व दोष—जब कविता में अभद्रतासूचक, असाहित्यिक, लज्जाजनक शब्दों का प्रयोग होता है तो वहाँ कविता में भद्दापन उत्पन्न हो जाता है। उसके पढ़ने से घृणा का भाव उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में वहाँ अश्लीलत्व दोष होता है। उदाहरण—

दस्त से खाना खिलाया।
मैंने अपने यार को।।
प्यास जब उसको लगी।
पेशाब मैंने कर दिया।

यहाँ दस्त (हाथ) तथा पेशाब (पानी पेश करना) अभद्रतापूर्ण प्रयोग होने के कारण घृणा पैदा कर रहे हैं। अत: अश्लीलत्व दोष है। क्लिष्टत्व दोष है।

जहाँ किसी शब्द का अर्थ आसानी से समझ में न आये वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है। उदाहरण—

कहत कत परदेशी की बात।
मन्दिर अरध अवधि बदि हमसौं हरि अहार चलि जात।।
वेद, नखत, ग्रह जोरि अरध करि सोई बनत अब खात।

TOUCH 'n PASS

यह सूरदास जी का कूट पद है। इसमें गोपियों की विरह दशा का वर्णन है। गोपियाँ कहती हैं उस परदेशी श्रीकृष्ण की बात मत पूछो। वह हमसे मन्दिर अरध अर्थात् एक पक्ष का पन्द्रह दिन में लौटकर आने की बात कह कर गए थे। परन्तु अब तो हरि अहार (सिंह का भोजन, मांस) अर्थात् एक महीना बीतने वाला है। अब तो वेद (4) नक्षत्र (27) तथा ग्रह (9) को जोड़कर, उसका आधा करके (4 + 27 + 9 = 40 का आधा 20) जो बनेगा वही हम खा लेंगी। बीस का अर्थ विष लिया गया है। अर्थ ग्रहण में कठिनाई के कारण इस पद में क्लिष्टत्व दोष है।

2. **वाक्य दोष**—जहाँ किसी वाक्य अथवा वाक्यांश की रचना दोषपूर्ण होती है, तो वहाँ वाक्य दोष माना जाता है। उसके प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं—

न्यूनपदत्व दोष—जहाँ वाक्य की रचना में किसी शब्द की कमी रह जाती है, वहाँ न्यूनपदत्व दोष होता है। न्यूनपदत्व का अर्थ है- पद या शब्द की कमी होना। इसमें अर्थ निकालने के लिए पाठक को कुछ शब्द अपनी ओर से जोड़ने पड़ते हैं।

उदाहरण—पानी, पावक, पवन, प्रभु ज्यों असाधु त्यों साधु।।

इस पंक्ति का अर्थ है पानी, अग्नि, वायु तथा ईश्वर सज्जन तथा असज्जन सभी के प्रति समता का व्यवहार करते हैं। किन्तु यह अर्थ प्राप्त करने के लिए पाठक को अपनी ओर से कुछ पद जोड़ना आवश्यक है। अत: यहाँ न्यूनपदत्व दोष है।

अधिकपदत्व दोष—जब, काव्य में कवि कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनको हटा देने पर भी काव्यार्थ ग्रहण में कोई बाधा नहीं होती, वहाँ अधिकपदत्व दोष होता है।

उदाहरण—पुष्प पराग से रंगकर भ्रमर गुंजारता है।

उपर्युक्त पंक्ति में 'पुष्प' शब्द को हटा देने पर भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'पुष्प' का प्रयोग अधिक होने के कारण अधिकपदत्व दोष है।

अक्रमत्व दोष—जब वाक्य में शब्दों का क्रम ठीक नहीं होता वहाँ अक्रमत्व दोष होता है। यह दोष विभक्ति चिह्न, अव्यय, उपसर्ग आदि का क्रम भंग होने से होता है।

उदाहरण—ऐसे देना प्रकट दिखला नित्य आशंकिता हो।

इस पंक्ति में 'देना' शब्द 'दिखला' शब्द के पश्चात् आना चाहिए अत: इसमें अक्रमत्व दोष है।

पुनरुक्त दोष—जहाँ एक ही अर्थ वाले शब्दों का पुन: अनावश्यक प्रयोग होता है, वहाँ पुनरुक्त दोष होता है। उदाहरण—

कोमल वचन सभी को भाते।
अच्छे लगते मधुर वचन।।

उपर्युक्त में 'भाते' तथा 'अच्छे लगते' का एक ही अर्थ है। अत: पुनरावृत्ति होने के कारण यहाँ पुनरुक्त दोष है।

3. **अर्थ दोष**—जब काव्य का अर्थ ग्रहण करने में बाधा हो तो वहाँ अर्थ दोष होता है। अर्थ दोष निम्नलिखित हैं

दुष्क्रमत्व-दोष-जहाँ शास्त्रों अथवा परम्परा में प्रसिद्ध क्रम के विपरीत किसी बात का वर्णन होता है, वहाँ दुष्क्रमत्व दोष होता है। उदाहरण—मारुत नन्दन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायौ।

उपर्युक्त पंक्ति में दुष्क्रमत्व दोष है क्योंकि मन को सही क्रम में नहीं रखा गया है। मन का वेग मारुत तथा खगराज के वेग से अधिक होने के कारण उसको सबसे अंत में रखा जाना चाहिए।

4. **रस दोष**—काव्य रचना का उद्देश्य रसास्वादन है। इसमें किसी तरह का व्यवधान होने पर रस दोष माना जाता है। भाव, विभाव और संचारी भावों का उचित विवेचन न होना अर्थात् उनका प्रतिकूल अवस्था में चित्रण होना भी रस दोष है। जैसे-शृंगार रस के वर्णन में करुण रस का होना भी रस दोष है।

उदाहरण— खेलो आज होरी, गोरी करत निहोरी हम,
पल को पतौ न यहाँ कालि कहा होइगौ।।

प्रथम पंक्ति में शृंगार तथा द्वितीय पंक्ति में वैराग्य सूचक भाव है। इनको एक साथ नहीं रखा जाना चाहिए। अत: यहाँ रस दोष है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.3. शब्द-शक्ति का अर्थ और उसके प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

शब्द-शक्ति का अर्थ और उसके प्रकार

शब्द के साथ अर्थ का संबंध बहुत पुराना है, शाश्वत है। जिस प्रकार जल और उसकी तरंगें एक-दूसरे से अभिन्न हैं, उसी प्रकार शब्द और उसका अर्थ भी एक दूसरे से अभिन्न है। अर्थयक्त या सार्थक होना शब्दों की एक प्रमुख विशेषता है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक संबंध की चर्चा दार्शनिकों और व्याकरणों ने पहले की। काव्यशास्त्र के आचार्यों को यह चिन्तन उन्हीं से परंपरा के रूप में प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने आगे बढ़ाया। शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है - इस विषय पर विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों ने शब्द की शक्तियों की कल्पना की है। उनके अनुसार शब्द में ऐसी कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है, जिसके द्वारा वह किसी-न-किसी अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होता है। जिस शक्ति के द्वारा शब्द में अन्तर्निहित यह अर्थ प्रकट होता है, उसे 'शब्द-शक्ति' कहते हैं। सरल शब्दों में 'शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को 'शब्द-शक्ति' कहते हैं। शब्द-शक्ति के बिना शब्दार्थ का ज्ञान संभव नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने शब्द-शक्ति को 'शक्ति व्यापार या वृत्ति के नाम से भी पुकारा है, पर अब इन नामों के बजाए 'शब्द-शक्ति' ही अधिक प्रचलित एवं मान्य है।

शब्द-शक्ति के प्रकार

आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

शब्द-शक्तियों पर विचार करते समय हमारे सामने तीन चीजें आती हैं—1. शब्द, 2. शब्द का अर्थ और 3. उस अर्थ को जानने का साधन। शब्द कारण है और उसका अर्थ कार्य। इस कार्य तक पहुँचने का साधन हैं शब्द-शक्तियाँ। इस साधन के बिना शब्द तथा अर्थ के संबंध को समझना या शब्द के निहित अर्थ-संपत्ति को पहचानना कठिन है।

शब्द-शक्तियों का आधार : तीन प्रकार के शब्द—शब्द-शक्तियों के उपरिलिखित तीन भेदों का आधार हैं शब्द। ये भी तीन प्रकार के हैं-वाचक, लक्षक और व्यंजक। जिन शब्दों के सुनने से ही उनके अर्थ का ज्ञान हो जाता है उन्हें वाचक शब्द कहा जाता है। वाचक शब्द का अर्थ जानने के लिए वस्तुओं के विषय में जानकारी का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वाचक शब्द का अर्थ वस्तुओं के संबंध ज्ञान पर आधारित है। उदाहरण के लिए 'गाय' कहते ही आपके सामने गाय नामक पशु का चित्र उपस्थित हो जाता है, जिसकी जानकारी आपको पहले से है। गाय कहते ही गाय के चित्र का आपकी आँखों के सामने उपस्थित होना वस्तओं के विषय में आपके संबंध-ज्ञान से ही संभव होता है। वाचक शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को 'वाच्यार्थ' या 'अभिधेयार्थ' कहते हैं। इसे मुख्यार्थ भी कहा जाता है। शब्दकोश में शब्दों के जो अर्थ दिये रहते हैं वे उस शब्द के मुख्यार्थ ही होते हैं।

व्यावहारिक जीवन में कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रयोग इस रूप में भी कर दिया जाता कि शब्द के मुख्य अर्थ से काम नहीं चलता-उसमें बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसी स्थिति में हमें उस शब्द का कोई अन्य अर्थ ग्रहण करना पड़ता है जो मुख्य अर्थ से किसी-न-किसी रूप में संबद्ध होने पर भी उससे भिन्न होता है। इस प्रकार हमें जो अर्थ प्राप्त होता है उसे 'लक्ष्यार्थ' या लाक्षणिक अर्थ कहते हैं तथा जिस शब्द से इस प्रकार का अर्थ प्राप्त होता है उसे लक्षक शब्द कहते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वाचक 'शब्द हमेशा वाचक ही नहीं रहता। कभी-कभी वह लक्षक भी हो जाता है। शब्द का वाचक या लक्षक होना उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए आप 'गाय' शब्द को ही लें। जब कोई कहता है कि 'गाय काली है' तो आप समझ लेते हैं कि यहाँ 'गाय' वाचक शब्द है और इसका अर्थ है दूध देने वाला एक पशु विशेष। इसके विपरीत जब कोई यह कहता है कि 'हमारी लड़की तो गाय है गाय', तो 'गाय' का प्रयोग पशु-विशेष के अर्थ में नहीं रहता। यहाँ मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित हो जाती है तथा आपको उससे संबद्ध कोई दूसरा अर्थ खोजना पड़ता है। तब आप कहने वाले के अभिप्राय को इस रूप में ग्रहण कर लेते हैं कि जैसे गाय सीधी-सादी और पवित्र होती है वैसे ही यह लडकी भी सीधी-सादी और पवित्र है। यहाँ 'गाय' लक्षक शब्द में प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ है सीधी-सादी एवं पवित्र गाय। शब्द का यह अर्थ 'लक्ष्यार्थ या 'लाक्षणिक अर्थ' है। इस प्रकार आप यह समझ सकते हैं कि लक्षक शब्द से प्राप्त होने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ या लाक्षणिक अर्थ कहते हैं।

कुछ शब्दों का प्रयोग इस रूप में किया जाता है कि न तो वाच्यार्थ से आपका काम चलता है, न लक्ष्यार्थ से ही। उस शब्द का अर्थ उन दोनों से ही भिन्न होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई अध्यापक किसी वज्र मूर्ख छात्र से यह कहे कि 'तुम तो साक्षात् बृहस्पति का अवतार हो', तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह छात्र वास्तव में देवताओं का गुरु है या उनके गुरु बृहस्पति के समान

विद्वान् हैं। इसके विपरीत उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि वह छात्र वज्र मूर्ख या निरा बुद्धू है। इस प्रकार जो शब्द वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं। उन्हें 'व्यंजक' शब्द कहते हैं और इस शब्द के द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं।

प्र.4. अभिधा से आप क्या समझते हैं? इसके अन्तर्गत संकेत ग्रह और वाचक शब्दों के प्रकारों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

अभिधा

शब्द की अग्रिम या प्राथमिक शक्ति 'अभिधा' है। शब्द की जिस शक्ति से संकेतित, प्रसिद्ध या मुख्य अर्थ का बोध हो, उसे अभिधा कहते हैं। मुख्यार्थ का बोध कराने के कारण उसे मुख्या भी कहते हैं और स्पष्ट शब्दों में अभिधा के द्वारा शब्द के सामान्य या लोकप्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान होता है।

(क) संकेत ग्रह

शब्द के संकेतित, प्रसिद्ध या मुख्यार्थ का ज्ञान कैसे हो इसके लिए साहित्य शास्त्रियों ने अनेक साधन बताये हैं। शब्द के संकेतित अर्थ को सुनिश्चित करने के इन साधनों या उपायों को 'संकेतग्रह' कहते हैं। 'संकेतग्रह' के ही द्वारा शब्द तथा अर्थ के संबंध का ज्ञान होता है। संकेतग्रह के आठ साधन बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं–व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्यशेष तथा विवृति।

1. **व्याकरण**—किसी शब्द की निर्मिति कैसे हुई है, वह कैसे व्युत्पन्न हुआ है, इसका ज्ञान व्याकरण के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में कौन-सा शब्द किस धातु (प्रकृति) से बना है तथा उसमें कौन-सा प्रत्यय लगा है, इसका ज्ञान व्याकरण से ही हो सकता है। बहुत से शब्दों का अर्थ प्रकृति-प्रत्यय के इसी ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान व्याकरण से ही संभव है। उदाहरण के लिए 'वैयाकरण' का अर्थ होगा 'व्याकरण को जानने वाला' या इसी प्रकार 'सांसारिक' का अर्थ होगा 'संसार में उत्पन्न'। इन शब्दों के इस अर्थ की जानकारी का आधार व्याकरणशास्त्र है।
2. **उपमान**—उपमान का अर्थ है समानता। इसे सादृश्य भी कहते हैं। इसमें संकेतग्रह के लिए किसी जानी-पहचानी वस्तु को बताकर मिलती-जुलती किसी अन्य वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किसी को नील गाय का ज्ञान कराने के लिए यह कहा जाए कि जैसे गाय वैसे ही नीलगाय। नीलगाय का ज्ञान कराने के लिए यहाँ उपमान या सादृश्य का सहारा लिया गया है।
3. **कोश**—कुछ शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ हमें ज्ञात नहीं होता। ऐसे शब्दों के अर्थ की जानकारी के लिए हमें कोश की सहायता लेनी पड़ती है। मान लीजिए कि हमने यह वाक्य पढ़ा–मार को भगवान शिव ने जलाया। यहाँ 'मार' का अर्थ जानने के लिए हमें शब्दकोश की सहायता लेनी पड़ेगी, तभी यह स्पष्ट होगा कि 'मार' का अर्थ है कामदेव।
4. **आप्तवाक्य**—किसी बालक को प्रारंभ में उसके माता-पिता या गुरुजनों से ही शब्दार्थ का बोध होता है। ये प्रामाणिक व्यक्ति हैं और बालक इनके कथनों को ठीक मानता है। सीधे शब्दों में आप्तवाक्य का अर्थ है प्रामाणिक या अधिकारी व्यक्ति का कथन। उदाहरण के लिए यदि किसी शिशु को उसकी माँ गाय दिखाकर यह कहे कि यह गाय है तो शिशु उस पर विश्वास कर गाय का बोध ग्रहण करता है। इस प्रकार आप्तवाक्य भी अर्थबोध का एक साधन है।
5. **व्यवहार**—व्यवहार भी संकेतग्रहण का एक साधन है। छोटे-छोटे शिशु अपने माता-पिता के व्यवहार से अनेक वस्तुओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं।
6. **प्रसिद्ध पद (शब्द) का सान्निध्य**—जब किसी शब्द के साथ कोई प्रसिद्ध पद (शब्द) रहता है, तो उसी के कारण शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि 'रामकृष्ण आ रहे हैं' तो यहाँ कृष्ण के साथ होने से रामकृष्ण का अर्थ होगा बलराम, न कि सीतापति राम।
7. **विवृति**—विवृति का अर्थ है—व्याख्या, विवरण, स्पष्टीकरण या टीका। इसके अन्तर्गत किसी अन्य समानार्थक शब्द का समावेश भी है और खुलासे का भी। उदाहरण के लिए 'पट' के समानार्थक 'वस्त्र' से इस शब्द की विवृति की जा सकती है।

TOUCH 'n' PASS

8. **वाक्यशेष**—जब किसी वाक्य के किसी शब्द का संकेत (अर्थ ग्रहण) किसी अन्य वाक्य पर निर्भर करता है तो वहाँ वाक्यशेष माना जाता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि 'वसंत में सब शस्यों के पत्ते गिर जाते हैं, पर जौ फैले रहते हैं' तो यहाँ 'जौ' का संकेतग्रह 'वाक्यशेष' के आधार पर होगा।

(ख) वाचक शब्दों के प्रकार

अभिधा शक्ति का संबंध वाचक शब्दों के साथ है। अभिधा शक्ति के द्वारा जिन शब्दों के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उन्हें वाचक कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं-रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

1. **रूढ़**—वे शब्द जिनका विश्लेषण संभव नहीं होता तथा जिनका अर्थ-बोध समुदाय-शक्ति के द्वारा होता है, रूढ़ शब्द कहलाते हैं। कहने का भाव यह है कि रूढ़ शब्द समूचे ही अर्थ प्रकट करते हैं—इनकी न तो व्युत्पत्ति संभव होती है, न इनके टुकड़ों का पृथक्-पृथक् अर्थ ही। गढ़, घोड़ा, पेड़, पौधा, दण्ड आदि ऐसे ही रूढ़ शब्द हैं।
2. **यौगिक**—वे शब्द जिनका विश्लेषण संभव हो तथा जिनके प्रत्येक अवयव का पृथक् अर्थ भी हो, यौगिक कहलाते हैं। ये शब्द प्रवृति और प्रत्यय के योग से निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम 'भूपति' शब्द को देखें तो पायेंगे कि इसमें भू का भी अर्थ है और पति का भी। भू का अर्थ है धरती तथा पति का अर्थ है स्वामी। इन दोनों के योग से इस शब्द का अर्थ होगा धरती का स्वामी और राजा धरती का स्वामी होता है, अत: भूपति का अर्थ हुआ राजा। यह यौगिक शब्द है। इस प्रकार के कुछ और शब्द हैं—दिवाकर, सुधांशु, नरेश, रमेश, उमेश आदि।
3. **योगरूढ़**—वे शब्द जिनकी संरचना यौगिक शब्दों की तरह हो पर जो अर्थबोध में रूढ़ शब्दों के समान हों अर्थात् जिनका अर्थ रूढ़ हो, समूचा और अखण्ड हो, योगरूढ़ कहलाते हैं। कहने का भाव यह है कि इन शब्दों की निर्मिति तो प्रकृति और प्रत्यय के योग से होती है पर इनका अर्थज्ञान समुदाय-शक्ति के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए यदि हम 'वारिज' शब्द को देखें तो इसकी व्युत्पत्ति होगी 'वारि + ज' अर्थात् जल में जन्म लेने वाला या उत्पन्न। यदि इस शब्द को यौगिक मानें तो इससे सीपी, घोंघे, शंख, मेंढक, मछली आदि का भी बोध होने लगेगा, पर इस शब्द का अर्थ है कमल, जो रूढ़ है। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से यौगिक होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से यह रूढ़ है, अत: यह योगरूढ़ है। जलज, अम्बुज, पंकज, पीताम्बर, घनश्याम, पशुपति आदि ऐसे ही योगरूद शब्द हैं।

   रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ शब्दों का कविजन अपनी रचनाओं में सौन्दर्य की सृष्टि के लिए निर्बाध प्रयोग करते हैं। कभी-कभी, कुछ ऐसे काव्यात्मक उद्धरण भी दिखलायी पड़ जाते हैं कि जिनमें एक साथ ही रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ शब्दों का प्रयोग हुआ रहता है। ऐसा एक उदाहरण देखिए—

   नूपुर सिंजित चारु, अरुन बरन अम्बज सरिस।
   भुज मृनाल अनुहार, बदन सुधाकर सम रुचिर।।

   इसमें 'नूपुर' शब्द रूढ़, 'सुधाकर' यौगिक तथा 'अम्बुज' योगरूढ है। उक्त सोरठा में इन तीनों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यह अभिधा का काव्यात्मक उदाहरण है। अभिधा में सौन्दर्य का अभाव नहीं है। अनेक महाकवियों ने अपनी काव्यात्मक रचनाओं में शब्द की इसी शक्ति से अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि की है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के सुप्रसिद्ध गीत 'दोनों और प्रेम पलता है' की निम्नांकित पंक्तियाँ इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं—

   बचकर हाय! पतंग करे क्या?
   प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या?
   जले नहीं तो मरा करे क्या?
   क्या यह असफलता है?

निश्चय ही इन पंक्तियों की रमणीयता का आधार शब्द की अभिधा शक्ति है। हिन्दी-कविता ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी है।

TOUCH 'n PASS

प्र.5. प्रयोजनवर्ती लक्षणा को परिभाषित करते हुए इसके भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रयोजनवती लक्षणा और उसके भेद

प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। लाक्षणिक शब्द के प्रयोग की आवश्यकता तभी पड़ती है, जब अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि वाचक शब्द के प्रयोग द्वारा संभव नहीं होती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जहाँ मुख्यार्थ में बाधा हो और लक्ष्यार्थ के ग्रहण में कोई प्रयोजन भी निहित हो, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए यदि कहें—'गंगायाँ घोषः' अर्थात् 'गंगा पर घर है—तो यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होगी। कारण यह कि घर नदी के प्रवाह पर नहीं हो सकता, अतः मुख्यार्थ में बाधा है। ऐसी स्थिति में लक्ष्यार्थ होगा 'गंगा के किनारे पर घर' और इस लक्ष्यार्थ के पीछे शीतलता, पवित्रता आदि की प्रयोजन है। वक्ता कहना चाहता है कि जो शीतलता, पवित्रता गंगा नदी में है, वही इस घर में भी है।

प्रयोजनवती लक्षणा के भेद—सादृश्य या समानता के आधार पर प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद किये गये हैं—गौणी प्रयोजनवती लक्षणा तथा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा। इस विभाजन का मूलाधार सादृश्य है। इसके लिए एक अन्य प्रचलित शब्द 'उपचार' भी है अर्थात् 'सादृश्य' कहें या 'उपचार', बात एक ही है। यहाँ सादृश्य या उपचार को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ दो अत्यंत भिन्न पदार्थ एकता का आभास देने लगते हैं और उस सादृश्यातिशय के कारण उनके भेद की ओर ध्यान नहीं जाता वहाँ सादृश्य या उपचार माना जाता है। जहाँ सादृश्य या उपचार के आधार पर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता था वहाँ गौणी लक्षणा होती है और जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त किसी अन्य संबंध के आधार पर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ शुद्धा होती है। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के प्रथम दो भेद हैं-गौणी और शुद्धा। प्रयोजनवती गौणी के फिर दो भेद किये गये हैं—सारोपा और साध्यवसाना। प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद हैं—सारोपा, साध्यावसाना, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के कुल छह भेद हैं जिन्हें नीचे दिये गये रेखाचित्र की सहायता से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

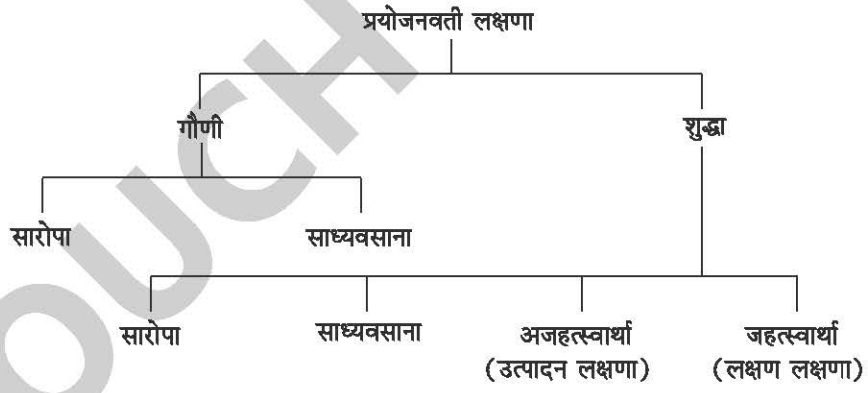

पद के प्रयोग की आवश्यकता तभी पड़ती है जब अभीष्ट प्रयोजन का बोध वाचक शब्द के द्वारा असम्भव हो उठता है। प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेद हैं—

1. **प्रयोजनवती गौणी सारोपा**—लक्षणा के इस भेद को समझने के लिए पहले 'आरोप' का अर्थ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। पृथक् पृथक् उपादान करते हुए विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) के प्रभेद वर्णन को 'आरोप' कहते हैं। इसमें विषय और विषयी की एकरूपता प्रतीत होती है। प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजन को बताने के उद्देश्य से मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध के आधार पर आरोपपूर्वक अर्थात् विषय और विषयी दोनों का पृथक्-पृथक् उपादान करते हुए लाक्षणिक पद का प्रयोग किया गया हो। उदाहरण—

   अति आनन्द उमंगि अनुरागा।
   चरन सरोज पखारन लागा।।

TOUCH 'n PASS

इन पंक्तियों में 'चरन' विषय और 'सरोज' विषयी का पृथक्-पृथक् शब्दों से उपादान करते हुए उनके प्रभेद का वर्णन है। अत: सारोपा है। कोमलता, रक्ताभा आदि विषय और विषयी, दोनों के ही एक समान गुण हैं। अत: सादृश्य-संबंध के कारण गौणी हुई। राम के चरणों की अतिशय मृदुता को बताना कवि का मुख्य प्रयोजन है। अत: प्रयोजनवती है। कुल मिलाकर 'चरन-सरोज' में प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षणा है।

2. **प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना**—इस लक्षणा को समझने के लिए भी 'अध्यवसान' को समझना अनिवार्य है। जब 'विषय' अर्थात् उपमेय का पृथक निर्देश न किया जाये और फिर भी 'विषयी' अर्थात् उपमान के साथ उसका अभेद वर्णन हो तब उसे अध्यवसान कहते हैं। इसमें उपमान उपमेय को अपने से सर्वथा लीन कर लेता है। अत: उसके पृथक् उपादान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

जहाँ प्रयोजन-विशेष के कथन की लालसा मे, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध बनाये रखकर, वक्ता ने विषय का पृथक् कथन न किया हो, वहाँ प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना होती है। जैसे—

आचार्य! देखो तो नया वह सिंह सोते से जगा। —जयद्रथ-वध, मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ पर 'सिंह' विषय ने 'अभिमन्यु' विषयी का सर्वथा अध्यवसान कर लिया है। साथ ही दोनों का अभेद वर्णन भी है। अत: साध्यवसाना है। मुख्यार्थ 'शेर' और लक्ष्यार्थ 'अभिमन्यु में वीरता का गुण समान होने के कारण सादृश्य-संबंध हुआ। अत: गौणी है अभिमन्यु की अतिशय वीरता की व्यंजना विशेष प्रयोजन है। अत: प्रयोजनवती है। समग्रत: यहाँ 'सिंह' में प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणा कार्य कर रही है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है और वह यह है कि गौणी सारोपा रूपक अलंकार का और गौणी साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति अलंकार का मूल है।

3. **प्रयोजनवती शुद्ध सारोपा**—इसमें प्रयोजनपूर्ण आरोप होता है और वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्येतर संबंध होता है जैसे—

मो सम्पति यदुपति सदा, विपति विदारन हार।

यहाँ पर कवि ने यदुपति को अपनी सम्पत्ति बताया है, अर्थात् 'यदुपति' पर सम्पत्ति का आरोप है। इस प्रकार विषय 'यदुपति' और विषयी 'सम्पति' का पृथक-पृथक कथन होने और दोनों में अभेद वर्णन होने से सारोपा है। यदुपति ही कवि की सम्पत्ति के मूल कारण है अत: कार्य-कारण-संबंध होने से यहाँ शुद्धा है। यदुपति को ही अपना सर्वस्व बताना कवि का मुख्य प्रयोजन है, अत: प्रयोजनवती है। स्पष्ट है कि यहाँ पर प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा लक्षणा है।

4. **प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना**—इसमें उपमान में उपमेय का अध्यवसान हो जाता है। प्रयोजन तो रहता ही है। साथ ही मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य से भिन्न संबंध होता है। उदाहरण—

जनलोचन आनंद बसत ब्रज-बीथिन के बीच।

इस उदाहरण में 'जनलोचन आनंद' कृष्ण का उपमान है, उपमेय कृष्ण का कथन किये बिना ही उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन होने से साध्यवसाना है। शुद्धा यहाँ इसलिए है कि 'संसार के लोगों के नेत्रों का आनन्द' रूप वाच्यार्थ और 'संसार के लोगों के नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले कृष्ण रूप लक्ष्यार्थ में कार्य-कारण-संबंध है। अत: प्रस्तुत उदाहरण के 'जनलोचन आनंद' में प्रयोजनवती श्रद्धा साध्यवसाना लक्षणा का चमत्कार है।

5. **प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था**—यहाँ प्रयोजन तथा सादृश्येतर संबंध यथावत् विद्यमान रहते हैं। अन्तर केवल यह होता है कि लाक्षणिक पद स्वार्थ (मुख्यार्थ) का सर्वथा त्याग नहीं करता। इसीलिए इसे अजहत्स्वार्थी नाम दिया गया है-अ + जहत् + स्वार्था = स्वार्थ का त्याग न करना। यहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में स्वार्थ अर्थात् मुख्यार्थ को भी ग्रहण किये रहता है, उसे एकदम छोड़ता नहीं है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्ति द्रष्टव्य है—

फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता। —निराला

TOUCH n PASS

यहाँ 'फूटी कौड़ी' का लक्ष्यार्थ है तुच्छ धन। इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति में 'फूटी कौड़ी' ने अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया है। अत: यहाँ पर अजहत्स्वार्था है। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुणवत संबंध होने के कारण शुद्धा है। प्रयोजन है अतिशय निर्धनता का बोध। इन्हीं सब कारणों से यहाँ प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था है।

अजहत्स्वार्था का एक अन्य नाम उपादानलक्षणा भी है। इसे उपादानलक्षणा इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यहाँ पर 'स्वार्थ' रूप उपादान का ग्रहण होता है।

6. **प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था**—यहाँ भी प्रयोजन तो होता ही है, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य से भिन्न संबंध भी होता है, किन्तु विशेषता यह है कि यहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर देता है। एक उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत लक्षणा को सहज ही समझा जा सकता है—

मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है।। —भारतीय आत्मा

यहाँ 'चरणों ही का जूठन' के मुख्यार्थ में बाधा है, अत: इसका लक्ष्यार्थ हुआ 'कृपा'। इस लक्ष्यार्थ के द्योतन में लाक्षणिक पदों ने अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर दिया है। इसीलिए यहाँ जहत्स्वार्था हुई। सामीप्य-संबंध के कारण शुद्धा है तथा अतिशय विनम्रता का बोध प्रयोजन है। स्पष्ट है कि 'चरणों ही का जूठन' में यहाँ प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था लक्षणा सक्रिय है।

इसी का दूसरा नाम लक्षणलक्षणा है। 'लक्षणा' का अर्थ है 'स्वार्थ का त्याग'। यहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में स्वार्थ का तग कर देता है, इसीलिए इसे लक्षणलक्षणा के नाम से भी जाना जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा के सभी भेदों के सन्दर्भ में इस बात का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ प्रयोजन सदैव व्यंग्य होता है इसीलिए व्यंग्य की गूढ़ता और अगूढ़ता को ध्यान में रखकर काव्य प्रकाशकार ने प्रयोजनवती लक्षणा के बारह भेद कर दिये हैं। उनके अनुसार जहाँ व्यंग्य काव्यमर्मज्ञ सहृदय के द्वारा ही समझा जा सके वहाँ गूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है और जहाँ पर व्यंग्य सहज ही समझ में आ जाये वहाँ अगढ़व्यंग्या लक्षणा होती है।

विपरीतलक्षणा—कुछ विद्वानों ने लक्षणा का एक अन्य भेद विपरीतलक्षणा स्वीकार किया है। विपरीतलक्षणा में लाक्षणिक पद मुख्यार्थ से एकदम विपरीत अर्थ देता है। यदि किसी दुष्ट व्यक्ति से कह दिया जाये कि 'तुम बड़े भले आदमी हो' तब वैपरीत्य-संबंध के आधार पर इसका अर्थ होगा—'तुम बड़े दुष्ट आदमी हो'। विपरीतलक्षणा सदैव काकु पर आधारित होती है।

वस्तुत: लक्षणा के इस भेद को स्वीकार करने में कोई औचित्य नहीं है: क्योंकि विपरीतलक्षणा में लाक्षणिक पद अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर देता है, अत: यह जहत्स्वार्था ही है।

प्र.6. व्यंजना किसे कहते हैं? परिभाषा तथा उदाहरण देकर व्यंजना के प्रमुख भेदों व उपभेदों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

व्यंजना

शब्द की जिस शक्ति के द्वारा मुख्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना कहते हैं।

'व्यंजना' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'अज्' धातु से निष्पन्न है। इस धातु का अर्थ है देखना, प्रकट करना। अतएव व्यंजना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है वह शक्ति जो विशेष रूप से देख सके अर्थात् दूर के अर्थ को उद्भासित कर सके। अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना में अर्थ-द्योतन की विशेष क्षमता होती है। व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिए पाठक या श्रोता को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, इसीलिए वह अधिक चमत्कारप्रद और आनन्ददायक होता है। यही कारण है कि व्यंग्य-काव्य को सर्वश्रेष्ठ काव्य माना गया है।

व्यंजना से प्रतियमान अर्थ को व्यंग्यार्थ और इस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को व्यंजक शब्द कहते हैं।

व्यंजना के भेद

व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं—1. शाब्दी और 2. आर्थी। आर्थी के पुन: दो भेद—1. अभिधामूला और 2. लक्षणामूला। लक्षणामूला के फिर दो भेद हो जाते हैं—1. अजहत्स्वार्थमूला और 2. जहत्स्वार्था।

TOUCH 'n PASS

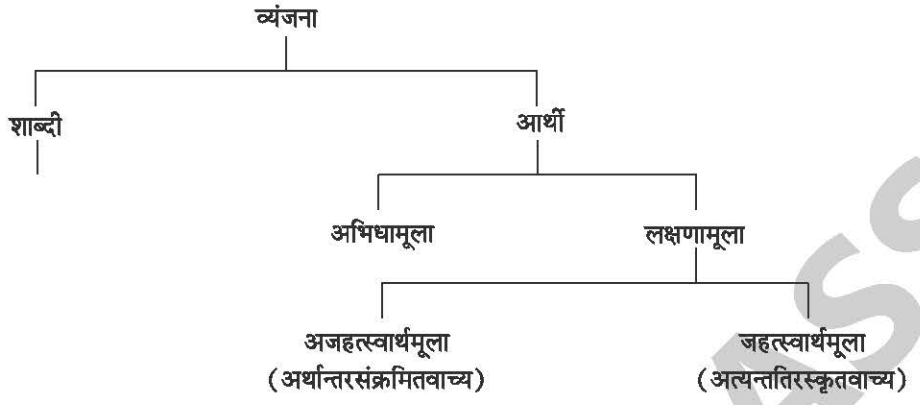

1. **शाब्दी व्यंजना**—जहाँ व्यंगार्थ किसी विशेष शब्द पर निर्भर करता है वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है।
शाब्दी व्यंजना अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग-स्थलों में ही पायी जाती है। व्यंजक शब्द के स्थान पर उसका समानार्थी शब्द रख देने से शाब्दी व्यंजना का सारा चमत्कार लुप्त हो जाता है।
बिहारी के निम्नांकित दोहे में शाब्दी व्यंजना का चमत्कार देखते ही बनता है—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।।

इस दोहे का सामान्य अर्थ है—राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरजीवी हो; इनका पारस्परिक प्रेम गम्भीर क्यों न हो, क्योंकि इन दोनों में घटकर कौन है—यदि एक वृषभानु—जैसे महापुरुष की पुत्री है तो दूसरे बलराम—जैसे प्रभावशाली पुरुष के भाई। इस अर्थ के बाद भी 'वृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों का कुछ अन्य अर्थ झाँक रहा है। 'वृषभानुजा' की दो व्युत्पत्तियाँ हैं—वृषभानु + जा तथा वृषम + अनुजा और इन व्युत्पत्तियों के आधार पर वृषभानुजा के अर्थ हैं, राधा और गाय। ऐसे ही 'हलधर' के भी दो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं—एक तो हल को शस्त्र के रूप में धारण करने वाले बलराम और दूसरे हल को खींचने वाला बैल। ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ हुआ कि राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरकाल तक जीवित रहे। इन दोनों में गम्भीर प्रेम का होना भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक तो गाय है और दूसरा बैल का भाई अर्थात् बैल।
यदि प्रस्तुत दोहे में 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्दों को रख दिया जाय तो उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो पाती जो इस समय हो रही है।
शाब्दी व्यंजना और श्लेष अलंकार में भेद है—श्लेष अलंकार में शब्द के विभिन्न अर्थों पर समान दृष्टि रहती है जबकि शाब्दी व्यंजना में प्रधानता तो वाच्यार्थ की रहती है, व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए करायी जाती है।
व्यंजक शब्दों को नियत अर्थों में केन्द्रित करने के लिए पं० रामदहिन मिश्र ने तेरह आधारों की चर्चा की है—संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश काल और व्यक्ति।
2. **आर्थी व्यंजना**—जहाँ व्यंगार्थ शब्द पर निर्भर न होकर अर्थ पर निर्भर हो वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। यहाँ व्यंजक शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी व्यंग्यार्थ की निर्बाध प्रतीति होती रहती है।
आर्थी व्यंजना के दो भेद हैं—(i) अभिधामूलक और (ii) लक्षणामूलक।
(i) **अभिधामूलक**—जहाँ मुख्यार्थ-बोध के तुरन्त बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाये वहाँ अभिधामूलक आर्थी व्यंजना होती है।

गंजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान-
'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह!'

—*साकेत, मैथिलीशरण गुप्त*

TOUCH 'n PASS

यह उस समय का वर्णन है जब कुटिल दासी मन्थरा ने सरलहृदया और राम के प्रति ममतामयी कैकेयी के हृदय में सन्देह के बीज बोकर उसके अन्दर एक विकट उलझन पैदा कर दी। कैकेयी इस उलझन में इतनी फँस गयी कि उसे ही वास्तविक समझ बैठी। प्रस्तुत पंक्तियों को पढ़ते ही मुख्यार्थ स्पष्ट हो जाता है और इस मुख्यार्थ के स्पष्ट होते ही 'कैकेयी हृदय की न सुलझने वाली उलझन'-रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। अत: यहाँ पर अभिधामूला व्यंजना है।

(ii) **लक्षणामूला**—जहाँ लक्ष्यार्थ-बोध के बाद व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ लक्षणामूला आर्थी व्यंजना होती है।

लक्षणा के प्रसंग में बताया जा चुका है कि लक्षणा के छह भेदों में प्रयोजन का बोध व्यंजना से ही होता है, क्योंकि लक्षणा तो लक्ष्यार्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है। प्रयोजन की प्रतीति कराने का लक्षणा में सामर्थ्य ही नहीं होता। सारोपा और साध्यवसाना के गौणी और शुद्धा से बने चार भेद अलंकारों में परिणत हो जाते हैं अत: वे व्यंजना के भेदों की सीमा में नहीं आ सकते। शेष बचते हैं, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था। ये ही व्यंजना के मूल हैं, क्योंकि प्रयोजन-रूप व्यंग्य अर्थ की सिद्धि के लिए यहाँ लक्षणा का सहारा लिया जाता है। अत: लक्षणामूला आर्थी व्यंजना के दो भेद हैं—(क) अजहत्स्वार्थलक्षणांमूला और (ख) जहत्स्वार्थलक्षणामूला।

(क) **अजहत्स्वार्थलक्षणामूला**—जहाँ व्यंजक मुख्यार्थ का पूर्णत: त्याग किये बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है वहाँ अजहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना होती है।

अजहत्स्वार्थलक्षणामूला को 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' भी कहा जाता है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि यहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर (अन्य अर्थ) रूप लक्ष्य अर्थ में संक्रमित (परिवर्तित) हो जाता है; अपने आप भी रहता है, किन्तु परिवर्तित रूप में। 'रामचरितमानस' के निम्नांकित दोहे में अजहस्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना की सुन्दर झलक देखी जा सकती है—

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम तो कल सहित कहिहि दसानन आइ।।

यहाँ राम जटायु से कह रहे हैं कि हे तात! तुम स्वर्ग में जाकर पिता से सीता हरण की बात मत कहना। यदि मेरा नाम राम है तो स्वयं रावण अपने पूरे कुल के सहित स्वर्ग पहुँचकर इस बात की सूचना देगा। इस प्रसंग में राम वक्ता हैं और वे स्वयं अपने लिए कर रहे हैं कि 'यदि मैं राम हूं'। श्रोता जब सामने उपस्थित हो तब वक्ता के द्वारा अपना उल्लेख करना निरर्थक-सा जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'राम' के मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है और तब लक्षणा से इसका अर्थ निकलता है, खर-दूषण आदि का हन्ता वीर राम। यहाँ राम की वीरता व्यंग्य है और इस व्यंग्यार्थ में अजहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना काम कर रही है। अजहत्स्वार्था यह इसलिए है कि यहाँ पर 'राम' पद ने अपने मुख्यार्थ 'दशरथपुत्र राम' का सर्वथा त्याग नहीं किया है।

(ख) **जहत्स्वार्थलक्षणामूला**—जहाँ व्यंजक शब्द व्यंग्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर देता है वहाँ जहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना होती है।

इस व्यंजना का एक अन्य नाम 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' भी है। इसका कारण यह है कि यहाँ वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' से अंगद की रावण के प्रति इस उक्ति को लिया जा सकता है—

कह अंगद सलज्ज जग माहीं।
रावन तोहि समान कोउ नाहीं।।

परस्त्री सीता का अपहरण करने वाले रावण को 'सलज्ज' (लज्जावान्) कहना एकदम असंगत है। ढीठ रावण को समझाते-समझाते अंगद खीझ उठा है और उसकी यह उक्ति उसकी इसी खीझ का परिणाम है। स्पष्ट ही वह रावण को 'लज्जावान्' नहीं कह सकता। अत: मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित हो रही है और ऐसी स्थिति में वैपरीत्य -संबंध से 'सलज्ज' का अर्थ 'निर्लज्ज' लक्षणा से प्रतीत होता है। वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग होने से यहाँ जहत्स्वार्था है। व्यंग्यार्थ है रावण की निर्लज्जता की पराकाष्ठा जो पराई स्त्री का हरण करने के बाद भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रहा है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ की प्रतीति के बाद ही हो रही है। अत: यहाँ लक्षणामूला व्यंजना हुई। जो लक्षणा यहाँ सक्रिय है वह है जहत्स्वार्था, अत: प्रस्तुत उदाहरण में जहत्स्वार्थलक्षणामूला व्यंजना की प्रवृत्ति है।

TOUCH 'n PASS

प्र.7. विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के भेद

विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के सामान्यत: दस भेद किये गये हैं। इन भेदों के आधार हैं—1. वक्ता, 2. बोद्धव्य (जिससे बात की जाय), 3. वाक्य, 4. अन्यसन्निधि, 5. वाच्य (वक्तव्य), 6. प्रस्ताव (प्रकरण), 7. देश, 8. काल, 9. काकु (कण्ठध्वनि) और 10. चेष्टा।

1. **वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ कवि अथवा कविकल्पित वक्ता के कथन की विशेषता से व्यंग्यार्थ की प्रतीती होती है वहाँ वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

   जवति जोन्ह मैं मिलि गई नैंकु न होती लखाइ।
   सौंधे के डोरैं लगी अली चली संग जाई।। —*बिहारी*

   शुक्लाभिसारिका नायिका की एक अन्तरंग सखी दूसरी सखी से नायिका के विषय में कहती है कि यह युवती अपने गौर वर्ण के कारण चाँदनी में इतनी अधिक मिल गयी है कि किंचितमात्र भी लक्षित नहीं हो रही है। उसकी भ्रमर-जैसी सखी जो सकेत-स्थल पर उसे अभिसार कराने के लिये जा रही है, उसके शरीर की सुगंध के डोरे के सहारे ही उसके साथ चली जा रही है।

   यहाँ 'सौंधे के डोरे' के द्वारा नायिका के पद्मिनी कोटि के होने की व्यंजना है; क्योंकि पद्मिनी कोटि की नायिका के अनेक लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है कि उसके शरीर से कमल-जैसी सुगन्ध आती है। यह व्यंग्यार्थ वक्ता के कथन (सौंधे के डोरे) से निकलता है, अत: यहाँ पर वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

2. **बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ बोद्धव्य अर्थात् श्रोता की विशेषता से व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ बोद्धव्य वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

   गुरुजन पर बस तुम पिया गमन करत मधुकाल।
   हतभागिनि हौं, का कहौं, सुनिहौ सब मो हाल।।

   नायक गुरुजनों का आदेश मानकर परदेस जा रहा है। वसन्त ऋतु का समय है। नायिका नहीं चाहती कि वह परदेस जाये, किन्तु वह उसके परदेस-गमन को रोक भी नहीं सकती। ऐसी स्थिति में वह उससे केवल इतना कहती है कि उसके जाने के बाद उसे उसके (नायिका के) हाल का स्वयं पता चल जायेगा।

   यहाँ 'सुनिहौ सब मो हाल' में व्यंजना है कि नायक के परदेस-गमन के बाद नायिका जीवित नहीं बचेगी। इस व्यंग्यार्थ को श्रोता (नायक) भली प्रकार समझ रहा है, अत: यहाँ पर बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

3. **वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—आर्थी व्यंजना के इस भेद में व्यंग्यार्थ वाक्य को कहने के ढंग से ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' के 'नारद-मोह' प्रसंग में जब नारद विश्वमेहिनी को प्राप्त करने के लिए भगवान विष्णु से उनके रूप की याचना करते हैं तब भगवान विष्णु उनसे कहते हैं—

   जेहि विधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
   सोइ हम करण न आन कछु, वचन न मृषा हमार।।

   भगवान विष्णु के इस कथन को नारद भ्रमवश अपने पक्ष में मान बैठे-उन्होंने समझ लिया कि अब तो भगवान विष्णु अपना रूप मुझे दे ही देंगे। किन्तु भगवान विष्णु की उक्ति में जो व्यंग्यार्थ निहित है, वह यह है कि हे नारद! यदि मैं अपना रूप दे दूंगा तो तुम मायाजाल में फँस जाओगे जो तुम्हारे-जैसे तपस्वी के लिए ठीक नहीं है। इसलिए मैं तुम्हें ऐसा रूप (बन्दर का रूप) दूंगा जिससे तुम्हारा मंगल हो। यह व्यंग्यार्थ भगवान विष्णु के द्वारा वाक्य के कहने के ढंग पर आधारित है। इसीलिए यहाँ वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

4. **अन्यसन्निधिवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—इस व्यंजना में एक कहे, दूसरा सुने और तीसरा समझे की स्थिति होती है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति तीसरे व्यक्ति की समीपता (अन्यसन्निधि) से होती है। उदाहरण के लिए यह दोहा द्रष्टव्य है—

   सौंप्यो सब गृहकाज मोहिं अरी! निरदई सास।
   सांझ समय में छिनक अलि! मिलत कहूं अवकास।।

TOUCH 'n PASS

पारकीया नायिका अपने प्रेमी के घर जाकर प्रेमी की उपस्थिति में उसकी पत्नी से कहती है कि ऐ सखि! निर्दयी सास ने मुझे घर का सारा काम-काज सौंप रखा है, इसलिए दिन तो सारा ही काम-धन्धे में व्यतीत हो जाता है, सन्ध्याकाल में कहीं जाकर मुझे थोड़ा-अवकाश मिल पाता है।

यहाँ पर प्रेमी की पत्नी तो समझती नहीं है, किन्तु प्रेमी समझ जाता है कि नायिका उसे सन्ध्याकाल में बुला रही है। यही उक्त दोहे का व्यंग्यार्थ है। इसीलिए इस दोहे में अन्यसन्निधिवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

5. **वाच्य अथवा वक्तव्य से उत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ व्यंग्यार्थ का मूलाधार वाच्य या वक्तव्य (कहीं जाने वाली बात) होता है वहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'जयद्रथ वध' में अभिमन्यु के वध के उपरान्त उसकी पत्नी उत्तरा विलाप करती हुई कहती है—

मैं हूं वही जिसको किया था विधिविहित अर्द्धांगिनी।
भूलें न मुझको नाथ! मैं हूं अनुचरी चिरसंगिनी।।

शोक के इस प्रकरण में प्रयुक्त विधिविहित अर्द्धांगिनी' 'अनुचरी' और 'चिरसंगिनी' शब्दों से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि अभिमन्यु को साथ उत्तरा को भी ले जाना चाहिए था। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति उत्तरा के वक्तव्य से हो रही है, अत: यहाँ पर वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

6. **प्रस्ताव या प्रकरण से उत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ व्यंग्यार्थ प्रस्ताव या प्रकरण पर आधारित होता है वहाँ प्रस्तावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।।

इस पद्य में भगवान बुद्ध के द्वारा चुपचाप घर छोड़ देने के कारण विक्षुब्ध यशोधरा के हृदय के उद्‌गार हैं जिनका व्यंग्यार्थ यह है कि यदि भगवान बुद्ध यशोधरा से कहकर जाते तो वह उनके पवित्र कार्य में बाधा नहीं बनती अपितु उन्हें प्रसन्नतापूर्वक विदा देती। उनका चुपचाप चला जाना ठीक नहीं हुआ।

उक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति भगवान बुद्ध के गृह त्याग के प्रकरण के कारण हो रही है। यदि यह प्रस्ताव या प्रकरण न होता तो प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। इसीलिए उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

7. **देशवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—यह व्यंजना वहाँ होती है जहाँ स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। बिहारी का निम्नांकित दोहा इस व्यंजना का सुन्दर निदर्शन है—

सनु सूक्यौं, बीत्यौं बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि जिय नारि।।

दोहे का सामान्य अर्थ है—यद्यपि सन सूख गयी है, कपास भी समाप्त हो चुकी है, यहाँ तक कि ऊख भी उखाड़ ली गयी है तथापि अरहर अब भी हरी-भरी है; अत: हे नारी! तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर।

वस्तुत: यहाँ पर अन्शयाना नायिका (वह नायिका जो संकेत-स्थलों के नष्ट हो जाने से दु:खी हो जाती है) को उसकी सखी धैर्य बँधाते हुए कहती है कि खेतों से यदि सन, कपास और ऊख उखड़ भी गये तो भी कोई बात नहीं है, अभी खेतों में हरी-हरी अरहर तो खड़ी हुई है अत: अरहर के खेत ही तेरे लिए संकेत-स्थल का काम करेंगे। यही दोहे का व्यंग्यार्थ है और इस व्यंग्यार्थ का ज्ञान स्थान (अरहर के खेतों) से होता है अत: यहाँ पर देशवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

8. **कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—समय की विशेषता के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ-बोध हो वहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

बैठि रहो अति सघन बन पैठि सदन-तन मांह।
देखि दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह।। —*बिहारी*

नायिका नायक से कहती है कि इस जेठ की दुपहरी में तुम कहाँ जा रहे हो? आओ, थोड़ा घाम का निवारण कर लो। इस दुपहरी को देखकर तो छाया भी छाया चाह रही है-वह भी सघन वन में बैठ रही है और घरों में प्रवेश कर रही है (दोपहर

TOUCH 'n' PASS

के समय वनों के वृक्षों की और घरों की भित्तियों की छाया इतनी छोटी हो जाती है कि वह वृक्षों और भित्तियों में ही समायी जान पड़ती है)।

वास्तव में नायिका यहाँ पर स्वयंदूतिका है जो जेठ की दुपहरी के बहाने नायक को घर में बुलाकर उसे अभिसार का निमन्त्रण दे रही है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति 'जेठ की दुपहरी' के द्वारा हो रही है, अत: यहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

9. **काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—काकु का अर्थ है कंठध्वनि की भिन्नता से अर्थात् गले के द्वारा विशेष प्रकार से निकाली हुई ध्वनि। जहाँ व्यंग्यार्थ काकू पर आधारित हो वहाँ काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। जब राम वन्य जीवन की कठोरता और सीता की सुकुमारता का आख्यान करते हुए सीता से वन न चलने का अनुरोध करते हैं तब सीता काकु का अवलम्ब लेकर राम से कहती है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जागू। तुम्हहिं उचित तप मो कहुं भोगू।।

सीता के इस काक्वाक्षिप्त कथन का व्यंग्यार्थ है कि केवल मैं ही सुकुमार नहीं हूँ, आप भी सुकुमार हैं। यदि आप वन जा सकते हैं तो मैं भी वन जा सकती हूँ। तपस्या केवल आपके ही लिए नहीं, मेरे लिए भी उचित है। पति और पत्नी का साथ सुख और दु:ख की हर स्थिति में होता है। अत: आपके साथ मैं भी वन चलूँगी। इस व्यंग्यार्थ का बोध सीता की कथन-भंगिमा पर आधारित है। अत: यहाँ काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

10. **चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ चेष्टा अर्थात् हाव-भाव आदि के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होता है। जैसे—

कंज नयनि मंजनु किए, बैठी व्यौरति बार।
कच-अंगुरि-बिच दीठि है, चितवति नंदकुमार।। —*बिहारी*

कमलनयनी नायिका स्नान करने के बाद बैठी हुई अपने बाल सुलझा रही है। उसने कंघी से बालों को अपने मुँह के आगे डाल रखा है। इन्हीं बालों के बीच अपनी उंगलियों को डालकर और अपने नेत्रों के सामने से बालों को हटाकर कनखियों से नायक को देख रही है।

नायिका के द्वारा बालों के बीच में उंगलियों को डालकर नायक को कनखियों से देखने से नायक के प्रति उसके प्रेम की व्यंजना हो रही है। इस प्रेम-रूप व्यंग्यार्थ का पता नायिका की उक्त चेष्टा से चलता है, अत: दोहे की दूसरी पंक्ति में चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना काम कर रही है।

11. **अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—कभी-कभी एक ही उदाहरण में वक्ता, श्रोता, प्रकरण आदि अनेक विशेषताओं के आधार पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे—

यहि काल रसाल बसन्त अहो! कुसुमायुध बान चलावतुही।
फिरि धीर समीर सुगन्धित हूं तरुनीन अधीर बनावतुरी
वन मंजुल - बंजुल-कुंज बनी, सजनी! ये थनी ललचावतुरी!
नहिं पास पिया, करिए जु कहा? अब तू ही तो क्यों न। —*बतावतुरी*

नायिका की यह उक्ति अपनी सखी से है। यहाँ 'बसन्त' के कथन से कालवैशिष्ट्य, 'मंजुल - बंजुल - कुंज से देशवैशिष्ट्य, नायिका के कारण वक्तृवैशिष्ट्य, सखी के प्रति कथन के कारण बौद्धव्यवैशिष्ट्य, 'कुसुमायुध बान चलावत' से वाच्यवैशिष्ट्य आदि अनेक प्रकार की विशेषताएँ हैं, और इन सारी विशेषताओं के आधार पर नायिका की कामातुरता की व्यंजना है। इस प्रकार एक ही उदाहरण में अनेक विशेषताओं के बल पर उक्त व्यंजना होने के कारण यहाँ अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

TOUCH 'n' PASS

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. सब कोऊ जानत तुम्हें सारे जगत जहान–इस वाक्य में कौन-सा काव्य-दोष है?
(क) न्यून पदत्व (ख) पुनरूक्ति (ग) क्लिष्टत्व (घ) अक्रमत्व
उत्तर (ख) पुनरूक्ति

प्र.2. निम्न में से एक कौन-सा सात्विक भाव नहीं है?
(क) स्वेद (ख) वैवर्ण्य (ग) रोमांस (घ) जुगुप्सा
उत्तर (घ) जुगुप्सा

प्र.3. जिस काव्य पंक्ति में स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता हो उसमें कौन-सा गुण होता है?
(क) ओज (ख) माधुर्य (ग) प्रसाद (घ) कान्ति
उत्तर (ग) प्रसाद

प्र.4. 'राजन देहु तुरंग मोहि अथवा देहु मतंग।' इस पंक्ति में कौन-सा काव्य दोष है?
(क) दुष्क्रमत्व (ख) अप्रतीतत्व (ग) अक्रमत्व (घ) क्लिष्टत्व
उत्तर (क) दुष्क्रमत्व

प्र.5. निम्नलिखित में से कौन-सा रस का अवयव नहीं है?
(क) भाव (ख) विभाव (ग) अनुभाव (घ) संचारीभाव
उत्तर (क) भाव

प्र.6. मुक्तक काव्य के कितने भेद होते हैं?
(क) चार (ख) तीन (ग) दो (घ) पाँच
उत्तर (ग) दो

प्र.7. भू पर हय विकल वितुण्ड गिरे।
लड़ते-लड़ते अरि झुण्ड गिरे।
उपर्युक्त में कौन-सा काव्य गुण है?
(क) ओज (ख) माधुर्य (ग) प्रसाद (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) ओज

प्र.8. जिस रचना को पढ़ने से चित्त आह्लाद से द्रवित हो जाये, उसे ..... काव्य गुण कहते हैं।
(क) प्रसाद (ख) ओज (ग) माधुर्य (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (घ) इनमें से कोई नहीं

प्र.9. ओज गुण किन रसों में प्रयुक्त होता है?
(क) वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस में (ख) हास्य, शृंगार तथा करुण रस में
(ग) करुण, शांत तथा अद्भुत रस में (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस में

प्र.10. काव्य के मुख्य रूप से गुण हैं–
(क) एक (ख) दो (ग) तीन (घ) चार
उत्तर (ग) तीन

प्र.11. मुहावरे तथा लोकोक्तियों में शब्द शक्ति होती है–
(क) अभिधा (ख) लक्षणा (ग) व्यंजना (घ) तात्पर्या
उत्तर (ख) लक्षणा

TOUCH 'n' PASS

प्र.12. लक्षणा शब्द शक्ति के मुख्यतः कितने भेद हैं?
(क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) छह
उत्तर (घ) छह

प्र.13. रूढ़ और प्रयोजनवती किस शब्द शक्ति से सम्बद्ध है?
(क) अभिधा (ख) लक्षणा (ग) व्यंजना (घ) तात्पर्या
उत्तर (ख) लक्षणा

प्र.14. काव्याशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। काव्य गुण की यह परिभाषा किसने दी है?
(क) आचार्य दंडी (ख) आचार्य वामन (ग) आचार्य मम्मट (घ) आचार्य विश्वनाथ
उत्तर (ख) आचार्य वामन

प्र.15. आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ काव्य प्रकाश में कितने गुण स्वीकार किये हैं?
(क) एक (ख) दो (ग) तीन (घ) चार
उत्तर (ग) तीन

प्र.16. जहाँ मुख्यार्थ को बाधित करके सामान्य रूप, गुण, धर्म, सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर अर्थ लक्षित होता है, वहाँ कौन-सी लक्षणा होती है?
(क) गौणी लक्षणा (ख) शुद्धा लक्षणा (ग) उपादा लक्षणा (घ) लक्षण लक्षणा
उत्तर (क) गौणी लक्षणा

प्र.17. 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार में लक्षणा होती है–
(क) सारोपा (ख) साध्यवसाना (ग) उपादान (घ) गौणी
उत्तर (ख) साध्यवसाना

प्र.18. प्रतीक-विधान में कौन-सी लक्षणा होती है?
(क) प्रयोजनवती (ख) शुद्धा (ग) साध्यवसाना (घ) सारोपा
उत्तर (ग) साध्यवसाना

प्र.19. निम्न में से सही सुमेलित हैं–
(क) प्रसाद गुण—पांचाली रीति (ख) माधुर्य गुण—गौणी रीति
(ग) ओज गुण—वैदभी रीति (घ) सभी सुमेलित हैं
उत्तर (क) प्रसाद गुण—पांचाली रीति

प्र.20. काव्य में रस का उत्कर्ष करने वाले धर्मों को ..... गुण कहते हैं।
(क) रस (ख) अलंकार (ग) काव्य गुण (घ) रीति
उत्तर (ग) काव्य गुण

प्र.21. निम्न में सही समुमेलित नहीं हैं–
(क) प्रसाद का अर्थ—स्पष्टता (ख) ओज का अर्थ—तेजस्विता
(ग) माधुर्य का अर्थ—मधुरता (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (घ) इनमें से कोई नहीं

प्र.22. जिस काव्य रचना को पढ़ते ही तुरन्त अर्थ स्पष्ट होता है, वह रचना मानी जाती है।
(क) प्रसाद गुण से युक्त (ख) माधुर्य गुण से युक्त (ग) ओज गुण से युक्त (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) प्रसाद गुण से युक्त

TOUCH 'n' PASS

UNIT-IV

नाट्यशास्त्र

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. नाट्य-शास्त्र का जन्मदाता कौन है?

उत्तर नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि थे। भरत मुनि का जीवनकाल 400 ईसापूर्व से 100 ई० के मध्य किसी समय माना जाता है। संगीत, नाटक और अभिनय के सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का आज भी बहुत सम्मान है।

प्र.2. नाट्य कला क्या है?

उत्तर पारम्परिक सन्दर्भ में, नाटक, काव्य का एक रूप है (दृश्य-काव्य)। जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक में श्रव्य-काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य-काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है।

प्र.3. नाट्य-शास्त्र के अनुसार रसों की संख्या कितनी है?

उत्तर भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में मूलत: नौ रसों को ही मान्यता दी। भक्ति को भाव माना जाए या रस इस पर काव्यशास्त्रियों ने थोड़ा विवेचन किया।

प्र.4. हिंदी का पहला नाटककार कौन है?

उत्तर हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है।

प्र.5. आधुनिक काल के प्रमुख नाटककार कौन हैं?

उत्तर आधुनिक काल के प्रमुख नाटककार जयशंकर प्रसाद, सेठ गोविंद दास, गोविंद वल्लभ पंत, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा आदि हैं।

प्र.6. नाटक सम्राट के नाम से कौन जाना जाता है?

उत्तर हिन्दी साहित्य में नाटक विधा को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने के कारण जयशंकर प्रसाद को नाटक सम्राट कहा जाता है।

प्र.7. भारतेंदु ने कितने मौलिक नाटक लिखे थे?

उत्तर भारतेंदु जी के द्वारा अनूदित एवं मौलिक सब मिलाकर कुल 17 (सत्रह) नाटक लिखे गये थे। जिनमें से आठ अनूदित एवं नौ मौलिक नाटक माने जाते हैं।

प्र.8. द्विवेदी युग के नाटककार कौन हैं?

उत्तर द्विवेदी युग के नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रौनक, सैयद मेंहदी 'हसन', नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद हश्र 'कश्मीरी' और राधेश्याम कथावाचक आदि प्रमुख हैं।

प्र.9. भारत का प्रथम नाटक कौन-सा है?

उत्तर नहुष, भारतेन्दु ने अपने पिता गोपालचंद्र गिरिधरदास कृत नहुष (1857) को हिन्दी का प्रथम नाटक स्वीकार किया है।

प्र.10. नाटककार कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर नाटककार की तीन श्रेणियाँ हैं अर्थात् शास्त्रीय/सार्वभौमिक नाटककार, आधुनिक नाटककार और समकालीन नाटककार।

TOUCH n PASS

प्र.11. काव्य नाटक के जनक कौन हैं?

उत्तर एलियट, इन्होंने काव्य नाटक के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। यह वह था जिसने 20वीं शताब्दी में अपनी परंपरा स्थापित की थी। कैथेड्रल में हत्या उनका पहला पूर्ण लंबाई का काव्य नाटक है।

प्र.12. संस्कृत के प्रथम नाटककार कौन थे?

उत्तर महाकवि भास, (जन्म तीसरी शताब्दी ईसवी, भारत), सबसे पहले ज्ञात संस्कृत नाटककार, जिनके कई पूर्ण नाटक पाए गए हैं। 1912 में एक भारतीय विद्वान ने भास के 13 नाटकों के ग्रंथों की खोज की और उन्हें प्रकाशित किया, जिन्हें पहले केवल प्राचीन संस्कृत नाटककारों के संकेतों से जाना जाता था।

प्र.13. नाटक के प्रमुख कितने तत्त्व होते हैं?

उत्तर संस्कृत आचार्यों ने नाटक के तत्त्व कुल 5 माने हैं—कथावस्तु, नेता, रस, अभिनय और वृत्ति। पाश्चात्य विद्वान छः मूलतत्त्व मानते हैं—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। हिन्दी साहित्य के समालोचकों पर संस्कृत आचार्यों और आंग्ल विद्वानों, दोनों का प्रभाव है।

प्र.14. नाटक के मुख्य घटक क्या हैं?

उत्तर नाटक के छः तत्त्वों या घटकों में शामिल हैं—विचार, विषयवस्तु, बिचार; कार्रवाई या साजिश; पात्र; भाषा; संगीत; और तमाशा (दृश्यावली, वेशभूषा और विशेष प्रभाव)।

प्र.15. नाटक का मूल आधार क्या है?

उत्तर भाषा, संवाद, नैरेशन ध्वनि एवं संगीत नाटक के उपकरण होते हैं। कथानक, पात्र, दृश्य संवाद एवं उद्देश्य नाटक के प्रमुख बिन्दु होते हैं। नाटककार में संवेदनशीलता बहुत जरूरी है। अध्ययन एवं अनुभव जितना अधिक होगा उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया शक्ति अच्छी होगी।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भारतीय परंपरा के अनुसार नाटक के तत्त्वों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

भारतीय परंपरा के अनुसार नाटक के तत्त्व

भारतीय नाटक परंपरा में आचार्य भरत मुनि का नाम सर्वप्रथम आता है। इन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' में रूपक या नाटक के चार तत्त्व स्वीकार किए हैं—संवाद, गान, नाट्य, रस। 'दशरूपक' के रचयिता धनंजय ने नाट्य या रूपक के तीन प्रमुख तत्त्व दिए है—वस्तु, नेता, रस। कई विद्वानों ने इनके साथ अभिनय और वृत्ति को भी नाटक के तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। अतः भारतीय परंपरा की दृष्टि से नाटक के चार तत्त्व माने गये हैं।

1. **वस्तु**—वस्तु से तात्पर्य कथावस्तु से है। वस्तु नाटक का प्रधान तत्त्व है। भारतीय आचार्यों ने वस्तु के स्रोत संगठन की दृष्टि से नाट्यवस्तु का विस्तृत विवेचन किया है। नाट्यवस्तु का समुचित विकास हो इसलिए भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु के भेद आदि का विस्तार से विचार किया है। साथ ही नाट्यवस्तु जिन संवादों के माध्यम से प्रकट होती है, उस पर भी ध्यान दिया है। आचार्यों ने कथावस्तु के विकास को जिन पाँच भागों में विभक्त किया है उन्हें कार्यावस्थाएँ कहते हैं। कार्यावस्थाओं के नाम हैं—1. प्रारम्भ, 2. प्रयत्न, 3. प्राप्त्याशा, 4. नियताप्ति, 5. फलागम।
2. **नेता**—भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है-नेता। इसके अंतर्गत नाटक का नायक तथा उसके सहयोगी चरित्र योजना का विश्लेषण किया जाता हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र में नेता या नायक सभी दृष्टियों से विशेष माना जाता है। उसके कार्य व्यापार की कल्पना उदात्त, उदार दृष्टियों से की है। इस दृष्टि से नायक या नेता धीर, नम्र, सुंदर, कुशल, त्यागशील, भाषणपटु, मधुर भाषी, लोकप्रिय, शुद्ध स्वभाव वाला, स्थिरचित्त, साहसी, युवा, कुलीन, शूरवीर, तेजस्वी, विभिन्न कलाओं में पारंगत, मार्मिक, संपूर्ण व्यक्ति होना चाहिए।

TOUCH 'n PASS

भारतीय आचार्यों ने चार प्रकार के नायक या नेता माने हैं- धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत, धीरोद्धत। इसी प्रकार नायिका भी स्वरूपवती, गुणवंती, शीलवती, यौवन, माधुर्य आदि से संपन्न, प्रसन्नमन, स्नेहिल, स्निग्ध, भावपूर्ण मधुर वचन बोलने वाली, शोभरहित, योग्य नृत्य-संगीत की जानकार हो।

3. **रस**—भारतीय नाट्यशास्त्र में रस की सिद्धि ही नाटक का उद्देश्य मानी गई है। आचार्य भरत मुनि के अनुसार रस के अभाव में नाटक में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। नाटक में शृंगार रस, वीर या शांत में से कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए और शेष रसों की निष्पति अंगी रस के आश्रित रूप में होनी चाहिए। भारतीय नाट्यशास्त्र में रस प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन किया गया है।
4. **अभिनय**—नाट्य के समुचित विषय का या वस्तु विधान का प्रेक्षागृहों में बने रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुतीकरण अभिनय कहलाता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में अभिनय के भेद तथा रंगमंच का विस्तार से विवेचन किया गया है। अभिनय मुख्यत: चार प्रकार का होता है-आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक।

प्र.2. पारम्परिक सन्दर्भ में नाट्य भेद, भारतीय रूपक एवं उपरूपकों के भेदों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

पारम्परिक सन्दर्भ में नाट्य भेद, भारतीय रूपक एवं उपरूपकों के भेद

पारम्परिक सन्दर्भ में, नाटक, काव्य का एक रूप है। जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक में श्रव्य-काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य-काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नाट्यशास्त्र में लोक चेतना को नाटक के लेखन और मंचन की मूल प्रेरणा माना गया है।

नाटक की गिनती काव्य में की जाती है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं—श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य। इसी दृश्य-काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। परन्तु दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण सभी दृश्य-काव्यों को ही 'नाटक' कहने लगे हैं।

भरत मुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद हैं—काव्य और अभिनय। अग्निपुराण में दृश्य-काव्य या रूपक के 27 भेद कहे गए हैं—

नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण।

साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए हैं। जैसा कि आप जानते हैं दृश्य-काव्य के एक भेद का नाम नाटक है। दृश्य-काव्य के मुख्य दो विभाग हैं—रूपक और उपरूपक।

रूपक के दस भेद हैं—रूपक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन।

उपरूपक के अठारह भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणा, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भणिका।

प्र.3. भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक-नायिका भेद पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक-नायिका भेद

संस्कृत साहित्य में आचार्य भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में अधिकांशत: नाटकीय पात्रों के वर्गीकरण प्रस्तुत हुए हैं और वात्स्यायन के कामसूत्र में एतद्विषयक भेद-प्रभेद किए गए हैं जिनका संबंध प्राय: स्त्री-पुरुष के यौन व्यापारों से है। 'अग्निपुराण' में प्रथम बार नायक-नायिका का विवेचन शृंगार रस के आलंबन विभावों के रूप में किया गया है। संस्कृत और हिंदी के परवर्ती लेखकों ने 'अग्निपुराण' की स्थिति स्वीकार करते हुए शृंगार रस की सीमाओं में ही इस विषय का विस्तार किया है। इन सीमाओं का, जिनका अतिक्रमण केवल अपवाद के रूप में किया गया है, इस प्रकार समझा जा सकता है—

नायक-नायिका भेद के अंतर्गत स्त्री-पुरुष के बीच की सामान्य एवं स्वाभाविक रतिभावना का ही चित्रण किया गया है। अस्वाभाविक अथवा अप्राकृतिक यौन व्यापारों का इस शास्त्र में कोई स्थान नहीं है। केवल सुंदर युवक-युवतियों के ही प्रेम को स्वीकार किया गया है।

TOUCH 'n PASS

रसानुभूति में व्याघात न हो, इस दृष्टि से सामाजिक मर्यादा के नियमों का पालन आवश्यक समझा गया है।
एकपक्षीय प्रेम स्वीकार नहीं किया गया। स्त्री तथा पुरुष दोनों में रतिभावना होनी चाहिए। शृंगार के बाहर की किसी भी बात का वर्णन निषिद्ध समझा गया है। गर्भवती स्त्री का वर्णन करना कवि की निरंकुशता माना गया है। नायिका के मान का कारण, नायक की पर स्त्री-रति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. भारतीय नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय दीजिए।

उत्तर

भारतीय नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय

नाटकों के संबंध में शास्त्रीय जानकारी को नाट्यशास्त्र कहते हैं। इस जानकारी का सबसे पुराना ग्रंथ भी 'नाट्यशास्त्र' के नाम से जाना जाता है जिसके रचयिता भरत मुनि थे। भरत मुनि का जीवनकाल 400 ईसापूर्व से 100 ई० के मध्य किसी समय माना जाता है। संगीत, नाटक और अभिनय के सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का आज भी बहुत सम्मान है। उनका मानना है कि नाट्यशास्त्र में केवल नाट्य रचना के नियमों का आकलन नहीं होता बल्कि अभिनेता, रंगमंच और प्रेक्षक इन तीनों तत्त्वों की पूर्ति के साधनों का विवेचन होता है। 37 अध्यायों में भरत मुनि ने रंगमंच, अभिनेता, अभिनय, नृत्यगीतवाद्य, दर्शक, दशरूपक और रस निष्पत्ति से सम्बन्धित सभी तथ्यों का विवेचन किया है।
भरत के नाट्य-शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की सफलता केवल लेखक की प्रतिभा पर आधारित नहीं होती बल्कि विभिन्न कलाओं और कलाकारों के सम्यक के सहयोग से ही होती है। नाटक में कथोपकथन मूलक भाषिक संरचना के अतिरिक्त कलाओं का भी प्रयोग सुलभ होता है। नाटककार नाटक की अभिव्यक्ति में कथोपकथनमूलक भाषा, नृत्यकला, नृत्तकला, वाद्यकला, संगीतकला, वास्तु-शिल्प आदि अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों को अपना सकता है। कला के इन सभी माध्यमों का यथोचित उपयोग करते हुए वह नाट्य प्रदर्शन को, (अभिनय को) रोचक या रंजक तथा अर्थवान बनाने का प्रयत्न करता है। इन विविध कलाओं के संयोग से नाटक का अभिनय दर्शक को मंत्रमुग्ध करने वाला बन जाता है। इसीलिए 'काव्येषु नाटक रम्यम्' उक्ति प्रसिद्ध है।
इंद्रिय बोध के आधार पर भारतीय आचार्यों ने काव्य के मुख्य दो भेद स्वीकार किए- दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य। श्रवणेंद्रिय द्वारा जिस काव्य से आनंद प्राप्त किया जा सके, वह श्रव्य-काव्य है। जिसके अंतर्गत उपन्यास, कविता, कहानी, निबंध को लिया जा सकता है। इन्हें न सिर्फ सुना जा सकता है, बल्कि पढ़ा भी जा सकता है। इसके विपरीत जो काव्य नयनेंद्रिय का विषय बने अर्थात जिसे प्रत्यक्ष देखकर, अवलोकन से रस भाव की अनुभूति हो उसे दृश्य-काव्य कहा गया है। इस दृष्टि से दृश्य-काव्य ही मंच और मंचीय विधा है। दृश्य की प्रत्यक्ष योजनायें वस्तु का विधान, पात्र योजना, उनकी वेशभूषा, हावभाव, संवाद आदि उपकरणों से दृश्य-काव्य का विधान का किया जाता है।
दृश्य-काव्य के अंतर्गत रूपक का एक भेद है—नाटक। नाट्य-शास्त्रों में अभिनय संबंधी जितने भी तत्त्व स्वीकारें गये हैं, उसमें नाटक भी है। नाटक शब्द की उत्पत्ति 'नट्' धातु से होती है। जिसका अर्थ है 'साहित्यिक भावों का प्रदर्शन।' दूसरे अर्थ में नाटक का संबंध अभिनेता से होता है और अभिनेता की विभिन्न अवस्थाओं की अनुभूति को ही नाटक कहते हैं। संस्कृत साहित्य में नाटक के लिए रूपक शब्द का प्रयोग होता है।
नाटक की परिभाषा—नाटक दृश्य-काव्य का अंग है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम' के अनुसार काव्य में नाटक अधिक रमणीय होता है। क्योंकि यही एक ऐसी विधा है जिसमें अभिनय, संगीत, नृत्य, चित्र-कला, मूर्ति-कला, वस्त्राभूषण, भाषण, वार्तालाप आदि सभी कलाओं का संगम रहता है तथा पात्रों की प्रत्यक्ष सजीव मुद्राएँ, चेष्टाएँ ऐसी मनोहारी रूप में प्रकट हो सकती हैं, होती हैं कि दर्शक मंत्रमुग्ध सा उसमें तन्मय हो जाता है। साथ ही श्रव्य-काव्य शिक्षितों से सम्बंधित है परन्तु दृश्य-काव्य सामान्य जनता की वस्तु है। उसके मनोविनोद और हित के लिए नाटक या दृश्य का निर्माण हुआ है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने दृश्य-काव्य के लिए नाट्य शब्द का प्रयोग किया है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से है जिसका अभिप्राय अनुकरण करना है। जिसमें सभी प्रकार के मानवों के चरित्रों और भावों का अनुकरण किया जाता है, वही नाटक है। सिद्धांत-कौमुदी में नाटक की परिभाषा

TOUCH 'n PASS

इस प्रकार दी गयी हैं—'वाक्यार्थभिनयोर्नाट्यम' अर्थात वाक्यार्थ का अभिनय ही नाट्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि नाट्य अभिनय प्रधान विधा है।

बाबू गुलाब राय के अनुसार, "नाटक का सम्बन्ध नट से है, अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते हैं। इसी में नाटक शब्द की अधिक सार्थकता है।"

नाटक के अभिनय के पक्ष के आधार पर सिसरो ने कहा है, "Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

अर्थात् "नाटक जीवन की प्रतिलिपि प्रथाओं का दर्पण और सत्य का प्रतिबिम्ब है"। अर्थात् नाटक मूलत: मंचीय विधा है, लेकिन चूँकि वह प्राथमिक स्तर पर शब्दबद्ध रचना है इसलिए वह पाठ्य विधा है, जिसमें पाठक का मन ही मंच का कार्य करता है।

इस प्रकार नाटक की सामान्य परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि साहित्य की जिस विधा में अभिनेता मूल चरित्र का, मूल पात्र का अपने ऊपर आरोप कर उसी प्रकार आचरण करता है, जिस प्रकार उन ऐतिहासिक या पौराणिक या समसामायिक पात्रों ने किया हो। यदि मूल पात्र कल्पित है, तब भी नाटककार ने उनके जिन कार्य व्यापार की कल्पना की है, वैसा ही अनुकरण अभिनेता जिस विधा में करता है, वह विधा रूपक या नाटक कहलाती है। नाटक में केवल साहित्यिक नहीं, बल्कि अन्य ललित कलाओं का भी समन्वय होता ; जैसे—संगीत, नृत्य, चित्र आदि।

नाटक शब्दावली—अभिनय आरंभ होने के पहले जो क्रिया (मंगलाचरण नांदी) होती है, उसे पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग, के उपरांत प्रधान नट या सूत्रधार, जिसे स्थापक भी कहते हैं, आकर सभा की प्रशंसा करता है फिर नट, नटी सूत्रधार इत्यादि परस्पर वार्तालाप करते हैं जिसमें खेले जाने वाले नाटक का प्रस्ताव, कवि-वंश-वर्णन आदि विषय आ जाते हैं। नाटक के इस अंश को प्रस्तावना कहते हैं। जिस इतिवृत्त को लेकर नाटक रचा जाता है उसे 'वस्तु' कहते हैं। 'वस्तु' दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु। जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसे 'अधिकारी' कहते हैं। इस अधिकारी के संबंध में जो कुछ वर्णन किया जाता है उसे आधिकारिक वस्तु कहते हैं; जैसे—रामलीला में राम का चरित्र। इस अधिकारी के उपकार के लिये या रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जिसका वर्णन आ जाता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे—सुग्रीव, आदि का चरित्र। 'सामने लाने' अर्थात् दृश्य सम्मुख उपस्थित करने को अभिनय कहते हैं। अत: अवस्थानुरुप अनुकरण या स्वाँग का नाम ही अभिनय है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अंगों की चेष्टा से जो अभिनय किया जाता है उसे आंगिक, बचनों से जो किया जाता है उसे वाचिक, भेष बनाकर जो किया जाता हैं उसे आहार्य तथा भावों के उद्रेक से कंप, स्वेद आदि द्वारा जो होता है उसे सात्विक कहते हैं।

नाटक में बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँचों के द्वारा प्रयोजन सिद्धि होती है। जो बात मुँह से कहते ही चारों ओर फैल जाए और फलसिद्धि का प्रथम कारण हो उसे 'बीज' कहते हैं; जैसे—वेणीसंहार नाटक में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साह वाक्य द्रौपदी के केशमोजन का कारण होने के कारण बीज है। कोई एक बात पूरी होने पर दूसरे वाक्य से उसका संबंध न रहने पर भी उसमें ऐसे वाक्य लाना जिनकी दूसरे वाक्य के साथ असंगति न हो 'बिंदु' है। बीच में किसी व्यापक प्रसंग के वर्णन को पताका कहते हैं—जैसे उत्तरचरित में सुग्रीव का और अभिज्ञान-शांकुतल में विदूषक का चरित्र वर्णन। एक देश व्यापी चरित्र वर्णन को 'प्रकरी' कहते हैं। आरंभ की हुई क्रिया की फल सिद्धि के लिये जो कुछ किया जाए उसे 'कार्य' कहते हैं; जैसे—रामलीला में रावण वध। किसी एक विषय की चर्चा हो रही हो, इसी बीच में कोई दूसरा विषय उपस्थित होकर पहले विषय से मेल में मालूम हो वहाँ पताका स्थान होता है; जैसे—रामचरितमानस में राम सीता से कह रहे हैं- 'हे प्रिये! तुम्हारी कोई बात मुझे असह्य नहीं, यदि असह्य है तो केवल तुम्हारा विरह, इसी बीच में प्रतिहारी आकर कहता है: देव! दुर्मुख उपस्थित। यहाँ 'उपस्थित' शब्द से 'विरह उपस्थित' ऐसा प्रतीत होता है और एक प्रकार का चमत्कार मालूम होता है। संस्कृत साहित्य में नाटक संबंधी ऐसे ही अनेक कौशलों की उद्भावना की गई है और अनेक प्रकार के विभेद दिखाए गए हैं।

बीज—जो किसी नाटक के आरम्भ में अल्परूप में निर्दिष्ट तत्त्व है लेकिन प्रयोजन अथवा फल प्राप्ति में मुख्य कारण बनता है, वह बीज नामक अर्थप्रकृति कहलाती है। यह बीज अनेक प्रकार से विस्तृत रूप धारण करता है जिस प्रकार बीज देखने मे छोटा होता है लेकिन यही समय के साथ अनेक शाखाओं के रूप में विस्तृत रूप से फैलता है और हमें फल प्रदान करता है उसी प्रकार किसी नाटकादि में कोई कथन या कोई छोटा-सा विचार जो नाटक के फल की प्राप्ति का प्रारम्भिक कारण है वह 'बीज' नामक

TOUCH 'n' PASS

अर्थप्रकृति होती है। उदाहरण के रूप में, रत्नावली नाटक में दैव (भाग्य) अनुकूल होने पर सभी कार्य सिद्ध होते हैं। यह कथन यौगन्धरायण को अपने स्वामी उदयन के लिए कार्य प्रारम्भ करने की प्रेरणा देता है।

बिन्दु-अवान्तरार्थविच्छेदेबिन्दुच्छेदकारणम्।

अर्थात किसी अवान्तर कथा के द्वारा जब मुख्य कथा में बाधा उत्पन्न होती है तब मुख्य कथा को फिर जोड़ने वाला तथा आगे बढाने वाला जो उपाय किया जाता है। वह बिन्दु है यह बिन्दु जल में तेल के समान होता है।

उदाहरण—रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता द्वारा कामदेव की पूजा के प्रसंग से मुख्य कथा में विच्छेद होने पर उदयन के आगमन की सूचना दी जाती है। सागरिका यह सुनकर कहती है कि यही राजा उदयन है जिनके लिए मेरे पिता मुझे दे रहे है। उसके हृदय में राजा उदयन के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। जिससे मुख्य कथा को गति मिलती है।

पताका-सानुबन्धं पताकारव्यम्।

अर्थात वह प्रासंगिक कथा जो मुख्यकथा के साथ दूर तक चलती है, वह पताका कहलाती है; जैसे—रामायण में सुग्रीव की कथा। पताका के नायक को पताका नायक कहते है। यह सहनायक होता है जो मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति में नायक की सहायता करता है।

प्रकरी-प्रकरी च प्रदेशभाक्।

अर्थात वह प्रासंगिक कथा जो दूर तक नहीं चलती है; जैसे—रामायण में शबरी वृतान्त। कार्य—**कार्यत्रिवर्गस्तच्छेदद्वमेकानुबन्धिच।** धर्म, अर्थ, काम ये तीनों किसी भी नाटकादि के मुख्य फल माने गए हैं। इन तीनों में से एक, दो या तीनों फलों की प्राप्ति होना ही कार्य है। **उदाहरण**—रत्नावली नाटिका में रत्नावली की प्राप्ति।

नाटक के तत्त्व—नाटक साहित्य की पुरातन विधा है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के स्वरूप, विधायक तत्त्वों की विस्तार से चर्चा की है।

प्र.2. नाट्यविधाओं में वृत्ति और इसके प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

नाट्यविधाओं में वृत्ति और इसके प्रकार

नाट्यविधाओं में नायिका तथा नायक के व्यापार विशेष ही वृत्तियाँ कहलाती हैं। संस्कृत साहित्य की परम्परा के आधार पर वृत्तियाँ मुख्य रूप में तीन मानी गयी हैं, जो कि कैशिकी, सात्त्वती एवं आरभटी कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अर्थवृत्तियाँ स्वीकार नहीं की गयी हैं, किन्तु नाटकों के तारतम्य के आधार पर चौथी भारती नामक अर्थवृत्ति भी मानी गयी है—

विलासविन्यासक्रमोवृत्तिः। (काव्यमीमांसा)

आचार्य उभट के नाट्यमतावलम्बियों के द्वारा एक अलग से पंचमवृत्ति भी स्वीकार की गयी है, परन्तु वह धनंजय धनिकादि द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी। इस प्रकार कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी एवं भारती चार प्रकार की नाट्यवृत्तियाँ होती हैं—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृंगारचेष्टितैः।। (दशरूपक—2/47)

(अ) कैशिकी वृत्ति—नाटकीय कथावस्तु के समस्त पात्रों द्वारा मनोरम वेशभूषा से सुसज्जित होना, इस वृत्ति की विशेषता है क्योंकि वेशभूषा से सुन्दर दिखने वाले पात्रों के द्वारा ही सम्यक रूप से नृत्य, गायन, सम्भव है, तथा स्पष्ट ही है कि कैशिकी वृत्ति की समस्त शृंगारिक गतिविधियों की सशक्तता के लिए रूप, सौन्दर्य तथा वस्त्राभूषण प्रमुख हैं। समस्त शृंगारिक क्रिया-कलापों का चित्रण कैशिकी वृत्ति का ही विषय है। यह भी मुख्य रूप में चार प्रकार की होती है—1. नर्म 2. नर्मस्फिंज 3. नर्म स्फोट 4. नर्मगर्भ

नर्मतत्स्फिजतत्स्फोटतद्गर्भश्चतुरंगिका। (दशरूपक-द्वि० प्र०)
शृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे व वीभत्से वृतिः सर्वत्र भारती। (सा० दर्पण-6/13)

1. **नर्म**—हास्यमिश्रित विलास या परिहास को नम कहा जाता है। इस प्रकार हास-परिहास की कई अन्य रूपों में भी व्यक्त किया गया है। कभी हास्य शृंगारिक क्रियाओं के साथ कभी शुद्ध रूप में तथा कभी रसों के सम्मिश्रण से प्राप्त होता है। नर्म के भेद का निम्न विभाजन किया गया है—
   नर्म—1. शुद्धहास्य, 2. शृंगारीहास्य, 3. भयमुक्तहास्य।

TOUCH 'n' PASS

शृंगारीहास्य—1. स्वानुराजनिवेदन, 2. संभोगेच्छाप्रकाशन, 3. मान।
भयमुक्तहास्य—1. शुद्ध, 2. सान्तरंग।
अतः इस प्रकार शुद्धहास्य का एक भेद, शृंगारीहास्य के तीन भेद, भयमुक्तहास्य के दो भेद सहित कुल छः भेद नर्म के स्वीकृत किये गये हैं। क्रियाकलापों के प्रकाशन के साधन, वाणी वेशभूषा एवं चेष्टा के आधार पर $3 \times 6 = 18$ भेद प्राप्त होते हैं—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम्।
हास्येनैव सशृंगारमयेन विहितं त्रिधा।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृंगार्यपि त्रिधा॥
बुद्धमंगं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम्॥ (दश०-2/48-50)

2. **नर्मस्फिंज**—नायक-नायिका द्वारा परस्पर एक-दूसरे के प्रति सबसे पहले आकर्षित करने वाले शृंगारिक वचनों का प्रयोग किया जाता है, तथा प्रथम बार की कामक्रीडा के सुख का पूर्ण आनन्द प्राप्त करते हैं, किन्तु रसादि क्रिया के समापन के पश्चात् लौकिक अथवा अलौकिक (पितृ देव) के द्वारा हमें देख तो नहीं लिया गया, इस प्रकार से भयभीत होते हैं। उसे नर्मस्फिंज कहते हैं।

नर्मस्फिजः सुखाम्भो भयान्तो नवसंगमे॥ (दशरूपक-द्वि०प्र०)

3. **नर्मस्फोट**—जहाँ नाटकीय कथावस्तु में सात्विक भावों का आंशिक प्रभाव हो, तथा अन्तिम (समापन) भयादि से हो, नायिका-नायक के भावों में अल्प-अल्प स्फूतता प्रतीत हो, एवं पूर्ण रस की अभिव्यक्ति न की जा सके, वहीं नर्मस्फोट होता है। उदाहरणार्थ—मालतीमाधव में मकरन्द के द्वारा नायक माधव के अलसादि, सात्विक-भावलेश वर्णित करना, तथा स्वयं का मालती के सन्दर्भित अनुराग को व्यक्त करना। यथा—
इसकी गमनावस्था में प्रमाद दृष्टिगत हो रहा है, आँखों में सूनापन दिखायी दे रहा है, श्वास-प्रश्वास की गति निरन्तर बढ़ी हुई है। उपरोक्त समस्त संकेतों से प्रतीत होता है, कि यह कामक्रीडा को वेग अथवा रत्यादि की अति उत्सुकता है, क्योंकि उपर्युक्त संकेतों से अन्य किसी पृथक कारण की प्रतीति नहीं देखी जा सकती है, तथा सत्य ही है, कि कामदेव ने अपनी लीलाओं का मानवों पर चलना प्रारम्भ कर दिया, कि यौवन काल में प्राकृतिक सौन्दर्य एवं रमणीय दृश्य भी तरुण-तरुणियों को अच्छे नहीं लगते, तथा वे कामक्रीडा की चाह में सदैव ही अधीर होते हैं—

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं, श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं, ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति धीरताम्। (मालतीमाधवम्)

4. **नर्मगर्भ**—नायक जहाँ पर अपने कार्यों को पूर्णता प्रदान करने के लिए, बिना किसी सहायक को सूचित किये, अति गोपनीय रूप में छिप-छिप कर क्रियाकलापों में रत हो, वह नर्मगर्भ कहलाता है। कैशिकी वृत्ति के अन्तर्गत यह स्थिति हासयुक्त अथवा हास्यविहीन दोनों अवस्थाओं में हो सकती है—

दूदन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।
अंगैसहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी॥ (दशरूपक-2/52)

नायक अपनी ज्येष्ठा अथवा कनिष्ठा दोनों नायिकाओं को एक ही स्थल पर बैठे हुए देखता है तो वह धृष्ट नायक सर्वप्रथम अपनी ज्येष्ठा नायिका की आँखे अपने हाथों से ढककर (ताकि कनिष्ठा से किये गये प्रेमाचरण का पता ज्येष्ठा को न चले) अपनी कनिष्ठा नायिका के कपोल पर चुम्बन लेता है, जिससे उसका हृदय एवं कपोल प्रेमालाप हेतु आन्दोलित हो उठता है—

दृष्टवैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः।
ईषद्वकितकंधर सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-मन्तर्हासलस त्कपोलफलका पूर्वोऽपरा चुम्बति॥

(ब) सात्त्वती वृत्ति—संस्कृत नाटकों में जहाँ सत्वतत्त्व की बहुलता, हो किसी भी प्रकार से कथावस्तु शोकयुक्त न हो, सर्वांग हर्षादि परिवेश में अभिमंचित हो, पराक्रम, स्नेह, मधुर आदि भावों की सर्वत्र अवस्था हो, अभिनय में वीर रस रौद्र तथा अद्भुत रसों का प्राचुर्य तथा मुख्य रूप से श्रेष्ठ वाणी और शरीर गत हाव-भावों से अभिनय की उत्तमता देखी जाती है, वहाँ सात्त्वती वृत्ति

TOUCH 'n' PASS

होती है। करुणा एवं शृंगारादि भावों की अल्पता, पुरुषवर्ग की बहुलता, सात्त्वती वृत्ति में दृष्टिगत होती है। इस वृत्ति को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया गया है—1. संलाप, 2. उत्थापक, 3. संघात्य (संघात), 4. परिवर्तक।

विशोका सात्त्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्था सांघात्यः परिवर्तकः।। (दशरूपक-2/63)

1. **संलाप**—यह सात्त्वती वृत्ति का वह अंग है, जहाँ कथावस्तु में वर्णित दो परस्पर विरोधी पक्षों के साहसिक व अहंकारी वार्तालाप में नाना प्रकार के भावों से युक्त गम्भीर उत्तर-प्रत्युत्तर देखे जाते हैं, संलाप कहलाते हैं—

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः। (दशरूपक द्वि०प्र०)

यथा—राम तथा परशुराम के मध्य वार्ता के अंश—

राम—भगवान कार्तिकेय को आपके द्वारा युद्ध में परास्त करने के पश्चात् तथा बहुकाल तक आपके द्वारा भगवान शिव के शिष्यत्व को स्वीकार करने के फलस्वरूप ही शिव द्वारा यह परशु प्रदान किया गया।

परशुराम—सुनो राम शस्त्रों के प्रयोगाभ्यास काल में मैंने देवताओं की सेना सहित कार्तिकेय को परास्त किया था, इस पर भगवान शिव ने मुझे गले लगाया तथा मुझे प्रसन्न होकर यह परशु दिया—

शस्त्रप्रयो गखुरली कलहेगणानां, सैन्येवृतो विजित एवं मया कुमारः।
एतावताऽपि परिरभ्य कृतप्रसादः, प्रासादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे।। (महावीर चरित)

2. **उत्थापक**—नाटकीय दृश्यों में जहाँ एक पात्र क्रोधित होकर प्रतिपक्षी पात्र को युद्धार्थ आन्दोलित किये जाने वाले वाक्यों को कहे तथा प्रतिपक्ष का पात्र युद्ध अथवा संघर्ष करने के लिए खड़ा होकर उसका युद्धामन्त्रण स्वीकार करके उद्यत हो, वही उत्थापक कहलाता है—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम्। (दशरूपक-2/63)

महावीरचरित में परशुराम, भगवान से कह रहे हैं, कि आप मुझे दृष्टिगत हो रहे हैं, इसका तात्पर्य किस प्रकार से व्यक्त करूँ। यह आश्चर्य मानूँ या आनन्दित होऊँ, दुःख या खेद व्यक्त करूँ, क्योंकि मैं विषयेत्तर होने के कारण किसी का विषय नहीं हूँ, फिर भी भगवान शिव का प्रसन्न होकर प्रदान किये गये यह धनुष तुम्हारे हाथों जृम्भित हो—

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा,
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्सांगत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै—
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम्।। (वीरचरित)

3. **सांघात्य**—सात्त्वती वृत्ति के सांघात्य (संघात) प्रकार में, मन्त्रणा के प्रयोग द्वारा, देवताओं के आह्वान द्वारा अथवा धन आदि मूल्य चुकाकर अर्थात् षड्यन्त्रपूर्वक प्रतिपक्ष में फूट डालकर विजय की ओर बढ़ना संघात कहलाता है—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः सङ्घभेदनम्। (दशरूपक-द्वि० प्र०)

परपक्ष का भेदन मन्त्रणा एवं बुद्धिचातुर्य से किया जाता है। जैसे—चाणक्य द्वारा मुद्राराक्षस में अपनी बुद्धि के बल से राक्षस के सहयोगियों में फूट डाल दी गयी थी। मुद्राराक्षस में ही पर्वतक के मूल्यवान आभूषणों का राक्षस के पास पहुँचना, तथा मलयकेतु के साथ ही उसका भेदन होना, यह अर्थशक्ति का उदाहरण है तथा देवशक्ति जैसे भगवान राम की दिव्य शक्ति से ही विभीषण का रावण से भेद हो जाना।

4. **परिवर्तक**—कथावस्तु में जब कोई पात्र चुनौतीपूर्ण किसी कार्य में पहले तो प्रवृत होता है, किन्तु कुछ समय पश्चात उस का वहीं पर (अधूरे कार्य में ही) त्यागकर किसी अन्य अप्रधान कार्य में प्रवृत्त हो जाता है उस परिवर्तक कहते हैं—

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः। (दशरूपक-2/55)

महावीरचरित में भगवान राम के साहस, शौर्य तथा युद्ध में पराक्रम को देखकर आश्चर्यचकित हुए परशुराम ने राम से युद्ध नहीं किया, बल्कि उनको हृदय से लगाने की इच्छा व्यक्त की, यह परिवर्तक कहलाता है।

परशुराम का यह कथन है, कि गणेश के दन्तमूसलों के प्रहार से दाग पड़े हुए तथा कुमार कार्तिकेय के बाणों द्वारा वक्ष में नानाविध चोटों के होने पर भी मैं अत्यधिक रोमांचित हूँ तथा हे राम! तुम्हें गले लगाना चाहता हूँ—

TOUCH 'n PASS

हेरम्वदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति।
वक्षो विशाखविशिखव्रणलांछनं मे।
रोमांचकंचुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धमिवेच्छति त्वाम्।। (महावीर चरित)

(स) आरभटी वृत्ति—जिस वृत्ति के अन्तर्गत छल, कपट, अहंकार, कुटिलता, असत्यभाषण, मदोदभ्रान्त, गहन षडयन्त्र, मायाजाल आदि की प्रचुरता नाट्य कथावस्तुओं में देखी जाती है। यह आरभटी वृत्ति कहलाती है। यह मुख्यत: चार प्रकार की होती है—1. संक्षिप्तिका, 2. सम्फेट, 3. वास्तुत्थापन, 4. अवपातन।

एभिरंगैश्चतुर्येयं सात्वत्यारभटी पुन:।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितै:।
संक्षिप्तिका स्यात्सम्फेटो वस्तूत्थापनावपातने। (दशरूपक-2/68)

1. **संक्षिप्तिका**—जहाँ शिल्प निर्मित वस्तुओं का प्रयोग बहुलता से हो तथा नाटकीय कथावस्तु का संक्षेपण हो (तथा प्रधान नायक की निवृत्ति के पश्चात, द्वितीय नायक द्वारा उस भूमिका में नायकत्व का निर्वहन करना) वह संक्षिप्तिका कहलाती है—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्ति: शिल्पयोगत:।
पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रह:। (दशरूपक-2/57)

मृत्तिका, लकड़ी, वृक्षपल्लव, चर्मादि से गृहादि वस्तुओं की निर्मिति संक्षिप्तिका कहलाती है। जैसे—राजा उदयन द्वारा किलिंजहस्ति का प्रयोग किया गया। नायक की निवृत्ति के पश्चात् अन्य की नायकत्व की भूमिका। जैसे—राम तथा बाली के युद्ध में बाली की मृत्यु के पश्चात् नायकत्व भूमिका में सुग्रीव का होना।

2. **सम्फेट**—कथावस्तु में जहाँ दो पात्र क्रोधावेश में परस्पर युद्ध करने के ध्येय से उत्तेजित होकर आक्षेप लगाते हुए प्रहार करते हैं। वह सम्फेट कहलाता है—

संफेटस्तु समाघात: क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयो:। (दशरूपक-2/58)

रामायण में इन्द्रजीत तथा लक्ष्मण के युद्ध में अधिक्षेप तथा मालतीमाधव में माधव एवं अघोरघण्ट की क्रोधावस्था में अधिक्षेप करना।

3. **वस्तूत्थापन**—इस वृत्तिभेद में लगभग सभी रसों का अन्तर्भाव देखा जाता है, इसमें पराश्रय का अभिनय एवं भययुक्त वातावरण का समन्वय होता है, तथा मंत्रों के आधार पर मायाभास से वस्तुओं की उत्थापना करना ही वस्तूत्थापन कहा गया है—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तुस्थापनमिष्यते। (दशरूपक द्वि० प्र०)

यथा—यह क्या हुआ कि समस्त विश्व के अंधेरे पर विजय प्राप्त करने वाली, सूर्य की प्रगाढ़ रश्मियों के होते हुए भी आकाश में अंधकार व्याप्त है, एवं सिरों के कटे हुए शरीरों से बहते हुए रक्त से अपनी भूख को मिटाकर ये सियारिनें चिल्ला रहीं है। इनके चिल्लाने से ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे ये अपने रक्तमुखों से अग्नि उगल रही हैं—

जीयन्ते चयिनोऽपि सांद्रतिमिर व्रातैवियदव्यापिणि।
भस्विन्त: सकला स्वेरपि रुच: कस्मादकस्मादभी।
एताश्चोग्रकन्धरनन्धरुधिरैराध्यायमनोदरा।
मुंचत्थाननकन्दरानलमितस्ताम्राऽऽरवा: फेरवा:। (उदात्तराघव)

4. **अवपातन**—नाटकीय रंगमंच में पात्रों का अत्यन्त भययुक्त वातावरण, प्रसन्नता, अतिशीघ्रता से रंगमंच में आने तथा जाने से भगदड़ होना, ही अवपातन कहलाता है—

अवपातस्तु निष्कामप्रवेशत्रासविद्भवै:। (दशरूपक-2/59)

घोड़ों के अस्तबल से वानर के छूट जाने से अन्त:पुर में भगदड़ का वर्णन रत्नावली नाटिका का है—गले के स्वर्णहार को तोड़कर, अवशेष हार को ले जाता हुआ, पैरों में बंधे हुए किंकिणी को बजाते हुए, वह वानर भागता हुआ, महल के कई द्वारों को पार करता हुआ, राजा के कक्ष तक पहुँचने वाला है, जिससे सभी भयभीत अवस्था में हैं। अन्त:पुर के नपुंसक लज्जा छोड़कर भाग रहे हैं,

TOUCH 'n' PASS

बौने, कुबड़े, किरात् आदि अपने-अपने छुपने के स्थान ढूँढ रहे हैं तथा सम्पूर्ण राजमहल के कर्मचारी एवं पशु भयाक्रान्त हैं। यही अवपातन है—

कण्ठे कृत्वाऽवशेष कनकमयमधः शृंखलादामकर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरण विलत्किंकिणीचक्रवालः।
दत्तातंको गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः।
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवंग प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः।।
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनामावादकृत्वा त्रपा-
मन्तः कंचुकिकंचुकस्य विशति श्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृश नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जानीचतयैव यान्ति मनकैरात्मेक्षणाशकिनः।। (रत्नावली नाटिका)

भारतीवृत्ति—नाट्यजगत में जिस वृत्ति के द्वारा वाणी को प्राधान्यता प्रदान की गयी है, यह भारतीवृत्ति कहलाती है। यह शब्दवृत्ति भी कहलाती है। तथा इसका प्रयोग नाटकीय अभिमंचन में पुरुष पात्रों द्वारा किया जाता है। यह वृत्ति रसादि में प्राप्त होती है। कहीं-कहीं हास-परिहास भारतीवृत्तिपरक होते हैं, इसके चार भेद है—1. प्ररोचना, 2. आमुख, 3. वीथी, 4. प्रहसन।

वृत्तिः सर्वत्र भारती। (दशरूपकः-द्वि० प्र०)

अतः उपरोक्त चारों नाट्यवृत्तियों में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगार में, सात्त्वती का वीर में आरभटी का रौद्र में एवं वीभत्स रस में किया जाता है। शब्दवृत्ति होने के कारण भारती का सभी रसों में प्रयोग होता है। (दशरूपक-द्वि० प्र०)

प्र.3. नाट्यशास्त्र में अभिनय व इसके प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

नाट्यशास्त्र में अभिनय व इसके प्रकार

अभिनय—अभिनय किसी अभिनेता या अभिनेत्री के द्वारा किया जाने वाला वह कार्य है जिसके द्वारा वे किसी कथा को दर्शाते हैं, साधारणतया किसी पात्र के माध्यम से। अभिनय का मूल ग्रन्थ नाट्यशास्त्र माना जाता है। इसके रचयिता भरत मुनि थे। जब प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रूपक में निर्दिष्ट संवाद और क्रिया के अनुसार नाट्यप्रयोक्ता द्वारा सिखाए जाने पर या स्वयं नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुखमुद्रा वेशभूषा के द्वारा दर्शकों को, शब्दों को शब्दों के भावों का प्रिज्ञान और रस की अनुभूति कराते हैं तब उस संपूर्ण समन्वित व्यापार को अभिनय कहते हैं। भरत ने नाट्यकारों में अभिनय शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है: 'अभिनय' शब्द 'णीं' धातु में 'अभि' उपसर्ग लगाकर बना है। अभिनय का उद्देश्य होता है किसी पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचा देना; अर्थात् दर्शकों या सामाजिकों के हृदय को भाव या अर्थ से अभिभूत करना'। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के छठे परिच्छेद के आरम्भ में कहा है—'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः' अर्थात् अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है।

अभिनय करने की प्रवृत्ति बचपन से ही मनुष्य में तथा अन्य अनेक जीवों में होती है। हाथ, पैर, आँख, मुँह, सिर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियों में समान रूप से पाई जाती है। उनके अनुकरण कृत्यों का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इससे उन्हें वास्तविक अनुभव जैसा आनंद मिलता है और दूसरा यह कि इससे उन्हें दूसरों को अपना भाव बताने में सहायता मिलती है। इसी दूसरे उद्देश्य के कारण शारीरिक या आंगिक चेष्टाओं और मुख मुद्राओं का विकास जो जंगली जातियों में बोली हुई भाषा के बदले या उसकी सहायक होकर अभिनय प्रयोग में आती है।

अभिनय के प्रकार—भरत ने चार प्रकार का अभिनय माना है—1. आंगिक अभिनय 2. वाचिक अभिनय 3. आहार्य अभिनय और 4. सात्विक अभिनय।

इसके दो अन्य भेद—चित्राभिनय एवं सामान्याभिनय। परवर्ती आचार्यों में केवल भोजराज ने इन दोनों अभिनय को अपने काव्यशास्त्र में स्थान दिया है।

1. **आंगिक अभिनय**—आंगिक अभिनय का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्टाओं से कोई भाव या अर्थ प्रकट करना। सिर, हाथ, कमर, वक्ष, पार्श्व और चरण द्वारा किया जाने वाला अभिनय आंगिक अभिनय कहलाता है और आँख, भौंह, अधर, कपोल और ठोढ़ी से किया हुआ मुखज अभिनय, उपांग अभिनय कहलाता है। चेष्टाकृत अभिनय उसे कहते हैं जिसमें पूरे

TOUCH 'n PASS

शरीर की विशेष चेष्टा के द्वारा अभिनय किया जाता है; जैसे—लँगड़े, कुबडे, या बूढ़े की चेष्टाएँ दिखाकर अभिनय करना। ये सभी प्रकार के अभिनय विशेष रस, भाव तथा संचारी भाव के अनुसार किए जाते हैं।

शरीर अथवा आंगिक अभिनय में सिर के तेरह, दृष्टि के छत्तीस, आँख के तारों के नौ, पुट के नौ, भौंहों के सात, नाक के छह, कपाल के छः, अधर के छः और ठोढ़ी के आठ अभिनय होते हैं व्यापक रूप से मुखज चेष्टाओं (facial gestures) में अभिनय छः प्रकार के होते हैं। भरत ने कहा है कि मुखराग से युक्त शारीरिक अभिनय थोड़ा भी हो तो उससे अभिनय की शोभा दूनी हो जाती है। यह मुखराग चार प्रकार का होता है—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। ग्रीवा का अभिनय भी विभिन्न भावों के अनुसार नौ प्रकार का होता है।

आंगिक अभिनय में तेरह प्रकार के संयुक्तहस्त अभिनय, चौबीस प्रकार के असंयुक्तहस्त अभिनय, चौंसठ प्रकार के नृत्तहस्त का अभिनय और चार प्रकार के हाथ के कारण का अभिनय बताया गया है। इसके अतिरिक्त वक्ष के पाँच, पार्श्व के पाँच, उदर के तीन, कटि के पाँच, उरु के पाँच, जंघा के पाँच और पैर के पाँच प्रकार के अभिनय बताए गए हैं। भरत ने सोलह भूमिचारियों और सोलह आकाशचारियों का वर्णन करके दस आकाशमंडल और उस भौम मंडल के अभिनय का परिचय देते हुए गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है कि किस भूमिका के व्यक्ति की मंच पर किस रस में, कैसी गति होनी चाहिए, किस जाति, आश्रम, वर्ण और व्यवसाय वाले को रंगमंच पर कैसे चलना चाहिए तथा रथ, विमान, आरोहण, अवरोहण, आकाशगमन आदि का अभिनय किस गति से करना चाहिए। गति के ही समान आसन या बैठने की विधि भी भरत ने विस्तार से समझाई है। जिस प्रकार यूरोप में घनवादियों (क्यूब्रिस्ट्स) ने अभिनयकौशल के लिए व्यायाम का विधान किया है वैसे ही भरत ने भी अभिनय का ऐसा विस्तृत विवरण दिया है कि अभिनय के संबंध में संसार में किसी देश में अभिनय कला का वैसा सांगोपांग निरूपण नहीं हुआ।

2. **वाचिक अभिनय**—अभिनेता रंगमंच पर जो कुछ मुख से कहता है वह सब का सब वाचिक अभिनय कहलाता है। साहित्य में तो हम लोग व्याकृता वाणी ही ग्रहण करते हैं, किंतु नाटक में अव्याकृता वाणी का भी प्रयोग किया जा सकता है। चिड़ियों की बोली, सीटी देना या ढोरों को हाँकते हुए चटकारी देना आदि सब प्रकार की ध्वनियों को मुख से निकालना वाचिक अभिनय के अंतर्गत आता है। भरत ने वाचिक अभिनय के लिए 63 लक्षणों का और उनके दोष-गुण का भी विवेचन किया है। वाचिक अभिनय का सबसे बड़ा गुण है अपनी वाणी के आरोह-अवरोह को इस प्रकार साध लेना कि कहा हुआ शब्द या वाक्य अपने भाव और प्रभाव को बनाए रखे। वाचिक अभिनय की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यदि कोई जवनिका के पीछे से भी बोलता हो तो केवल उसकी वाणी सुनकर ही उसकी मुखमुद्रा, भावभंगिमा और आकांक्षा का ज्ञान किया जा सके।
3. **आहार्य अभिनय**—आहार्य अभिनय वास्तव में अभिनय का अंग न होकर नेपथ्यकर्म (stagework) का अंग है और उसका संबंध अभिनेता से उतना नहीं है जितना नेपथ्यसज्जा (makeup) करने वाले से है। किंतु आज के सभी प्रमुख अभिनेता और नाट्यप्रयोक्ता यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक अभिनेता को अपनी मुखसज्जा और रूपसज्जा स्वयं करनी चाहिए।
4. **सात्विक अभिनय**—सात्विक अभिनय तो उन भावों का वास्तविक और हार्दिक अभिनय है जिन्हें रस सिद्धांतवाले सात्विक भाव कहते हैं और जिसके अंतर्गत, स्वेद (sweat), स्तंभ (stat), कंप (fear), अश्रु (tear), वैवर्ण्य (exclusion), रोमांच (thrill), स्वरभंग (promotion) और प्रलय की गणना होती है। इनमें से स्वेद और रोमांच को छोड़कर शेष सबका सात्विक अभिनय किया जा सकता है। अश्रु के लिए तो विशेष साधना आवश्यक है, क्योंकि भाव मग्न होने पर ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

भरत के नाट्यशास्त्र में सबसे विचित्र प्रकरण है चित्राभिनय का, जिसमें उन्होंने ऋतुओं, भावों, अनेक प्रकार के जीवों, देवताओं, पर्वत, नदी, सागर आदि का, अनेक अवस्थाओं तथा प्रातः, सायं, चंदज्योत्स्ना (night) आदि के अभिनय का विवरण दिया है। यह समूचा अभिनयविधान प्रतीकात्मक (symbolic) ही है, किंतु ये प्रतीक उस प्रकार के नहीं हैं जिस प्रकार के यूरोपीय प्रतीकाभिनयवादियों ने ग्रहण किए हैं। फ्रांसीसी विश्वकोशकार देनी दिदरो ने उदात्तवादी (क्लासिकल) फ्रांसीसी नाटक और उसकी रूढ़ अभिनय पद्धति से ऊबकर वास्तविक जीवन के नाटक का सिद्धांत प्रतिपादित किया और बताया कि नाटक को फ्रांस के बुर्जुवा (मध्यवर्गीय) जीवन की वास्तविक प्रतिच्छाया बनना चाहिए। उसने अभिनेता को यह सुझाया कि प्रयोग के समय अपने पर ध्यान देना चाहिए, अपनी वाणी सुननी चाहिए और अपने आवेगों की स्मृतियाँ ही प्रस्तुत करनी चाहिए। किंतु 'मास्को स्टेज ऐंड

TOUCH 'n PASS

इंपीरियल थिएटर' के भूतपूर्व प्रयोक्ता और कलासंचालक थियोदोर कौमिसारजेवस्की ने इस सिद्धांत का खंडन करते हुए लिखा था–अब यह सिद्ध हो चुका है कि यदि अभिनेता अपने अभिनय पर सावधानी से ध्यान रखता रहे तो वह न दर्शकों को प्रभावित कर सकता है और न रंगमंच पर किसी भी प्रकार की रचनात्मक सृष्टि कर सकता है, क्योंकि उसे अपने आंतरिक स्वात्म पर जो प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं उन पर एकाग्र होने के बदले वह अपने बाह्य स्वात्म पर एकाग्र हो जाता है जिससे वह इतना अधिक आत्मचेतन हो जाता है कि उसकी अपनी कल्पना शक्ति नष्ट हो जाती है। अत: श्रेष्ठतर उपाय यह है कि वह कल्पना के आश्रय पर अभिनय करे, नवनिर्माण करे, नयापन लाए और केवल अपने जीवन के अनुभवों का अनुकरण या प्रतिरूपण न करे। जब कोई अभिनेता किसी भूमिका का अभिनय करते हुए अपनी स्वयं की उत्पादित कल्पना के विश्व में विचरण करने लगता है उस समय उसे न तो अपने ऊपर ध्यान देना चाहिए, न नियंत्रण रखना चाहिए और न तो वह ऐसा कर ही सकता है, क्योंकि अभिनेता की अपनी भावना से उद्भूत और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करने वाली कल्पना अभिनय के समय उसके आवेग और अभिनय को नियंत्रित करती, पथ दिखलाती और संचालन करती है।

प्र.4. रूपक किसे कहते हैं? इसके स्वरूप (भेदों) का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

रूपक

संस्कृत आचार्यों ने इंद्रिय सन्निकर्ष के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं—दृश्य और श्रव्य। नट द्वारा अंग–विक्षेप, भाव–भंगिमाओं और उच्चारण–सौष्ठव के सहारे अभिव्यक्त रसपूर्ण जीवन प्रत्यय चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रधान होने के कारण दृश्य और कवि की वाणी द्वारा अभिव्यक्त उसके अनुभव श्रवणेंद्रिय के माध्यम से अनुभूय होने के कारण, श्रव्य–काव्य के अभिधान से प्रसिद्ध हो गए हैं। रूपक का संबंध काव्य की पहली विधा से है। रूपक शब्द 'रूप' धातु में एवल प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। साहित्य में यह नाट्य का वाचक माना जाता है। कहीं–कहीं रूपक के स्थान पर केवल रूप शब्द का प्रयोग भी मिलता है। वास्तव में प्रत्यय–भेद के अतिरिक्त दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। नाट्य के अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यह कहना कि इन शब्दों में अभिनय के अर्थ का समावेश नवीं या दसवीं शताब्दी के आस–पास हुआ युक्तियुक्त नहीं है। यदि हम ऋग्वेद संहिता, तैत्तरीयब्राह्मण, थेरगाथा, मिलिंदप्रश्न, अशोक के शिलालेख आदि में प्रयुक्त इन शब्दों को, अर्थ के विवादग्रस्त होने के कारण अभिनय के अर्थ से पूर्ण संबद्ध स्वीकार न भी करें तो भी नाट्य–शास्त्र के प्रमाण के आधार पर इनकी प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

नाट्यशास्त्र में कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से 'दशरूप' शब्द का प्रयोग नाट्य की दस विधानों के अर्थ में किया गया है। नाट्यशास्त्र का समय ई०पू० पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईसवी निश्चित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि रूपकशब्द नाट्य के अर्थ में ईसवी शताब्दी पूर्व से ही प्रचलित है।

रूपक या रूप का स्वरूप

व्याख्या के पूर्व हमें नाट्य, नृत्य और नृत्त शब्दों की विवेचना करनी पड़ेगी क्योंकि ये तीनों शब्द रूपक के विकास की प्रथम तीन भूमिकाओं के द्योतक हैं। इनको समझे बिना हम रूपक और उसके भेद–प्रभेदों के वास्तविक रूप को नहीं समझ सकते।

'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। नाट्य–दर्पण के रचयिता रामचंद्र के मतानुसार यह शब्द 'नाट्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। किंतु यह मत सर्वमान्य न हो सका क्योंकि पाणिनि ने नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानी है। पाणिनि का मत ही प्रतिष्ठित समझा जाता है। यहाँ पर हम थोड़ा–सा संकेत विद्वानों की उन आनुमानिक क्रीड़ाओं की ओर कर देना चाहते हैं जो नट् धातु का आधार लेकर की गई है। वैवर साहब ने नट् धातु को 'नत्' धातु का प्राकृत–रूप माना है। मोनियर विलियम्स ने अपने कोष में इसी मत का समर्थन किया है। कुछ दूसरे विद्वानों का कहना है कि नट् धातु 'नृत्' का प्राकृत–रूप तो नहीं है किंतु इसका जन्म नृत् की अपेक्षा बहुत बाद में हुआ था। इस मत के समर्थकों में श्री मांकड और डॉ० चंद्रभानु गुप्त अग्रगण्य है। उनका कहना है कि नृत् धातु का प्रयोग हमें ऋग्वेद तक में मिलता है। किंतु नट् धातु पाणिनि से पहले कहीं भी प्रयुक्त नहीं मिलती है। उनका यह तर्क श्रमसाध्य खोजों पर आधारित नहीं है। मुझे ऋग्वेद में नट् धातु का प्रयोग भी मिला है। अत: श्री मांकड का मत निराकृत हो जाता है। वास्तव में नट् और नृत्त ये दोनों धातुएँ ऋग्वेद–काल से ही स्वतंत्र और निरपेक्ष–रूप से प्रचलित हैं। इसीलिए पाणिनि ने इनका उल्लेख अलग–अलग किया है। यह हो सकता है कि इन दोनों के अर्थों में समय–समय पर विविध भाषा–वैज्ञानिक कारणों

से परिवर्तन होता रहा हो। ऋग्वेद में ये दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त मिलती हैं। वेदोत्तर-काल में ये संभवत: समानार्थक हो गई थी। बाद में नद् धातु के अर्थ का और अधिक विस्तार हुआ। उसमें नृत् धातु के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ भी संबद्ध हो गया। इस बात का प्रमाण हमें नाट्य-सर्वस्व दीपिका और 'सिद्धांत कौमुदी' नामक ग्रंथों से मिलता है। इन दोनों ग्रंथों में नट्-धातु का अर्थ गात्र-विक्षेपण और अभिनय दोनों ही लिया गया है। आगे चलकर नट्-धातु केवल अभिनय मात्र की वाचक रह गई। गात्र-विक्षेपण के अर्थ में केवल नृत् धातु का ही प्रयोग प्रचलित हो गया। नाट्य-शब्द अभिनयार्थक नट् धातु से बना है और 'नृत्य' तथा 'नृत्त' ये दोनों शब्द गात्र-विक्षेपणार्थक 'नृत्' धातु से व्युत्पन्न हुए हैं।

नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनों की विस्तृत व्याख्या हमें शारदातनय-विरचित 'भावप्रकाशम्', विद्यानाथ लिखित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', निश्शक शार्ङ्ग देव प्रणीत 'संगीतरत्नाकर', नामक ग्रंथों में मिलती है। इनके अतिरिक्त मंदारमरंद चंपू, नाट्यदर्पण, सिद्धांत कौमुदी आदि ग्रंथों में भी इनपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन सभी ग्रंथों में नाट्य-स्वरूप के संबंध में कोई विशेष मतभेद नहीं दिखाई देता। किंतु नृत्य और नृत्त के संबंध में सबकी अपनी-अपनी धारणाएँ अलग-अलग हैं। इन सभी ग्रंथों में 'दशरूपकम्' की सबसे अधिक प्रतिष्ठा है। उसी के मत सर्वमान्य भी हैं। अतएव हम यहाँ पर उसी के आधार पर इन तीनों की स्वरूप-व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

दशरूपककार धनंजय और उसके टीकाकार धनिक दोनों ने नाट्य के स्वरूप को सविस्तार समझाने की चेष्टा की है। धनंजय ने अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहा है। आचार्य का अवस्था की अनुकृति से क्या अभिप्राय है इसको स्पष्ट करते हुए धनिक ने लिखा है, काव्य में जो नायक की धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ बतलाई गई हैं उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एकरूपता की प्राप्ति नाट्य कहलाती है। उसमें आंगिक अभिनय के साथ सात्त्विक अभिनय भी होता है। उसका विषय रस है इसीलिए वह रसाश्रित कहलाता है।

नृत्य नाट्य से भिन्न होता है। दोनों में विषय संबंधी अंतर है। नाट्य रसाश्रित होता है और नृत्य भावाश्रित। नृत्य में काव्यत्व भी नहीं पाया जाता। उसमें सुनने को बात भी नहीं होती। इसीलिए प्राय: लोग कहा करते हैं कि नृत्य केवल देखने की वस्तु है। नृत्य में आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। इसमें पदार्थ का अभिनय होता है, वाक्य का नहीं। इसे लोग दैव-आविष्कृत मानते हैं।

नृत्य से नृत्त भिन्न होता है। नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है किंतु नृत्त में किसी प्रकार का भी अभिनय नहीं होता। नृत्य और नृत्त में आधार-संबंधी भेद है। नृत्य का आधार भाव होते हैं और नृत्त का ताल और लय। यदि हम नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनों पर तुलनात्मक रूप से विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि नृत्त, नृत्य ये नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ हैं।

नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा में दस रूपकों (अभिनय काव्यों) का विधान है, जिन्हें दशरूप या दशरूपक कहते हैं। ये दस रूपक हैं-नाटक, प्रकरण, अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क), व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईशामृग। एक ग्यारहवें रूपक 'नाटिका' की चर्चा भी भरत के नाट्य-शास्त्र और दशरूपक में आई है, परन्तु उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना गया है। धनञ्जय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटिका का उल्लेख तो कर दिया है पर उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना।

दशरूप नाट्यपरम्परा—अभिनय काव्य को रूप अथवा रूपक कहते हैं। 'रूप्यते नाट्यते इति रूपम्; रूपामेव रूपकम्'- इस व्युत्पत्ति के अनुसार दृश्य-काव्यों की सामान्य संज्ञा 'रूप' या 'रूपक है। रूपक दो प्रकार के होते हैं—

1. प्रकृति, और
2. विकृति।

सर्वलक्षण से सर्वांग से परिपुष्ट दृश्य को प्रकृतिरूपक कहा गया है; जैसे—नाटक; और प्रकृतिरूपक के ढाँचे में ढले हुए परन्तु अपनी अपनी कुछ विशेषता लिए हुए दृश्य-काव्य विकृतिरूपक कहे गए हैं। सामान्य नियम है—'प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या।

उभय प्रकार के रूपकों में भरत द्वारा सविशेष महत्त्व के दस रूप माने गए हैं जो दशरूप के नाम से संस्कृत नाट्यपरम्परा में प्रसिद्ध हैं। उनकी पगिणना करते हुए भरत मुनि ने कहा है—

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाण: समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिम:।। (नाट्यशास्त्र 18-2)
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश:।। (नाट्यशास्त्र 18-3)

TOUCH 'n PASS

दस रूप ये हैं—1. नाटक, 2. प्रकरण, 3. अंक अर्थात् उत्सृष्टांक, 4. व्यायोग, 5. भाण, 6. समवकार, 7. वीथी, 8. प्रहसन, 9. डिम और 10. ईहामृगा।

इन दस रूपों में कुछ विस्तृत रूप हैं और कुछ लघुकाय। इनके कलेवर का आयाम एक अंक की सीमा से लगाकर दस अंक तक का हो सकता है। इनमें मुख्य रस शृंगार या वीर रस होता है। इनकी कथावस्तु पाँच संधियों में विभक्त होती है। पूर्ण रूप से परिपुष्ट रूपों में पाँचों संधियाँ पाई जाती हैं; अन्य लघुकाय रूपों में अपने अपने आयाम के मात्रानुसार बीच की संधियाँ छाँट दी जाती हैं। प्रत्येक रूप की कथावस्तु आधिकारिक एवं प्रासंगिक रूप से विभाजित होती है। प्रधान पुरुष को नायक कहते हैं, जिसका मुख्य लक्ष्य रूप का कार्य समझा जाता है। कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। कार्य का अपर नाम 'अर्थ' है जिसकी पाँच प्रकृतियाँ मानी गई हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कर्य। कार्यावस्था और अर्थप्रकृति के समानांतर संयोग से क्रमशः पाँच संधियाँ घटित होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।

रूपकों में अभिनीत वस्तु दृश्य एवं श्रव्य होती हैं; श्रव्य भी दो प्रकार की कहीं गई हैं—नियत श्रव्य और सर्वश्रव्य। कथावस्तु के उस भाग को जो सामाजिक नीति के विरुद्ध हो, अश्लील या शास्त्रनिषद्ध हो, अथवा मुख्य कार्य का अनुपकारक हो, रंगमंच पर प्रदर्शित न करने का विधान हैं; परन्तु पूर्वापर संदर्भ से अवगत कराने के हेतु पूर्वोक्त प्रकार के जिस कथाभाग से प्रेक्षकवर्ग का परिचय होना अनिवार्य हो वह अंश कतिपय अमुख्य पात्रों के संवाद द्वारा उपस्थित किया जाता है। ऐसे संवाद को अर्थोपक्षेपक कहते हैं जिसके पाँच प्रकार हैं—विष्कम्भ, प्रवेशक, चूलिका, अंकमुख और अंकावतार।

रूपकों के पात्र विविध श्रेणी के होते हैं—दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य। प्रत्येक पात्र अपनी प्रकृति के अनुसार उत्तम, मध्यम अथवा अधम माना गया है। पात्रों के द्वारा प्रयुक्त बोली एवं परस्पर संभाषण के भी नियम हैं। उत्तम पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं, शेष पात्र प्रायेण विविध प्राकृत अथवा देशी भाषाओं का। प्रत्येक पात्र को विशेषतः प्रधान पात्रों के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं जो अंतरंग भावों की विभिन्न चेष्टाओं की सहचरी है। कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती नामक चार वृत्तियाँ प्रमुख मानी गई हैं। दशरूपों के अभिनय में देश और काल के अनुरूप वेशभूषा, आमोद, प्रमोद एवं अन्य नाटकीय उपकरणों के संबंध में प्रायोगिक नियम भी विविध पात्रों के सामाजिक स्तर के अनुरूप निर्दिष्ट हैं जिनका समावेश नाट्यशास्त्र में 'प्रवृत्ति' के अंतर्गत किया गया है। साथ ही नृत्य, वाद्य एवं संगीत का सहयोग, प्राकृतिक पृष्ठभूमि, पशु पक्षी का साहचर्य रूपक के प्रसाधन माने गए हैं। रूपकों की रचना में गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग किया जाता है अतएव दशरूपों की गणना काव्यभेद की दृष्टि से मिश्र काव्य में की जाती है। दशरूप का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन होते हुए भी ये तात्कालिक सामाजिक स्थिति को प्रतिबिंबित करते हैं; साथ ही साथ मानव जीवन के सदादर्शों की ओर कांतासंमत संकेत भी करते हैं।

प्र.5. नाटक किसे कहते हैं? इसके प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

नाटक

नाटक का नाम रूपकों में सर्वप्रथम लिया जाता है क्योंकि प्रकरणादि अन्य रूपकों के लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्धारित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत तत्त्व रस की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी में पाई जाती है। संभवतः इन्हीं कारणों से किसी ने 'काव्येषु नाटक घेण्ठम्' लिख डाला है। दशरूपककार धनजय ने नाटक की विशेषताओं का विश्लेषण छः दृष्टियों से किया है– प्रारंभिक विधान और वृत्ति, कथावस्तु, नायक, रस, वर्ज्य दृश्य और अंक। दशरूपककार ने नाटक के प्रारंभिक विधानों का वर्णन इस प्रकार किया है–नाटक में सबसे पहले सूत्रधार के द्वारा पूर्व-राग का विधान होना चाहिए। सूत्रधार के चले जाने पर उसी के सदृश दूसरे नट के द्वारा स्थापना, आमुख या प्रस्तावना की जानी चाहिए। स्थापक को चाहिए कि दिव्य वस्तु की दिव्य होकर, मर्त्य को मर्त्य होकर तथा मिश्र वस्तु की दोनों में से किसी एक का रूप धारण कर स्थापना का विधान करे। स्थापना वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र इनमें से किसी एक की सूचना देने वाली होनी चाहिए। पुनश्च किसी ऋतु का आश्रय लेकर भारती वृत्ति से सन्नबिद्ध रंगस्थल को आमोदित करने वाले श्लोकों का पाठ करे। इस प्रारंभिक दृश्य में वीथ्यगों अथवा आमुखागों की योजना भी की जानी चाहिए। आमुख का विधान करते समय सूत्रधार नटी, मारिष था। विदूषक से अपने सलाप के मध्य कथा का संकेत कर देता है। आमुख स्थापना या प्रस्थापना के भी तीन प्रकार होते हैं, उनके नाम क्रमशः कथोद्धात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय हैं। जहाँ सूत्रधार के इतिवृत्त से संबंधित उसी के वाक्य या अर्थों को लेकर किसी पात्र का प्रवेश कराया जाता है, वहाँ कथोद्धात नामक आमुखाग माना जाता है। प्रवृत्तक वहाँ पर होता है, जहाँ काल की समानता को लेकर श्लेष से किसी पात्र के आगमन की सूचना दी जाती है।

प्रयोगातिशय में सूत्रधार इन शब्दों को कहते हुए कि 'यह वह है' किसी पात्र का प्रवेश कराता है। आमुख के यह अंग वीथी के भी अंग माने जाते हैं।

नाटक के प्रकार

1. **नाटक की कथा**—वस्तु का चुनाव इतिहास से ही किया जाना चाहिए। चुनाव करते समय कवि का कर्त्तव्य होता है कि वह मूल कथा के उन अंशों का जो रस अथवा नायक के विरोध में पड़ते हैं या तो परिहार कर दे या फिर उनमें आवश्यक परिष्कार कर दे। वस्तु का विन्यास कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और संधियो के अनुरूप किया जाना चाहिए। कथा के बीच में विष्कंभक आदि अर्थोपक्षेपकों का भी नियोजन होना चाहिए।
   नाटक के नायक का धीरोदात्त आदि गुणों से विशिष्ट होना नितांत आवश्यक होता है। धनंजय के अनुसार वह प्रतापशाली, कीर्ति की इच्छा करने वाला, वेदत्रयी का ज्ञाता और रक्षक, उच्चवंश नाटक का प्राण 'रस' होता है। उसमें वीर या शृंगार की भगी-रूप में तथा अन्य रसों की अंग के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इसमें निर्वहन संधि में अद्भुत रस का होना आवश्यक समझा जाता है।
   नाटक में रंगमंच पर कुछ बातों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है। प्रमुख वर्जित दृश्य दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देश-विप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्र-ग्रहण आदि माने गए हैं। अधिकारी नायक का वध तो रंगमंच पर किसी भी प्रकार नहीं दिखाना चाहिए। आवश्यक का परित्याग भी नहीं करना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़ जाए तो दैवकार्य या पितृकार्य आदि वर्जित दृश्य दिखाए भी जा सकते हैं।
   नाटक पाँच अंक से दस अंक तक हो सकता हैं। पाँच अकों का नाटक छोटा कहा जाता है और दस अंकों का बड़ा। एक अंक में एक ही दिन एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का प्रदर्शन होना चाहिए। प्रत्येक अंक का नायक से संबंधित होना भी आवश्यक होता है। नायक के अतिरिक्त एक अंक में दो या तीन पात्र और भी हो सकते हैं। किंतु इन पात्रों का अंक के अंत में निकल जाना आवश्यक होता है। अंक में पताका-स्थानकों का भी समावेश करना चाहिए। इसमें बिंदु की अवस्थिति तथा बीज का परामर्श भी होना चाहिए। संक्षेप में, दशरूपक के अनुसार नाटक के लक्षण यही हैं।
   नाट्य-शास्त्र के अन्य ग्रंथों में भी नाटक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। यहाँ पर हम उन ग्रंथो में दी गई नाटक संबंधी उन बातों का संकेत कर देना चाहते हैं जो दशरूपक में वर्णित विशेषताओं से या तो भिन्न है या अधिक। नाट्य-शास्त्र में नायक के लिए 'दिव्याश्रयोपेतम्' का ने विशेषण प्रयुक्त किया गया है। अभिनव गुप्त ने उसका अर्थ दैवी पुरुष किया है। काव्यानुशासनकार ने अभिनव गुप्त का खंडन करते हुए लिखा है कि 'दिव्याश्रयोपेतम्'। इससे आचार्य का अभिप्राय दैवी पुरुष से न था। उन्होंने इसका प्रयोग दैवी सहायता के अर्थ में किया था। नाटक का नायक वास्तव में मनुष्य ही होना चाहिए। नायिका उर्वशी आदि मनुष्येतर स्त्री भी हो सकती है। नायक की दृष्टि से नाट्यदर्पणकार का मत भी विचारणीय है। उसका कहना है कि नायक का क्षत्रिय होना आवश्यक है। चाहे वह नृपेतर ही क्यों न हो। भावप्रकाशकार का मत अन्य आचार्यों से भिन्न है। उसने सुबंधु का आश्रय लेते हुए लिखा है कि नाटक के पाँच भेद होते हैं—पूर्ण, प्रशांत, भास्वर, ललित और समग्र। पूर्ण नामक प्रकार का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि उसमें पाँचो संधियों की योजना की जाती है। संधियों के नाम भी उसने नए दिए हैं। वे क्रमशः न्यास, समुद्भेद, बीज दर्शन और अनुदिष्ट संहार हैं। इसी प्रकार अन्य नाटक प्रकारों के लक्षण भी इस ग्रंथ में अपने ढंग पर ही गिनाए गए हैं। विस्तार-भय से यहाँ पर उन सबका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। नाटक के संबंध में साहित्य-दर्पण की भी एक बात उल्लेखनीय है वह है अंकों के क्रम-विन्यास की। उसके अनुसार नाटक के अंको का क्रम-विन्यास गोपुच्छ शैली पर होना चाहिए। क्रमशः अंकों का छोटा होते जाना ही गोपुच्छ शैली है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के संबंध में हमें दो परंपराएँ मिलती हैं। एक परंपरा भरत मुनि की है और दूसरी सुबंधु की। भरत मुनि की परंपरा का पोषण अधिकांश आचार्यों ने किया है। सुबंधु की परंपरा उसके नाट्य-शास्त्र संबधी ग्रंथ के साथ ही लुप्त हो गई है। 'काव्यानुशासन' नामक ग्रंथ में उसका थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। भरत मुनि की परंपरा के अनुरूप संस्कृत में बहुत से सफल नाटक मिलते हैं। उदाहरण रूप में, अभिज्ञानशाकुंतलम्, उत्तररामचरित आदि का उल्लेख किया जा सकता है।
2. **प्रकरण**—प्रकरण की रूपरेखा नाटक से भिन्न होती है। धनंजय के अनुसार प्रकरण की कथा-वस्तु कवि-कल्पित होनी चाहिए। उसका नायक मंत्री, ब्राह्मण या वैश्य भी हो सकता है। उसका धीर प्रशांत होना भी आवश्यक होता है। उसकी

TOUCH 'n' PASS

प्रयोजन-सिद्धि आपत्तियों से बाधित चित्रित की जानी चाहिए। उसकी प्रकृति धर्म-प्रिय होनी चाहिए। प्रकरण की नायिकाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं-कुल-वधू और वेश्या। दोनों की योजना एक साथ भी की जा सकती है। इसी आधार पर धनंजय ने प्रकरण के तीन भेद माने हैं—कुल-वधू-प्रधान, वेश्या-प्रधान, और उभय-प्रधान। शेष बातों में प्रकरण नाटक के सदृश ही होता है। नाट्य-शास्त्र की प्रकरण संबंधी उपर्युक्त सभी बातें मान्य हैं। उसमें अंको का विधान और कर दिया गया है। उसके अनुसार प्रकरण में पाँच दस अंक तक हो सकते हैं। नाट्यदर्पणकार ने नायक के संबंध में दशरूपक और नाट्य-शास्त्र दोनों से भिन्न मत प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार प्रकरण का नायक धीर प्रशांत ही नहीं धीरोदात्त भी हो सकता है। नाट्यदर्पण में नायिका के संबंध में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार नायिका नीच जाति की भी हो सकती है। प्रकरण के भेदों के संबंध में भी मतभेद है। काव्यानुशासन और 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रंथों में प्रकरण के तीन भेदों के स्थान पर सात भेद गिनाए गए हैं। विस्तार-भय से यहाँ पर उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। मृच्छकटिक प्रकरण का सुंदर उदाहरण माना जाता है।

3. **भाण**—इसमें विट् (एक कला-पारंगत व्यक्ति) द्वारा किसी एक ऐसे धूर्त चरित्र का जिससे या तो उसका स्वयं साक्षात्कार हुआ हो या उसके संबंध में उसने किसी दूसरे से सुना हो, वर्णन किया जाता है। यहाँ संबोधन, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि में वीर रस-द्योतक शौर्य आदि और शृंगार रस सूचक सौभाग्य आदि का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है। इसका कारण विट् के अतिरिक्त दूसरे पात्र का न होना है। इसमें अधिकतर भारती वृत्ति का ही आश्रय लिया जाता है। सध्यङ्गो से युक्त संधियों की योजना भी इसकी प्रधान विशेषता है। इसकी वस्तु भी कल्पित होती है। उसमें लास्य के दसों अंगों की प्रतिष्ठा भी रहती है। नाट्य-शास्त्र में धूर्त चरित्र के आधार पर भाण के दो भेद कि हैं—आत्माभूतशसी, वह जिसमें नायक अपने अनुभवों का वर्णन करता है, और परसश्रय-वर्णन विशेष, वह जिसमें दूसरे के अनुभवों का वर्णन किया जाता है। नाट्य-शास्त्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि भाण एकाकी रूपक है। 'काव्यानुशासन' में भाण के संबंध में एक बात और कही गई है। उसके अनुसार इसकी रचना साधारण लोगों के लिए हुआ करती है। 'नाट्यदर्पण' में भाण के रस-पक्ष पर विशेष विचार किया गया है। उसके अनुसार भाण शृंगार-रस-प्रधान होता है और वीर तथा हास्य गौण होते हैं। भाव-प्रकाशनकार ने उसमें केवल शृंगार का होना ही आवश्यक माना है। उसके अनुसार उसमें अन्य रस नहीं होने चाहिए। साहित्य-दर्पण के अनुसार भाण के उदाहरण-रूप में लीला-मधुर नामक रचना ली जा सकती है।

4. **प्रहसन**—प्रहसन भाण से मिलता-जुलता होता है। मिलता-जुलता कहने का आशय यह है कि प्रहसन और भाण दोनों में वस्तु, संधि, सध्यग और लास्य आदि एक जैसे होते हैं। नाट्य-शास्त्र में इसके दो भेद माने गए हैं-शुद्ध और संकीर्ण। साहित्य-दर्पणकार ने संकीर्ण प्रहसन में दो अंकों का होना बतलाया है। रसार्णव सुधाकर का मत सब से अलग है। उसके अनुसार भाण में दस तत्त्व प्रधान होते हैं। उनके नाम क्रमशः अवगलित, अवस्कंद, व्यवहार, विप्रलभ, उपपत्ति, अनृत, विभ्रांति, भय, गद्गद्वाक् और प्रलाप हैं।

5. **डिम**—दशरूपकों में से एक रूपक डिम भी है। काव्यानुशासन के अनुसार डिम के लिए डिंब और विद्रोह नामक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं-डिम का अर्थ होता है सघात, सघात के अर्थ होते हैं एक तो घात व प्रतिघात और दूसरा समूह। समूह-परक में नायकों के क्रिया-सघात का प्रदर्शन किया जाता है, इसीलिए इसे डिम कहते हैं। डिम में प्रस्तावना आदि बातें नाटक के सदृश ही होती हैं। इसका इतिवृत्त प्रसिद्ध होता है। कैशिकी को छोड़कर उसमें शेष सभी वृत्तियाँ उपनिबद्ध रहती हैं। देव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और महासर्प आदि इसके नेता होते हैं। इसमें भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह अत्यंत उद्धत पात्र नियोजित किए जाते हैं। शृंगार और हास्य को छोड़कर शेष 6 रसों की प्रतिष्ठा होती है। इसमें माया, इंद्रजाल, संगम, क्रोध, उद्भ्रांति इत्यादि चेष्टाएँ, सूर्य, चंद्र, उपराग आदि घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। इसमें चार अंक होते हैं। विमर्श को छोड़कर शेष सभी संधियाँ भी रहती हैं। नाट्य-शास्त्र में भी डिम के लगभग यही लक्षण बतलाए गए हैं। अन्य नाट्याचार्यों ने भी उनका समर्थन किया है। भरत मुनि के अनुसार त्रिपुरदाह नामक नाटक आदर्श डिम का उदाहरण है।

6. **वीथी**—वीथी नामक नाट्य-रूप भी कम प्रसिद्ध नहीं है। वीथी का अर्थ है मार्ग या पंक्ति। इसमें संध्यगों की पंक्ति रहती है इसीलिए इसे वीथी कहा जाता है। इसमें अंकों की संख्या भाण के समान ही मानी गई है। इसमें शृंगार रस का पूर्ण परिपाक न हो सकने के कारण उसकी सूचना दी जाती है। अन्य रसों का स्पर्श भी रहता है। शृंगार रस के औचित्य विधान के लिए कैशिकी वृत्ति की योजना की जाती है। इसमें संधियों के अंग भाण के सदृश ही नियोजित किए जाते हैं। प्रस्तावना के बतलाए हुए उद्घापक इत्यादि अंगों की निबंधना भी होती है। इसमें पात्र दो से अधिक नहीं होते। नाट्य-शास्त्र में भी वीथी

TOUCH 'n' PASS

के प्राय: ये ही सब लक्षण बतलाए गए हैं। उसमें इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि वीथी में तेरह वीथ्यगों की योजना अवश्य की जानी चाहिए।

7. **समवकार**—समवकार भी एक रूपक है। इसमें कई नायकों के प्रयोजन एक साथ संभव पीणं रहते हैं, इसीलिए इसे समवकार कहते हैं। नाटक के सदृश इसमें भी आमुख आदि का विधान रहता है। उसका इतिवृत्त पौराणिक देवताओं तथा राक्षसों से संबंधित होता है। विमर्श संधि को छोड़कर शेष सभी संधियों की योजना की जाती है। वृत्तियों में कैशिकी का प्रयोग प्रधान रहता है। इसमें धीरोदात्तादि गुण-संपन्न बारह नायक होते हैं। उनके फल भी पृथक्-पृथक् होते हैं। उनमें वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें अंक केवल तीन ही रहते हैं। तीन कपट, तीन शृंगार और तीन विद्रवो की योजना के कारण समवकार अन्य रूपकों से बिल्कुल भिन्न होता है। इसमें संधियों का नियोजन भी एक विशेष क्रम से किया जाता है। पहले अंक में मुख और प्रतिमुख इन दो संधियों से युक्त बारह नाड़ियों का होना आवश्यक समझा जाता है। दूसरे अंक में चार और तीसरे अंक में दो नाड़ियों की योजना की जाती है। इसमें वीथ्यगों का सन्निवेश भी रहता है। दशरूपक के अनुसार समवकार के लक्षण यही हैं। दशरूपककार ने नाट्य-शास्त्र का ही अनुगमन किया है। अतएव दोनों के लक्षणों में कोई परस्पर मतभेद नहीं है। भावप्रकाशम् और साहित्य-दर्पण में संधियों के नियोजन का क्रम कुछ और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। उनके अनुसार पहले में दो, दूसरे में तीन और तीसरे में विमर्श को छोड़कर शेष सभी संधियों की योजना की जाती है।
8. **व्यायोग**—व्यायोग उस रूपक को कहते हैं जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हो और नायक धीरोदात्त हो। इसमें गर्भ और विमर्श इन दो संधियों को छोड़कर शेष तीन संधियों की योजना की जाती है। डिम के सदृश इसमें रस भी प्रदीप्त रहते हैं। इसमें स्त्री-निमित्तक संग्राम दिखाने की प्रथा नहीं है। यह एकांकी रूपक है। इसमें केवल एक दिन की घटनाएँ ही चित्रित की जाती हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसका नायक कोई दैवी पुरुष या राजा होना चाहिए। काव्यानुशासन से यह भी पता चलता है कि इसमें नायिकाएँ नहीं होतीं। यदि स्त्री पात्रों को लाना ही चाहें तो दो-एक दासियों की अवतारणा की जा सकती है।
9. **अंक** —अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क), अंक नामक रूपक में कथावस्तु तो प्रख्यात ही होती है किंतु कवि अपनी कल्पना से उसको विस्तृत कर देता है। करुण रस की प्रधानता होती है। साधारण वर्ग के पात्र होते हैं, नायक भी कोई साधारण व्यक्ति ही बनाया जाता है। इसमें स्त्री पात्र भी कई होते हैं और उन स्त्री पात्रों का उसमें विलाप दिखलाया जाता है।
10. **ईहामृग**—ईहामृग नामक रूपक की कथावस्तु मिश्र अर्थात् प्रख्यात और कवि-कल्पित दोनों ही होती हैं। इसमें चार अंक और तीन संधियाँ होती हैं। नायक और प्रति-नायक दोनों की कल्पना उसमें की जाती है। एक मनुष्य होता है और दूसरा दैवी पुरुष। दोनों ही व्यक्ति इतिहास प्रसिद्ध होते हैं। प्रतिनायक का धीरोदात्त होना आवश्यक होता है। कार्य-ज्ञान के उलट-फेर से अनुचित कार्य किया करता है। कभी-कभी न चाहने वाली दिव्य स्त्री के अपहरण इत्यादि के द्वारा चाहने वाले नायक का शृंगाराभास भी कुछ-कुछ प्रदर्शित करना चाहिए। किसी बहुत बड़ी उत्तेजना की स्थिति को लाकर किसी बहाने से युद्ध का टल जाना भी दिखाना चाहिए। महात्मा के वध की स्थिति उत्पन्न करके भी उसका वध न करवाना सफल कलाकार का लक्षण होता है।

प्र.6. नाट्यशास्त्र में कथा अथवा कथानक की व्युत्पति व विकास का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

नाट्यशास्त्र में कथा अथवा कथानक

कथांतर्गत 'कार्य-व्यापार की योजना' को 'कथा' या 'कथानक' (Plot) कहते हैं। 'कथानक' और 'कथा' दोनों ही शब्द संस्कृत 'कथ' धातु से उत्पन्न हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र में 'कथा' शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्यरूप के अर्थ में किया जाता रहा है किंतु 'कथा' शब्द का सामान्य अर्थ है—'वह जो कहा जाए'। यहाँ कहने वाले के साथ-साथ सुनने वाले की उपस्थिति भी अंतर्भुक्त है क्योंकि 'कहना' शब्द तभी सार्थक होता है जब उसे सुनने वाला भी कोई हो। श्रोता के अभाव में केवल 'बोलने' या 'बड़बड़ाने' की कल्पना की जा सकती है, 'कहने' की नहीं। इसके साथ ही, वह सभी कुछ 'जो कहा जाए' कथा की परिसीमाओं में नहीं सिमट पाता। अत: कथा का तात्पर्य किसी ऐसी 'कथित घटना' के कहने या वर्णन करने से होता है जिसका एक निश्चित क्रम एवं परिणाम हो। ई.एम. फार्स्टर (ऐस्पेक्ट्स ऑव द नावेल, लंदन, 1949, पृ. 29) ने 'घटनाओं के कालानुक्रमिक वर्णन' को

TOUCH 'n' PASS

कथा (स्टोरी) की संज्ञा दी है; जैसे—नाश्ते के बाद मध्याह्न का भोजन, सोमवार के बाद मंगलवार, यौवन के बाद वृद्धावस्था आदि।

इसके विपरीत कथानक चाहे वह महाकाव्य की हो अथवा खंडकाव्य, नाटक, उपन्यास या लोकगाथा की हो; का वह तत्त्व है जो उसमें वर्णित कालक्रम से शृंखलित घटनाओं की धुरी बनकर उन्हें संगति देता है और कथा की समस्त घटनाएँ जिसके चारों और ताने-बाने की तरह बुनी जाकर बढ़ती और विकसित होती हैं। कथा या कहानी भी साधारणत: कार्य-व्यापार की योजना ही होती है, परंतु किसी एक भी कथा को कथानक नहीं कहा जा सकता; कारण, कथा की विशिष्टता केवल उसके कालानुक्रमिक वर्णन को अभिभूत कर लेती है। 'नायक को नायिका से प्रेम हुआ और अंत में उसने उसका वरण कर लिया।'—कथा है। 'नायक ने नायिका को देखा, वह उस पर अनुरक्त हो गया। प्राप्तिमार्ग के अनेक अवरोधों को अपने शौर्य और लगन से दूर करके, अंत में, उसने नायिका से विवाह कर लिया।'—कथानक है। अर्थात् कथा किसी भी कथात्मक साहित्यिक कृति का ढाँचा मात्र होती है जबकि कथानक में तत्प्रस्तुत प्रकरणवस्तु (थीम) के अनुरूप कथा का स्वरूप स्पष्ट, संगत एवं बुद्धिग्राह्य बनकर उभरता है।

वेबस्टर (थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी) के अनुसार, कथानक (प्लाट) की परिभाषा इस प्रकार है—"किसी साहित्यिक कृति (उपन्यास, नाटक, कहानी अथवा कविता) की ऐसी योजना, घटनाओं के पैटर्न अथवा मुख्य कथा को कथानक कहते हैं जिसका निर्माण उद्दिश्ट प्रसंगों की सहेतुक संयोजित शृंखला (स्तरक्रम) के क्रमिक उद्घाटन से किया गया हो।"

उपर्युक्त विवेचन से इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन होता है कि कथा को सुनते या पढ़ते समय श्रोता अथवा पाठक के मन में आगे आने वाली घटनाओं को जानने की जिज्ञासा रहती है अर्थात् वह बार-बार यही पूछता या सोचता है कि फिर क्या हुआ, जबकि कथानक में वह ये प्रश्न भी उठाता है कि 'ऐसा क्यों हुआ?' 'यह कैसे हुआ?' आदि। अर्थात् आगे घटने वाली घटनाओं को जानने की जिज्ञासा के साथ-साथ श्रोता अथवा पाठक घटनाओं के बीच कार्य-कारण-संबंध के प्रति भी सचेत रहता है। कथा गुहामानव की जिज्ञासा को शांत कर सकती है किंतु बुद्धिप्रवण व्यक्ति की तृप्ति कथानक के माध्यम से ही संभव है। अत: कहा जा सकता है, कथानक में समय की गति घटनावली को खोलती चलती है और इसके साथ ही उसका घटना संयोजन- विश्व के युक्तियुक्त संघटन के अनुरूप-तर्कसम्मत कार्य-कारण-अंत:संबंधों पर आधारित रहता है। इसीलिए उसमें आरंभ, मध्य और अंत, तीनों ही सुनिश्चित रहता है। 'आदम हव्वा' के आदि कथानक में इन तीनों सोपानों को स्पष्ट देखा जा सकता है; जैसे—निषेध, उल्लंघन तथा दंड।

कथानक कला का साधन है, अत: भावोत्तेजना लाने के लिए उसमें जीवन की प्रत्ययजनक यथार्थता के साथ आकस्मिकता का तत्त्व भी आवश्यक है। इसीलिए कथानक की घटनाएँ यथार्थ घटनाओं की यथावत अनुकृति मात्र न हो कर, कला के स्वनिर्मित विधान के अनुसार संयोजित रहती हैं। कथानक देव दानव, अतिप्राकृत और अप्राकृत घटनाओं से भी निर्मित होते हैं किंतु उनका उक्त निर्माण परंपरा द्वारा स्वीकृत विधान तथा अभिप्रायों के अनुसार ही होता हैं। अत: अविश्वसनीय होते हुए भी वे विश्वसनीय होते हैं। कथानक की गतिशील घटनाएँ सीधी रेखा में नहीं चलतीं। उनमें उतार-चढ़ाव आते हैं, भाग्य बदलता है, परिस्थितियाँ मनुष्य को कुछ से कुछ बना देती हैं। अपने संगी-साथियों के साथ या बाह्य शक्तियों अर्थात् अपनी परिस्थिति के विरुद्ध उसे प्राय: संघर्ष करना पड़ता है। कथानक में जीवन के इसी गतिमान संघर्षशील रूप की जीवंत अवतारणा की जाती है।

प्र.7. भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक के कौन-कौन से भेद किये गये हैं? उल्लेख कीजिए।

उत्तर

भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक के भेद

भरत ने नायक के चार भेद किए हैं—1. धीरललित, 2. धीरप्रशान्त, 3. धीरोदात्त, 4. धीरोद्धत। 'अग्निपुराण' में इनके अतिरिक्त चार और भेदों का उल्लेख है—अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ठ। ये भेद स्पष्ट ही शृंगार रस के आलंबन विभाव के हैं। भोज (11वीं शताब्दी) ने 'सरस्वतीकंठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश' में इन दो के अतिरिक्त अन्य अनेक वर्गीकरणों का उल्लेख किया है। किन्तु उनमें से केवल एक वर्गीकरण ही, जिसका उल्लेख पुरुष के भेदों के रूप में भरत ने भी किया था, परवर्ती लेखकों को मान्य हुआ-उत्तम, मध्यम, अधम।

नायक के उत्तम, मध्यम, अधम भेदों को हिंदी में केवल कुछ लेखकों ने ही स्वीकार किया है, जिनमें सुंदर (1631 ई.), तोप (1634 ई.) और रसलीन (1742 ई.) प्रमुख हैं।

TOUCH 'n' PASS

नायक के कुछ अन्य भेद इस प्रकार हैं—प्रोषित, मानी, चतुर, अनभिज्ञ। मानी के दो भेद हैं—रूपमानी, गुणमानी। चतुर के भेद भी दो हैं—वचन-चतुर, क्रिया-चतुर। रसलीन ने इन्हीं के साथ स्वयंदूत नायक का भी कथन किया है। अनभिज्ञ को भानुदत्त के अनुकरण पर पद्माकर ने भी नायकाभास माना है। केशव (1591 ई.) ने नायक के प्रछन्न और प्रकाश भेद भी माने हैं। रसलीन के मत से उपपति के तीन तथा वैशिक के दो उपभेद हैं।

1. **धीरललित-नायक—निश्चिन्तो धीर ललितः कला शक्तः सुखी मृदुः**। अर्थात्-सदा निश्चिंत रहने वाला नत्य गीत आदि 64 कलाओं में आसक्त सुखी एवं मधुर प्रकृति का नायक धीर ललित होता है। धीरललित प्रेम उपास्य होता है; जैसे—उदयन।

   'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
   सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
   प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृति
   कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः।।'

   अर्थ—राज्य सभी शत्रुओ के परास्त किए जाने से अकण्टक है, सभी कार्यभार योग्य मन्त्री को सौंप दिया है, प्रजाओं का सभी प्रकार के उपद्रवों से युक्त करके ठीक ढंग से पालन हुआ है, प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता जैसी रानी हैं तुम वसन्तक जैसे प्यारे मित्र हो, वसन्त ऋतु का समय है, नाम से ही मदन (कामदेव) इस मदनोत्सव को अपना उत्सव समझ लें, किन्तु उत्सव तो मेरा है।

2. **धीरप्रशान्तनायक—सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः**। अर्थात् सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण आदि नायक धीर प्रशांत होता है; जैसे—मृच्छकटिकम् का नायक चारुदत्त प्रकरण ग्रंथ का नायक धीर प्रशांत होता है। नम्रता, त्याग, दक्षता आदि से युक्त नायक सामान्य गुणो से युक्त ब्राह्मण वैश्य व सचिव आदि नायक धीर प्रशांत नायक होते हैं। यथा मालती माधवे—

   'तत उदयगिरेरिबैक एवं स्फुरितगुणधुतिसुन्दरः कलावान्।
   इह जगति महोत्सवस्य हेतु नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः।।

   अर्थ—चमकने के गुणों वाली कांति से मनोहर 16 कलाओं से युक्त संसार में जितने आँखों वाले हैं उनके लिए आनंद के कारण भूत उदय काल के चंद्रमा उदय पर्वत से जैसे उगते हैं उसी तरह से प्रकट रूप कांति से मनोहर गीत नृत्य आदि 64 कलाओं के ज्ञाता संसार के आँख वालों के लिए आनंद पहुँचाने वाले माधव उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं।

3. **धीरोदात्तः नायक**—क्रोध आदि से अंतःकरण में विकार ना आने वाला अत्यंत गंभीर प्रगति का क्षमाशील अपनी प्रशंसा ना करने वाला स्थिर स्वभाव का नम्रता शिष्टता आदि गुणों से अभिमान आदि दुर्गुणों को छुपा लेने वाला स्वीकार किए कार्य को पूरा करने वाला नायक धीरोदात्त कहलाता है। धीरोदात्त उत्तम प्रकृति का नायक होता है। नाटक का नायक अधिकांशतः धीरोदात्त ही होता है।

   महासत्वोतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
   स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढवृतः।।

   जैसा कि नागानंद में जीमूतवाहन कहते हैं—

   शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
   तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्वं विरतो गरुत्मन्।।

   अर्थ—हे गरुड़ जी धमनियों के छोरों से अभी भी खून बह रहा है, अब भी मेरे शरीर में मांस बाकी है, आप भी तृप्त हुए से नहीं दिखाई देते हैं तो आप क्यों खाना छोड़ रहे हो।

4. **धीरोद्धत नायक**—शौर्यादि का मद जिसमें ईर्ष्या प्रशस्त हो, घमंड से जो चूर हो, जो माया छल कपट में हरदम तत्पर हो और चंचल क्रोधी अपनी प्रशंसा खुद करने वाला धीरोद्धत होता है। जैसा कि परशुराम महावीर चरितम में कैलाश पर्वत के उठाने एवं तीनों लोकों के जीतने में समर्थ इत्यादि कहते हुए। इस कोटि में परशुराम और भीम आते हैं।

   दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छमपरायणः, धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

TOUCH 'n PASS

हिंदी के नायक—नायक-भेद संबंधी साहित्य का निर्माण अधिकांशत: रीतिकाल में हुआ है। नायक-नायिका-भेद की यह काव्यसरिता दो सशक्त धाराओं के संगम का परिणाम है। इनमें से पहली धारा है साहित्यशास्त्र एवं नायक-नायिका-भेद संबंधी शास्त्रीय ग्रंथों की, जिसका आरंभ भरत के 'नाट्यशास्त्र' से होता है; तथा दूसरी धारा है कृष्ण और गोपियों की शृंगार क्रीड़ाओं के वर्णन की, जो 'हरिवंश', 'पद्म', 'विष्णु' 'भागवत' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणों की उपत्यकाओं में बहती हुई और उमापतिधर, जयदेव, चंडीदास, विद्यापति, मीरा, नरसिंह मेहता तथा सूरदास आदि अनेक भक्त कवियों की मधुर वाणी से विलासित होती हुई, निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य जैसे महान आचार्यों के समर्थन से संपुष्ट हुई है। आचार्यत्व की दृष्टि से काव्यशास्त्र के इस अंग की हिंदी लेखकों की देन असाधारण है। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से भी विद्वानों के मतानुसार इतने ऊँचे स्तर के साहित्य का इतने बड़े परिमाण में निर्माण हिंदी साहित्य के और किसी काल में नहीं हुआ।

प्र.8. भारतीय नाट्यशास्त्र में नायिका के भेद को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

भारतीय नाट्यशास्त्र में नायिका के भेद

भरत के अनुसार नायिका के आठ भेद हैं—वासकज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, अभिसारिका। इसे हम परिस्थिति भेद कहेंगे। परवर्ती लेखकों के अनुसार, जिसे 'प्रकृति-भेद' कहा गया है, नायिका तीन प्रकार की होती है-उत्तमा, मध्यमा, अधमा। 'अग्निपुराण' के लेखक ने नायिका के केवल एक वर्गीकरण का उल्लेख किया है- स्वकीया, परवीकया, पुनर्भू, सामान्या। इन चार भेदों में से पुनर्भू को आगे चलकर मान्यता प्राप्त नहीं हुई। रुद्रट (काव्यालंकार, नवीं शताब्दी) तथा रुद्रभट्ट (शृंगारतिलक, 900-1100 ई.) ने एक षोडश भेद वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जिसे परवर्ती लेखकों द्वारा सर्वाधिक प्रधानता दी गई। यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

नायिका—स्वकीया, परकीया, सामान्या।

स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। मध्या तथा प्रगल्भा : धीरा, मध्या (धीराधीरा), अधीरा। मध्या तथा प्रगल्भा; पुन: ज्येष्ठा, कनिष्ठा।

परकीया—ऊढा, अनूढा (कन्या)। इस षोडश भेद वर्गीकरण को (मुग्धा-एक, मध्या-छ:, प्रगल्भा-छ:, परकीया-दो, सामान्या-एक, कुल षोडश भेद) धनंजय (दशरूपक, 1000 ई.) हेमचंद्र (काव्यानुशासन, 1088-1173 ई.) शारदातनय (भावप्रकाश, 1100-1130 ई.) तथा शिंव भूपाल (रसार्णव-सुधाकर, 14वीं शताब्दी) ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। भोज ने नायक की भाँति नायिका के भी कुछ मौलिक वर्गीकरण किए हैं, किन्तु उन्हें परवर्ती लेखकों ने स्वीकार नहीं किया।

भानुदत्त ने उपर्युक्त तीनों वर्गीकरणों के अतिरिक्त एक नए वर्गीकरण का उल्लेख किया है, जिसे आगे चलकर हिंदी के अधिकांश लेखकों ने स्वीकार किया। वह है—

नायिका अन्यसंभोगदु:खिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती।
वक्रोक्तिगर्विता : प्रेमगर्विता, सौंदर्यगर्विता।

इसके अतिरिक्त भानुदत्त ने षोडश भेद वर्गीकरण में मुग्धा एवं ऊढा के कुछ नवीन उपभेदों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं, मुग्धा-ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना। मुग्धा पुन: नवोढा, विश्रब्धनवोढा। ऊढा-गुप्ता (तीन प्रभेद), विदग्धा (वाग्विदग्धा, क्रियाविदग्धा), लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, (तीन प्रभेद), मुदिता। भरत के परिस्थितिभेद वर्गीकरण में भी भानुदत्त ने प्रोष्यत्पतिका नाम का एक नया भेद जोड़ा है, जो बाद में प्रवत्स्यत्पतिका नाम से प्रसिद्ध हुआ। अभिसारिका के अंतर्गत उन्होंने ज्योत्स्नाभिसारिका (शुक्लाभिसारिका), तमिस्त्राभिसारिका (कृष्णाभिसारिका) तथा दिवसाभिसारिका का उल्लेख किया है। हिंदी के लेखकों ने भानुदत्त का ही सर्वाधिक अनुसरण किया है। शिंग भूपाल एवं विश्वनाथ (साहित्यदर्पण, 14वीं शताब्दी) ने सामान्या के दो उपभेदों का उल्लेख किया है—रक्ता, विरक्ता। विश्वनाथ ने मुग्धा के पाँच, मध्या के पाँच तथा प्रगल्भा के छ: प्रभेदों का उल्लेख किया है, किंतु नायिका की संख्यागणना में इन प्रभेदों को सम्मिलित नहीं किया। गोस्वामी ने केवल 'हरिवल्लभाओं' को नायिका मानते हुए सामान्या को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मुग्धा, मध्य, प्रगल्भा भेद परकीया के अंतर्गत भी माने हैं। रूप गोस्वामी द्वारा उल्लिखित मुग्धा के छ:, मध्या के चार तथा प्रगल्भा के सात प्रभेद विश्वनाथ कृत प्रभेदों से मिलते-जुलते हैं।

नायिकाभेद सम्बन्धी ग्रन्थ-हिंदी में नायिकाभेद संबधी ग्रंथों की संख्या दो सौ से भी अधिक है, किंतु इनमें से अधिकांश अप्रकाशित हैं। सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथों में मतिराम का 'रसराज' तथा पद्माकर का 'जगद्विनोद' अग्रणी हैं। इन ग्रंथों में प्राय: भानुदत्त की

TOUCH 'n PASS

'रसमंजरी' का ही अनुसरण किया गया है। परिस्थिति-भेद-वर्गीकरण में आगतपतिका नाम का एक दसवाँ भेद जोड़ा गया है, जिसे हिंदी के अधिकांश लेखकों ने आरंभ से ही स्वीकार किया है। रहीम का 'बरवै-नायिका-भेद' भी बरवै छंद की मधुरता के कारण बड़ा प्रसिद्ध हुआ। अन्य प्रारंभिक ग्रंथों में 'हित-तरंगिणी' (कृपाराम, 1541 ई.), 'साहित्यलहरी' (सूरदास, 1550 ई. के लगभग), 'रसमंजरी' (नंददास, 1566 ई. के लगभग), 'रसिकप्रिया' (केशवदास, 1591 ई.), 'सुंदर शृंगार' (सुंदर, 1631 ई.), 'सुधानिधि' (तोष, 1634 ई.), 'कविकुलकल्पतरु' (चिंतामणि, 1650 ई.) तथा 'भाषाभूषण' के (जसवंतसिंह, 1656 ई. के लगभग) नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परवर्ती लेखकों में अपनी मौलिक देन के कारण कुमारमणि शास्त्री ('रसिकरसाल', 1719 ई.), देव ('रसविलास', 1726 ई., 'सुखसागरतरंग', 1719 ई.), देव ('रसविलास', 1726 ई., सुखसागर तरंग', 1767 ई. तथा अन्य ग्रंथ), रसलीन ('रसप्रबोध', 1742 ई.) तथा भिखारीदास ('शृंगारनिर्णय', 1750 ई.) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नायिकाभेद के क्षेत्र में आधुनिक काल में हरिऔध ('रसकलस', 1931 ई.), बिहारीलाल भट्ट ('साहित्यसागर', 1937 ई.) तथा प्रभुदयाल मीतल ने ('ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद', 1948 ई.) उल्लेखनीय कार्य किया है। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' यद्यपि हिंदी में नायिकाभेद का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है, फिर भी इसमें विषय का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है। इस ग्रंथ की कुछ मौलिक उद्‌भावनाएँ इस प्रकार हैं—

1. ऊढा-परप्रिया, परविवाहिता;
2. लक्षिता-तीन प्रभेद;
3. स्वकीया—ज्येष्ठा, समहिता (नया भेद), कनिष्ठा।

सूरदास की 'साहित्यलहरी' कूट शैली की रचना है। इसका प्रत्येक पद प्राय: किसी एक अलंकार तथा किसी एक नायिका का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ में सामान्या को मान्यता नहीं दी गई। नंददास की 'रसमंजरी' की अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें सामान्या का कथन तो हुआ है, किंतु उसे कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया गया। इसमें नायिकाओं की परिभाषाएँ इतनी विस्तृत हैं कि वर्ण्य नायिका का चित्र सा प्रस्तुत हो जाता है और उदाहरणों का अभाव नहीं खटकता। केशवदास ने भी अपनी 'रसिकप्रिया' में सामान्या का उल्लेख मात्र किया है, उसकी परिभाषा तक नहीं दी। उन्होंने विश्वनाथ और रूप गोस्वामी के अनुकरण पर मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के प्रभेद किए हैं। अभिसारिका के अंतर्गत प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका तथा कामाभिसारिका का उल्लेख किया गया है, तथा परिस्थिति भेदों में से प्रत्येक के प्रकाश एवं प्रच्छन्न नाम के प्रभेद किए गए हैं।

कोक्कोक के कामशास्त्र संबंधी ग्रंथ 'रतिरहस्य' के आधार पर नायिका के पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी भेदों का भी उल्लेख हुआ है। इन भेदों को सुंदर तथा कुछ अन्य लेखकों ने भी दुहराया है। 'सुंदर शृंगार' के अन्य वर्गीकरण प्राय: रसराज के समान हैं। तोष ने सुधानिधि में अनेक मौलिक वर्गीकरणों का उल्लेख किया है—

1. परकीया—दृष्टिजेष्ठा, आसाध्या, साध्या; आसाध्या-पाँच प्रभेद; साध्या-चार प्रभेद—
2. परकीया—उद्बुद्धा, उद्बोधिता;
3. लक्षिता—दो प्रभेद;
4. नायिका—कामवती, अनुरागिनी, प्रेम-अशक्ता (मानवती आदि के अतिरिक्त);
5. अभिसारिका—पावसाभिसारिका (अतिरिक्त प्रभेद)।

चिंतामणि ने 'कविकुलकल्पतरु' में मुग्धा, तथा प्रगल्भा के प्रभेद किए हैं। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' अपने लाघव के कारण विद्यार्थियों का कंठहार रहा है। इसमें विभिन्न नायिकाओं की केवल परिभाषाएँ ही दी गई हैं। अलंकारग्रंथ के रूप में इसका विशेष मान है।

कुमारमणि शास्त्री ने 'रसिकरसाल' में केवल नवीन भेद-प्रभेदों का ही उल्लेख नहीं किया, पुराने भेदों में नए संबंध भी स्थापित किए हैं। उनकी प्रमुख मौलिक स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

स्वकीया : पतिव्रता, साधारण

मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के प्रभेद

परकीया के भेदों-प्रभेदों का पुनर्गठन तथा साहसिका नाम के नए भेद का उल्लेख; सामान्या के तीन प्रभेद;

स्वाधीनपतिका के अंतर्गत प्रेमगर्विता आदि का, तथा खंडिता के अंतर्गत धीरा, अधीरा, मानवती, अन्यसंभोगदु:खिता आदि का उल्लेख;

TOUCH 'n' PASS

अन्य परिस्थिति भेदों के अंतर्गत नवीन प्रभेदों का उल्लेख तो उन्होंने किया ही है, साथ ही अनेक प्रकार से अपनी बहुमुखी मौलिकता का भी परिचय दिया है।

'रसविलास' में उन्होंने पद, जाति तथा प्रांतीयता के आधार पर नायिकाओं का वर्णन किया है, जो चित्रोपमता एवं सूक्ष्मदर्शिता की दृष्टियों से अद्वितीय है। सुखसागरतरंग का अंश भेद प्रसिद्ध है—

1. देवी (सात वर्ष की अवस्था तक),
2. देवगंधर्वी (सात से चौदह तक),
3. गंधर्वी (चौदह से इक्कीस तक),
4. गंधर्वमानुषी (इक्कीस से अट्ठाइस तक),
5. मानुषी (अट्ठाइस से पैंतीस वर्ष की अवस्था तक)।

गंधर्वी के अंतर्गत, अर्थात् साढ़े दस से साढ़े चौबीस वर्ष तक की अवस्था के बीच में, मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के 13 प्रभेदों में से प्रत्येक की आयुसीमा निर्धारित की गई है। नायिकाभेद का सर्वाधिक विस्तार रसलीन के 'रसप्रबोध' में उपलब्ध होता है। उनकी प्रमुख मौलिक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं—

1. मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के अनेक प्रभेद;
2. पतिदु:खिता स्वकीया—मूढपतिदु:खिता, बाल, वृद्ध;
3. परकीया—अद्भुता, उद्भूदिता (तोष के उद्बुद्धा तथा उद्बोधिता भेदों से अभिन्न);
4. परकीया—आसाध्या, सुखसाध्या (प्रथम के पाँच तथा द्वितीय के आठ प्रभेद);
5. स्वकीया तथा परकीया—कामवती, अनुरागिनी, प्रेम अशक्ता;
6. सामान्या के चार प्रभेद;
7. अनेक परिस्थिति भेदों के प्रभेद;
8. सुखसागरतरंग के आधार पर विभिन्न नायिकाओं की आयुसीमा का निर्धारण।

भिखारीदास ने 'शृंगारनिर्णय' में अपने तोष तथा रसलीन की अनेक मान्यताओं को दुहराया है। अन्यसंभोगदु:खिता का विप्रलब्धा के अंतर्गत रखकर उन्होंने अपनी मौलिक सूझ का परिचय भी दिया है।

आधुनिक काल के लेखकों में 'हरिऔध' ने अपनी मौलिकता उत्तमा तथा मध्यमा के उपभेदों में दिखाई है। उनके 'रसकलश' में इन भेदों का प्रथम बार विभाजन किया गया है, जो इस प्रकार है—

1. उत्तमा—पतिप्रेमिका, परिवारप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका, धर्मप्रेमिका;
2. मध्यमा—व्यंग्याविदग्धा, मर्मपीड़िता।

बिहारीलाल भट्ट ने परिस्थितिभेदों के संबंध में कुमारमणि शास्त्री की मान्यताएँ प्राय: स्वीकार कर ली हैं। उनके 'साहित्यसागर' में धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा भेदों का संबंध केवल कनिष्ठा से माना गया है। प्रभुदयाल मीतल ने नायिकाभेद विषय का पूर्ण विवेचन करने के पश्चात् भी भानुदत्त, मतिराम, पद्माकर आदि द्वारा स्वीकृत वर्गीकरण को ही मान्यता प्रदान की है।

प्र.9. भारतीय सन्दर्भ में रंगमंचीय विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

भारतीय सन्दर्भ में रंगमंचीय विशेषताएँ

नाटक वह गद्य विधा है जिसमें संवादों के माध्यम से कथा आगे बढ़ती है तथा जिसे रंगमंच पर अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। पारम्परिक सन्दर्भ में, नाटक, काव्य का एक रूप है (दृश्य-काव्य)। जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराता है उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक में श्रव्य-काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य-काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नाट्यशास्त्र में लोक चेतना को नाटक के लेखन और मंचन की मूल प्रेरणा माना गया है। साहित्य-दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "नाटक की कथा लोक प्रसिद्ध हो, उसमें पाँच नाट्य संधियों का समावेश हो, पाँच से लेकर दस अंक हों, नायक लोक प्रसिद्ध, धीरोदात्त चरित्र वाला देवता या राजर्षि हो तथा उसमें वीर, शृंगार और करुण में से कोई एक रस प्रधान हो।" नाटक सम्बन्धी सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' है। इसमें नाटक के तीन तत्त्व बताए गए हैं—1. वस्तु, 2. नेता, 3. रस।

TOUCH 'n PASS

रंगमंच वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक आदि का मंचन हो। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मेल से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।
वस्तुत: नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसका उद्‌भव ही मंचन के लिए हुआ है। अत: रंगमंच का होना आवश्यक है। इसी प्रकार रंगमंच एक ऐसा स्थल है, जो इसी उद्‌देश्य से निर्मित हुआ है कि वहाँ किसी नाटक का मंचन हो। अत: दोनों का संबंध अन्योन्याश्रित है। एक के बिना दूसरे का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुत: नाटक रंगमंचीय विधा है। नाटक की परीक्षा रंगमंच पर होती है। नाटक को हम सुनते भी है और देखते भी है। नाटक जब मंचित होता है तो उसमें केवल पात्र ही नहीं बोलते-पूरा मंच बोलता है- मंच सज्जा, रूप सज्जा, वेशभूषा, सभी बोलते हैं। यहाँ तक कि पात्र का पूरा शरीर बोलता है। अत: जिस नाटक में जितनी ही अधिक मंचीय संभावनाएँ होती हैं, वह नाटक उतना ही अधिक सफल होता है। रंगमंच सजीव और साकार कला माध्यम है। रंगमंच का तात्पर्य केवल रंगस्थली या रंग-मंडप से नहीं है। इसकी परिधि में रंगशाला, नाटक, पात्र, वेशभूषा, अभिनय, मंत्रीय उपकरण आदि सभी आ जाते हैं। रंगमंच ऐसा दृश्य और श्रव्य माध्यम है, जिसमें सभी ललित कथाएँ समन्वित हो जाती हैं। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है कि ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विधा, कला, योग या कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो।
भारत में रंगमंच का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा समझा जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लोगों ने नाटक की रचना की और नाट्यकला का विकास हुआ। यथासमय भरत मुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है—
नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है, अर्थात् दु:खरहित है। सत्ययुग बीत जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने सृष्टा ब्रह्मा से मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देवता लोग अपना दु:ख भूल सकें और आनंद प्राप्त कर सकें। फलत: उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर, नाटक का निर्माण किया, विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया आदि।
नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्य ग्रंथ और तत्संबंधी अनेक शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए और साहित्य में नाटक लिखने की परिपाटी संस्कृत से होती हुई हिंदी को भी प्राप्त हुई। संस्कृत नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं और वे अधिकतर अभिनय करने के उद्‌देश्य से लिखे जाते थे। अभिनीत भी होते थे, बल्कि नाट्यकला प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा संस्कृत तथा पानी ग्रंथों के अन्वेषण से ज्ञात होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य को नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ गई थी। उसमें नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। अग्निपुराण, शिल्परत्न, काव्यमीमांसा तथा संगीतमार्तंड में भी राजप्रसाद के नाट्यमंडपों के विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार महाभारत में रंगशाला का उल्लेख है और हरिवंश पुराण तथा रामायण में नाटक खेले जाने का वर्णन है।

प्र.10. भारतीय रंगमंच के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

भारतीय रंगमंच के प्रकार

भारत में रंगमंच का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा समझा जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लागों ने नाटक की रचना की और नाट्यकला का विकास हुआ। यथासमय भरत मुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया।
इतना सब होते हुए भी यह निश्चित रूप से पता नहीं लगता कि वे नाटक किस प्रकार के नाट्यमंडपों में खेले जाते थे तथा उन मंडपों के क्या रूप थे। अभी तक की खोज के फलस्वरूप सीतावंगा गुफा को छोड़कर कोई ऐसा गृह नहीं मिला जिसे साधिकार नाट्यमंडप कहा जा सके।

TOUCH 'n PASS

1. **भारत के आदिकालीन रंगमंच**—सीतावंगा की गुफा के देखने से पुराने नाट्यमंडपों के स्वरूप का कुछ अनुमान हो जाता है। यह गुफा 13.8 मीटर लंबी तथा 7.2 मीटर चौड़ी है। भीतर प्रवेश करने के लिए बाईं ओर से सीढ़ियाँ हैं, जिनसे कदाचित अभिनेता प्रवेश करते थे। भीतरी भाग में रंगमंच की व्यवस्था है। यह 2.3 मीटर चौड़ी तीन सीढ़ियों (चबूतरों) से बना है, जो एक-दूसरे से 75 सेंमी. ऊँची हैं। चबूतरों के सामने दो छेद हैं, जिनमें शायद बाँस या लकड़ी के खंभे लगाकर पर्दे लगाए जाए करते थे। दर्शकों के लिए जो स्थान है, वह ग्रीक ऐंफीथिएटर की भाँति सीढ़ीनुमा है। यहाँ 50 व्यक्ति बैठ सकते हैं। यह आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप भी ऊपर वर्णित विकसित स्वरूप से मेल खाता है। भरत नाट्यशास्त्र से भी हमें नाट्यमंडप के प्राचीन स्वरूप का संकेत मिलता है। आदिवासियों के मंडप गुफारूपी (शैलगुहाकारी) हुआ करते थे, किंतु आर्य लोग अपनी आश्रम सभ्यता के अनुरूप अस्थायी तंबूनुमा नाट्यमंडपों से ही काम चलाया करते थे।
भरत नाट्यशास्त्र पहली अथवा दूसरी शती ई. में संकलित हुआ समझा जाता है। भरत ने आदिवासियों तथा आर्यों दोनों के नाट्यमंडपों के आकार को अपनाया है। इन दोनों के सम्मिश्रण से इन्होंने नाट्यमंडपों के जो रूप निर्धारित किए, वे सर्वथा भारतीय हैं। प्राचीन यूनानी और रोमन स्वरूपों से इनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। पाश्चात्य नाट्यमंडप खुले मैदानों में बनते थे और उनमें दर्शकों के हेतु सीढ़ीनुमा अर्धचंद्राकार प्रेक्षास्थान बनते थे। इसके विपरीत भारत में नाट्यमंडप की व्यवस्था एक गृह के भीतर होती थी।
2. **भरत के रंगमंच**—भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों का विधान बताया है—1. विकृष्ट (अर्थात् आयताकार), 2. चतुरस्र (वर्गाकार) तथा 3. त्रयस्त्र (त्रिभुजाकार)। उन्होंने इन तीनों के फिर तीन-तीन भेद किए हैं-ज्येष्ठ (देवताओं के लिए), मध्यम (राजाओं के लिए), तथा अवर (औरों के लिए)। इनकी माप के विषय के दिए गए निर्देशों के अनुसार ज्येष्ठ की लंबाई लगभग 51 मीटर, मध्यम की लगभग 29 मीटर और अवर की लगभग मीटर होगी। चतुरस्र मंडप की चौड़ाई लंबाई के बराबर और विकृष्ट की लंबाई से आधी होगी।
भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमंडप की नाप के आधार अणु, रज (=8 अणु), बाल (=8 रज), लिक्षा (=8 बाल), यूका (=8 लिक्षा), यव (=8 यूका), अँगुली (=8 यव), हस्त (=24 अंगुली) और दंड (=4 हस्त) हुआ करते थे। इस प्रकार एक हस्त 456 मिलीमीटर का होता है। कौटिल्य और पाणिनि ने माप के जो आधार दिए हैं, वे भी इनसे मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि ये आधार सिंधु सभ्यता के बाद इस देश में प्रारंभ हुए होंगे, क्योंकि उस प्राचीन सभ्यता में जो मापें मिली हैं, उनका आधार दशमलव प्रणाली है।
नाट्यशाला का प्राय: आधा भाग दर्शकों के लिए होता था, जिसे प्रेक्षागृह कहते थे; शेष आधे में रंगमंडप होता था। रंगमंडप के पिछले आधे भाग में नेपथ्य होता था। शेष के आधे में सामने रंगशीर्ष और पीछे, नेपथ्य की ओर, रगंपीठ होता था। नेपथ्य से रंगपीठ में आने-जाने के लिए किनारों पर दो दरवाजे होते थे, जिनमें संभवत: किवाड़े नहीं लगा करते थे। रंगपीठ के ऊपर ही, चार खंभों पर छत रखकर, मत्तवारणी बनाई जाती थी। मत्तवारणी संभवत: अटारी का द्योतक है। खंभों पर प्राय: हाथी के सिर के सदृश बनी घोड़ियों के ऊपर यह छत रहती थी, इसी से इसे मत्तवारणी कहते थे। प्रेक्षागृह सीढ़ीनुमा बनाया जाता था। इन सीढ़ियों में से प्रत्येक 1 हाथ ऊँची होती थी और उस पर लकड़ी के पटरे भी लगा करते थे, शायद उसी प्रकार के जैसे रोमन थिएटरों में होते थे।
दीवारों को भीतर की ओर सजाने का भी विधान है। भरत के अनुसार भीत पर अच्छा भित्तिलेप (प्लास्टर) चढ़ाना चाहिए। विद्वानों का मत है कि मिट्टी तथा भूसी को मिलाकर लेवा चढ़ाया जाता था। इसे पीटकर समतल किया जाता था। फिर एक परत चूने की चढ़ाई जाती थी, जिसे घिस घिसकर चिकना किया जाता था। इसके ऊपर शंख पीसकर चढ़ाते थे और पॉलिश करते थे। इन भीतों पर सुंदर चित्रकारी की जाती थी।
नाट्यमंडप में दीवारों के साथ खंभे बनाकर ऊपर छत बनाई जाती थी। रात्रि के समय प्रकाश के लिए दीपक व्यवहार में आते थे। बहुत से दीपकों के अतिरिक्त शायद मशाल से भी काम लिया जाता रहा होगा। ध्वनि नियंत्रण तथा विस्तार का कोई प्रबंध शायद न था; इसलिए भी नाट्यशालाएँ कुछ छोटी ही हुआ करती थीं। भारतीय प्रेक्षागृह आकार में ग्रीक प्रेक्षागृहों की अपेक्षा, जो बहुधा खुले हुआ करते थे, बहुत छोटे होते थे।
भरत नाट्यशास्त्र में दिए हुए नाट्यमंडप के आकार प्रकार तथा सजावट से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक भारत के आदिवासियों के नाट्यमंडपों का प्राथमिक रूप, जो हमें सीतावंगा गुफा, हाथी गुफा तथा नासिक के पास फुलुमई गुफा में प्राप्त होता है, आर्यों के प्राचीनतम लकड़ी के मकानों के रूप में समन्वित होकर तथा दोनों के सम्मिश्रण से एक नया ढाँचा

TOUCH 'n' PASS

खड़ा हो चुका था। यही नहीं, नाट्यमंडप के रूप के विषय में नियम भी बन चुके थे तथा उन पर धर्म का नियंत्रण भी प्रारंभ हो चुका था। ये नियम इतने कड़े थे कि मापने की रस्सी टूट जाना तथा एक भी स्तंभ का दोषयुक्त होना, नाट्यमंडप के स्वामी के मरण का सूचक समझा जाने लगा था। भरत के समय तक भारतीय रंगमंच इस महान संसार का द्योतक माना जाने लगा था, जहाँ स्त्री-पुरुष प्रविष्ट होकर अपनी पूर्वनिश्चित लीला करते हैं तथा उसकी समाप्ति पर यहाँ से विदा लेते हैं।

3. **वर्तमान भारतीय रंगमंच**—आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। इस्लाम धर्म की कट्टरता के कारण नाटक को मुगल काल में उस प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल शासकों से प्राप्त हुआ था। इस कारण मुगल काल के दो-ढाई सौ वर्षों में भारतीय परंपरा की अभिनयशालाओं अथवा प्रेक्षागारों का सर्वथा लोप हो गया। परन्तु रामलीला आदि की तरह लोक-कला के माध्यम से भारतीय थिएटर जीवित रहा। अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में व्याप्त होने पर उनके देश की अनेक वस्तुओं ने हमारे देश में प्रवेश किया। उनके मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ। उन लोगों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हैं।

इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया और उसने पाश्चात्य थिएटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिए रंगमंच को नया रूप दिया। दूसरी ओर बंबई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनयशालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए, एक नए ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया। पारसी नाटक कंपनियों ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक उपस्थित किए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. नाट्यशास्त्र में कुल कितने अध्याय हैं?
(क) चालीस (ख) तीस (ग) बीस (घ) छत्तीस
उत्तर (घ) छत्तीस

प्र.2. भारतेन्दु जी के अनुसार 'भारती वृत्ति' का किस रस से सम्बन्ध है?
(क) अद्‌भुत रस (ख) रौद्र रस (ग) वीभत्स रस (घ) करुण रस
उत्तर (ग) वीभत्स रस

प्र.3. धनंजय के अनुसार सर्वप्रमुख रूपक भेद कौन-सा है?
(क) प्रकरण (ख) नाटिका (ग) नाटक (घ) प्रहसन
उत्तर (ग) नाटक

प्र.4. नाटक का नायक कैसा होना चाहिए?
(क) धीरललित (ख) धीरशान्त (ग) धीरोदात्त (घ) धीरोद्धत
उत्तर (ग) धीरोदात्त

प्र.5. शुद्ध विकृत एवं संकीर्ण किसके भेद हैं?
(क) प्रकरण के (ख) भाण के (ग) प्रहसन के (घ) डिम के
उत्तर (ग) प्रहसन के

प्र.6. आधिकारिक एवं प्रासंगिक ..... के भेद हैं।
(क) कथावस्तु (ख) नेता (ग) रस (घ) नायिका
उत्तर (क) कथावस्तु

प्र.7. नाटक का कथानक कितने प्रकार का होता है?
(क) 2 (ख) 5 (ग) 3 (घ) 4
उत्तर (क) 2

TOUCH 'n PASS

प्र.8. नाट्य शब्द किस धातु से बना है?
(क) नट् धातु से (ख) पठ् धातु से (ग) गम् धातु से (घ) पा धातु से
उत्तर (क) नट् धातु से

प्र.9. भरत मुनि का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है–
(क) दशरूपक (ख) शारदातनय (ग) नाट्यशास्त्र (घ) साहित्य-दर्पण
उत्तर (ग) नाट्यशास्त्र

प्र.10. नाट्यवेद में कितने पाठ थे?
(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पाँच
उत्तर (क) दो

प्र.11. प्राचीन नाट्यशास्त्र का नाम था–
(क) नाट्यशास्त्र (ख) नाट्यवेद (ग) दशरूपक (घ) शारदातनय
उत्तर (ख) नाट्यवेद

प्र.12. निम्न में से नायक के प्रकार में शामिल नहीं है–
(क) धीरललित (ख) धीरोदात्त (ग) स्वकीया (घ) धीरप्रशान्त
उत्तर (ग) स्वकीया

प्र.13. प्रहसन का अंगीरस क्या होता है?
(क) शृंगार (ख) हास्य (ग) करुण (घ) अद्भुत
उत्तर (ख) हास्य

प्र.14. नाट्य मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के कितने भेद माने गए हैं?
(क) 2 (ख) 5 (ग) 3 (घ) 4
उत्तर (घ) 4

प्र.15. मृच्छकटिक का नायक किस प्रकार का नायक है?
(क) धीरललित (ख) धीरोदात्त (ग) धीरोद्धत (घ) धीरप्रशान्त
उत्तर (घ) धीरप्रशान्त

प्र.16. 'रत्नावली' नाटिका के नायक की श्रेणी है–
(क) धीरललित (ख) मर्त्य (ग) धीरोदात्त (घ) धीरोद्धत
उत्तर (क) धीरललित

प्र.17. धीरोद्धत कोटि के नायक का लक्षण है–
(क) मायावी (ख) राजर्षि (ग) मृदु (घ) विनीत
उत्तर (क) मायावी

प्र.18. सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के कितने भेद हैं?
(क) 2 (ख) 3 (ग) 8 (घ) 5
उत्तर (ख) 3

प्र.19. स्वकीया नायिक के कितने भेद माने गए हैं?
(क) 2 (ख) 3 (ग) 8 (घ) 5
उत्तर (ख) 3

TOUCH 'n' PASS

प्र.20. वृत्तियाँ कितने प्रकार की मानी गई हैं?
(क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) छः
उत्तर (ख) चार

प्र.21. नायक की प्रकृति (स्वभाव) के आधार पर नायक के कितने भेद किए गए हैं?
(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पाँच
उत्तर (ग) चार

प्र.22. नायकों के पुरुषोचित सात्विक गुण कितने माने गए हैं?
(क) छः (ख) तीन (ग) आठ (घ) दस
उत्तर (ग) आठ

प्र.23. नायकों के कुल कितने भेद मान्य हैं?
(क) पैंतालीस (ख) छियालीस (ग) सैंतालीस (घ) अड़तालीस
उत्तर (घ) अड़तालीस

प्र.24. नायिका सर्वप्रथम कितने प्रकार की मानी गई?
(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) पाँच
उत्तर (ख) तीन

प्र.25. स्वकीया नायिका के कितने भेद होते हैं?
(क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) छः
उत्तर (क) तीन

प्र.26. सामान्या (साधारण स्त्री) नायिका निम्नलिखित में से कौन होती है?
(क) दूसरे की विवाहिता (ख) अविवाहिता कन्या (ग) गणिका (वेश्या) (घ) राजकन्या
उत्तर (ग) गणिका (वेश्या)

प्र.27. निम्न में से सानुबन्ध कथावस्तु कौन-सा है?
(क) पताका (ख) अंक (ग) प्रकरी (घ) आधिकारिक
उत्तर (क) पताका

प्र.28. प्रासंगिक कथावस्तु के कितने भेद हैं?
(क) 2 (ख) 3 (ग) 8 (घ) 5
उत्तर (क) 2

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-V

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र से आप क्या समझते हैं?

उत्तर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ ईसा से लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी पूर्व यूनान (ग्रीस) में हुआ माना जाता है। काव्य-विषयक प्रथम विश्लेषण यूनानी चिंतक प्लेटो (ई०पू० 428-347) के संवादों में ही मिलता है। यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम रूप यूनान के विश्व प्रसिद्ध कवि होमर के काव्य में मिलता है।

प्र.2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के जनक कौन है?

उत्तर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ यद्यपि ईसा की पाँचवी शताब्दी पूर्व सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो को माना जाता है।

प्र.3. पाश्चात्य शब्द का अर्थ क्या होता है?

उत्तर पाश्चात्य का हिंदी अर्थ, पश्चिम दिशा का पश्चिमी महादेश में होने अथवा उससे संबंध रखनेवाला।

प्र.4. पाश्चात्य साहित्य की विशेषता क्या है?

उत्तर पाश्चात्य साहित्य की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में शामिल हैं। यह इंडो-यूरोपीय भाषाओं में लिखा गया है; इसकी उत्पत्ति ग्रेको-रोमन परंपरा में है और बाद में ईसाई धर्म के प्रसार से इसे आकार मिला; यह मध्य पूर्व के विपरीत पश्चिमी या यूरोपीय दुनिया के मूल्यों और मान्यताओं को दर्शाता है।

प्र.5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का उद्‌भव कहाँ हुआ?

उत्तर पाश्चात्य काव्यशास्त्र (वेस्टर्न पोएटिक्स) के उद्‌भव के साक्ष्य ईसा के आठ शताब्दी पूर्व से मिलने लगते हैं। **होमर** और **हेमिओड** जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन के प्रारम्भिक बिंदु मौजूद मिलते हैं। ईसापूर्व यूनान में वक्तृत्वशास्त्रियों का काफी महत्त्व था।

प्र.6. प्राच्य और पाश्चात्य विवाद क्या है?

उत्तर प्राच्य-पाश्चात्य विवाद शिक्षा के क्षेत्र में 1813 से 1853 तक का समय प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के महत्त्व से सम्बन्धित विवाद का था। प्राच्य शिक्षावादी विचारधारा के समर्थक वारेन हेस्टिंग्ज, एच०टी० प्रिन्सेप, लॉर्ड मिण्टो तथा एच. एच. विल्सन थे।

प्र.7. अरस्तू का काव्य पर क्या दृष्टिकोण है?

उत्तर अरस्तू का कविता का सिद्धांत दो मुख्य प्रस्तावों पर आधारित है: पहला, कि कविता नकल है और दूसरा, इसका लक्ष्य सार्वभौमिकता है।

प्र.8. वर्ड्सवर्थ का काव्य सिद्धांत क्या है?

उत्तर छन्दोबद्ध भाषा और गद्य की भाषा में किसी प्रकार तात्त्विक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का अन्तर हो भी नहीं सकता।

प्र.9. वर्ड्सवर्थ के अनुसार कविता का अंत क्या है?

उत्तर वह अपनी भावनाओं को इस तरह संप्रेषित करने में सक्षम है कि पाठकों को आनंद की अनुभूति हो। कविता का अंत आनंद प्रदान करना है। वर्ड्सवर्थ दृढ़ता से कहते हैं, इसे कवि की कला का ह्रास नहीं माना जा सकता।

TOUCH 'n' PASS

प्र.10. लोंजाइनस के अनुसार उदात्त के प्रमुख तत्त्व क्या है?

उत्तर उदात्त-तत्त्व के स्त्रोत लोंजाइनस ने उदात्त तत्त्व के विवेचन में पाँच तत्त्वों को आवश्यक ठहराया है—(1) विचार की महत्ता (2) भाव की तीव्रता (3) अलंकार का समुचित प्रयोग (4) उत्कृष्ट भाषा (5) रचना की गरिमा।

प्र.11. उदात्त के पाँच स्त्रोत क्या हैं?

उत्तर अंत में, लोंजाइनस ने उदात्तता के पाँच स्त्रोत बताए—' महान विचार, मजबूत भावनाएँ, विचार और भाषण के कुछ आंकड़े, महान उच्चारण और गरिमापूर्ण शब्द व्यवस्था'।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

उत्तर

अरस्तू का विरेचन सिद्धांत

अरस्तु द्वारा प्रतिपादित विरेचन सिद्धांत भी अनुकरण सिद्धांत की भाँति प्लेटो द्वारा काव्य पर किए गए आक्षेप का प्रतिपाद रूप है। प्लेटो ने काव्य कला को आदर्श राज्य के लिए अनुपयोगी बताया। अरस्तू ने प्लेटो के सिद्धांत को निरूपित किया। इस तरह अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत के द्वारा काव्य के उद्देश्य एवं प्रभाव की समुचित प्रतिष्ठा करते हुए त्रासदी अर्थात् करुणा भाव की उदबुद्धि के आस्वाद रूप की समीचीन व्याख्या प्रस्तुत की। अरस्तू के अनुसार त्रासदी के मूल-भाव भावों को उबुद्ध कर विरेचन पद्धति के द्वारा मानव मन का परिष्कार करते हैं; जैसे—'विरेचन से शरीर की शुद्धि होती है।'

विरेचन का अर्थ—यूनान की चिकित्सा पद्धति में विरेचन (Katharsis) की चर्चा आयी है। अरस्तू के द्वारा इसके प्रयोग का कारण यह प्रतीत होता है कि अरस्तू के पिता मेसेडोनिया राज्य के चिकित्सक थे और अरस्तू ने स्वयं भी चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त की थी। भारतीय चिकित्सा पद्धति में भी विरेचन का महत्त्व है जिसका सामान्य अर्थ है 'रेचक' द्रव्यों द्वारा शरीर के मल अनावश्यक हानिकारक तत्त्वों और पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना। इस प्रकार 'रेचक' का आशय शारीरिक या उदार विकारों की शुद्धि करना है। अरस्तू ने विरेचन का लाक्षणिक अर्थ लिया है और भावों के द्वारा मनोविकारों की शुद्धि के लिए इसे उपयोगी बताया है। साहित्य पर विरेचन सिद्धांत को लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है।

प्लेटो ने काव्य एवं कला पर यह आक्षेप लगाया था कि इससे हमारी दूषित आरोप वासनाएँ और मनोवृत्तियाँ उत्तेजित एंव पुष्ट होती हैं। संभवत: इसी का खंडन करने हेतु अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत का प्रतिपादन किया और यह प्रतिपादित किया कि साहित्य हमारी दूषित मनोवृत्तियों का विरेचन कर देता है।

अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत के द्वारा दु:खांत नाटकों की मीमांसा की। यूनान में सुखांत नाटकों की अपेक्षा दु:खांत नाटकों की रचना अधिक हुई। दु:खांत नाटकों में गंभीरता एवं उदात्तता अधिक होती है। ऐसा पाश्चात्य समीक्षकों का मत है। (यद्यपि इन नाटकों में करुणा और भय के मनोविकारों का प्रदर्शन किया जाता था, फिर भी दर्शक उन्हें देखना पसंद करते थे। अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि लोग दु:खांत नाटक क्यों देखते हैं। उसने दु:खांत नाटकों की मीमांसा करते हुए विरेचन के सिद्धांत की कल्पना की।

अरस्तू का मत है कि यदि करुणा और भय हमारे मन में एकत्र होते हैं तो वे हानिकारक होते हैं। दु:खांत नाटकों में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भय की भावनाओं को निकास का अवसर मिल जाता है। ट्रेजिडी एक क्रिया है जो हमारे करुणा और भय की भावना जाग्रत करके हमारी भावनाओं को बाहर निकालने का मार्ग प्रस्तुत कर देती है। जर्मन काव्यशास्त्री लेसिंग (18वीं शताब्दी) ने बाताया है कि सामान्य द्वारा विभिन्न अंतर्वृत्तियों का समन्वय करते हुए मन की शांति और परिष्कृति पर बल दिया गया है।

कलापरक अर्थ में विरेचन के दो पक्ष हैं अभावात्मक एवं भावात्मक। मनोगों के उत्तेजन के पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मन: शांति उसका अभावात्मक पक्ष है, जबकि इसके उपरांत कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है।

डॉ० नगेंद्र ने केवल अभावात्मक पक्ष को ही स्वीकार किया है। वस्तुत: विरेचन की कलापरक व्याख्या संबंध में विद्वानों में मतभेद है।

निष्कर्ष—निश्चय ही विरेचन का सिद्धात अरस्तू द्वारा प्रतिपादित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है जिसने दु:खांत नाटक मीमांसा पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

TOUCH 'n PASS

प्र.2. काव्य के उदात्त तत्त्वों का स्वरूप का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

उत्तर

काव्य में उदात्त तत्त्व : स्वरूप विवेचन

लौंजाइनस अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता को उदात्त मानता है। एक अन्य स्थल पर उसने उदात्त को ऊर्जित कला भी कहा है। क्योंकि कवि और लेखक अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता के द्वारा ही प्रतिष्ठा और यश को प्राप्त करते हैं। उसका मानना है उदात्त भाषा, श्रोता का भावोद्रक करती है। कविता में औदात्य का समावेश समस्त रचना विधान के द्वारा होता है। वह रचना के निर्माण कौशल, उचित अनुक्रम और वस्तु विन्यास को समस्त रचना विधान मानता है। लौंजाइनस अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता को उदात्त मानता है।

यद्यपि यूनानी काव्य समीक्षा में उदात्त लौंजाइनस से पूर्व ही विवेचित हो चुका था; किंतु तब उसे शिक्षा द्वारा अर्जित न मानकर, उसकी प्रवृत्ति को नैसर्गिक माना जाता था। लौंजाइनस से पूर्व मान्यता थी कि प्रकृति ही ऐसी कला है, जो उसे अपनी परिधि में समेट सकती है। इतना ही नहीं प्रकृति की रचनाएँ कला के नियमों में बाँधकर पूर्णत: निम्नतर हो जाती हैं; किंतु लौंजाइनस का मत था। प्रकृति की कार्यविधि नियमत: आवेग और औदार्य के विषय में उन्मुक्त और स्वतंत्र होते हुए भी मनमानी और पूर्णत: व्यवस्था विहीन नहीं है। वह मानता था कि भले ही प्रकृति सर्वथा मौलिक और प्राणभूत तत्त्व है; फिर भी व्यवस्था द्वारा उसका उपयोग किया जा सकता है।

लौंजाइनस कविता की उदात्त अभिव्यक्ति के लिए ज्ञान के निर्देशों का पालन आवश्यक मानता है क्योंकि उसका मानना है कि ज्ञान के निर्देशों का सम्यक् पालन न करने से कविता में उदात्त अव्यवस्थित रूप से व्यक्त होगा, जिससे निपट वेग और ज्ञानहीन उद्धतता ही व्यक्त होगी। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लौंजाइनस उदात्त को सहज प्रतिभा तो मानता है, किंतु उसे ज्ञान के निर्देशों के द्वारा नियंत्रित भी। उसका मत है कि सौभाग्य और सद्‌बुद्धि एक-दूसरे के पूरक हैं। वह सौभाग्य को प्रकृति और सद्‌बुद्धि को कला मानता है। अत: जिस प्रकार सद्‌बुद्धि के अभाव में सौभाग्य नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान के निर्देशों का समुचित पालन न होने पर उदात्त खंडित हो जाता है। वस्तुत: लौंजाइनस ने उदात्त के स्वरूप निर्धारण में परंपरा से हटकर मध्य मार्ग का आश्रय लिया है, जिसके आधार पर उदात्त सहज प्रतिभा के साथ-साथ श्रमसाध्य भी है। लौंजाइनस ने उदात्त के कतिपय बाधक तत्त्वों को निर्देश दिया है। वे बाधक तत्त्व हैं—शब्दाडंबर (Tumidity), बालिशता (Puerility) और भावाडंबर (Empty or false passion)। यहाँ पर लौंजाइनस निर्दिष्ट उदात्त के बाधक तत्त्वों का सामान्य परिचय देना समीचीन जान पड़ता है।

(क) शब्दाडंबर (Tumidety)—उसका मत था कि यद्यपि शब्दाडंबर से बचना बड़ा कठिन होता है; क्योंकि अपनी रचनाओं में उदात्त की इच्छा रखने वाले लेखक क्षीणता और शुष्कता से बचने के लिए शब्दाडंबर का आश्रय लेते हैं। फलत: कविता में मिथ्या त्रासद व्यक्त होने लगती है और कविता के भावों में मलिनता व्यक्त होने लगती है। चाहे मानवीय कार्य-व्यापारों की अनुकृति हो या साधारण तथ्य वर्णन, वह प्रत्येक परिस्थिति में शब्दाडंबर अहितकर मानता है क्योंकि उसका मानना है कि शोध (Research) चाहे शरीर में हो या भाषा में, वह प्रत्येक दशा में दोष ही माना जाता है।

(ख) बालेयता (Puerility)—सामान्यत: बालेयता को बचकानापन भी कहा जाता है। वह बालेयता को उदात्त का निकृष्ट दोष मानता है। उसका मानना है कि तुच्छ पाण्डित्य प्रदर्शन और निष्प्राण वाचालता, बालेयता दोष है। जब रचनाकार, अपनी रचना को असामान्य और कृत्रिमतापूर्ण आकर्षक विस्तार देता है, वहाँ बालेयता दोष उत्पन्न हो जाता है।

(ग) भावाडंबर (Empty or False passion)—भावांडबर आवेग विषयक दोष है। लौंजाइनस के अनुसार, यह वह दोष है, जब रचनाकार आवश्यकता के प्रतिकूल आवेगों का प्रदर्शन करता है।

वस्तुत: लौंजाइनस का मानना है कि रचनाकार की अभिव्यक्ति में नवीनता की खोज और औचित्य का निर्वहन न कर पाने की दशा में उदात्त विषयक, इन दोषों का जन्म होता है।

प्र.3. लौंजाइनस के उदात्त के बाधक तत्त्वों पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

उदात्त के बाधक तत्त्व

लौंजाइनस ने उदात्त के साधक तत्त्वों की तरह कतिपय बाधक तत्त्वों की चर्चा की है। उनके द्वारा निर्दिष्ट उदात्त के तत्त्व हैं—

1. भाषा का अव्यवस्थित प्रवाह,
2. उक्ति की संक्षिप्तता,

TOUCH 'n' PASS

3. वाग्विस्तार और
4. अभिव्यक्ति की क्षुद्रता।

उदात्त के बाधक, इन तत्त्वों का सामान्य परिचय दिया जा रहा है—

1. **भाषा का अव्यवस्थित प्रवाह**—भाषा के छिन्न-भिन्न और अव्यवस्थित प्रवाह को लौंजाइनस उदात्त के लिए अत्यंत घातक मानता है। वह लघु-गुरु (।ऽ), गुरु-लघु (ऽ।) क्रम से युक्त द्विमात्रिक पदों तथा दुहरे गुरु-लघु (ऽ।) क्रम में युक्त चतुर्मात्रिक पद रचना में भाषा का अव्यवस्थित प्रवाह मानता है। उसका मानना है कि इस प्रकार भाषा, अपनी लयात्मकता, कृत्रिमता और अत्यंत सुकुमारता से संगीत के स्तर पर उतर आती है। फलत: जो अपनी चमक की एकरसता से आवेग रहित हो जाती है, जिससे रचना में औदात्य शून्यता परिलक्षित होने लगती है।
2. **उक्ति की संक्षिप्तता**—लौंजाइनस उक्ति की संक्षिप्तता को भी औदात्त्य का बाधक तत्त्व मानता है; क्योंकि उसका मानना है कि इससे अर्थ संकुचित होता है और साथ ही उक्ति में विचार बाहुल्य विन्यस्त होने के कारण, उसकी गरिमा नष्ट हो जाती है।
3. **वाग्विस्तार**—वह उक्ति की संक्षिप्तता के समान वाग्विस्तार को भी औदात्त्य का बाधक मानता है; क्योंकि उसका मानना है अनावश्यक वाग्विस्तार आडंबर को जन्म देती है।
4. **अभिव्यक्ति की क्षुद्रता**—वह अभिव्यक्ति की क्षुद्रता से भी औदात्त्य की क्षति मानता है। सामान्यत: अभिव्यक्ति की क्षुद्रता का आशय है, क्षुद्र शब्दों का प्रयोग। इसीलिए वह अपने समकालीन कवि **हेरोडोटस** का युद्ध वर्णन को उदात्त के अनुरूप नहीं मानता क्योंकि उसमें क्षुद्र शब्दों का प्रयोग हुआ है।

प्र.4. रिचर्ड्स के संप्रेषण सिद्धांत से क्या अभिप्राय है?

उत्तर

रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत

रिचड्र्स का काव्य संबंधी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत संप्रेषणीयता का सिद्धांत है। प्रेषणीयता को स्पष्ट करते हुए रिचड्र्स कहता है—'प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्राय: एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं'।

जब किसी वातावरण विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है, तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं।

दूसरे शब्दों में, किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूति करना ही प्रेषणीयता है। 'कवि, कलाकार या सर्जक की अनुभूतियों का भावक द्वारा अनुभव किया जाना ही संप्रेषण है।

प्रेषणीयता के आधारभूत तत्त्वों पर विचार करते हुए रिचड्र्स ने इसका श्रेय कवि की वर्णन क्षमता और श्रोता या बैठक की ग्रहण शक्ति को दिया है। कला के लिए प्रेषणीयता अत्यावश्यक है, किंतु क्या इसके लिए कलाकर को विशेष प्रयत्न करने चाहिए? यदि कलाकार स्वयं अपनी रचना को प्रेषणीय बनाने के लिए प्रयत्न करने लगेगा, तो संभव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाए। इसलिए रिचड्र्स यह मानता है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किंतु कलाकार को उसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कलाकार जितना सहज स्वाभाविक रूप में अपना कार्य करेगा, उसकी अनुभूतियाँ उतनी ही संप्रेषणीय बनेंगी।

संप्रेषण तभी पूर्णता से होता है, जब विषय रोचक एवं रमणीय होता है। कवि जब तक स्वयं अपनी अनुभूतियों के साथ एक रस नहीं हो जाता, तब तक वे अनुभूतियाँ संप्रेषणीयता का गुण ग्रहण नहीं कर सकतीं। संप्रेषण स्वाभाविक व्यापार है। उसके लिए कलाकार को न तो सजग रहने की आवश्यकता है, न प्रयत्न करने की। संप्रेषण के लिए प्रयत्न करने पर कला मे कृत्रिमता का समावेश हो जाता है। निश्चय ही संप्रेषणीयता के लिए कवि प्रतिभा अज्ञात रूप से स्वत: कार्य करती है, क्योंकि अनुभूतियों का सहज प्रस्तुतीकरण उस प्रभाव दशा का निर्माण कर देता है जो कवि ने अनुभूत की थी। इससे प्रेषणीयता में पूर्णता का विधान होता है।

प्र.5. संप्रेषण और काव्य-भाषा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

संप्रेषण और काव्य-भाषा

काव्य में संप्रेषण का प्रमुख माध्यम भाषा है, जिसका प्रयोग अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। भाषा में सामान्यत: चार बातें निहित रहती हैं—वाच्यार्थ (Sense), भाव (Feeling), वाणीगत चेष्टा (tone), अभिप्राय (intention)।

TOUCH 'n' PASS

भाषा से सामान्यत: उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ सूचित होते हैं, किंतु विषय एवं परिस्थिति के भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान में वाच्यार्थ का अधिक महत्त्व होगा तो काव्य में 'भाव' को अधिक महत्ता मिलेगी। कविता विचारों की अभिव्यक्ति के लिए नहीं अपितु भावों के प्रभाव के लिए होती है। काव्य में व्यक्त विचार भाव और दृष्टिकोण के निमित्त होते हैं।

अर्थ और भाव के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करते हुए रिचर्ड्स ने उसके तीन रूप स्वीकार किए हैं—1. जहाँ अर्थ ही भाव का बोधक हो, 2. जहाँ अर्थ भाव की अनुभूति का सूचक हो, 3. जहाँ प्रसंग विशेष के कारण अर्थ विभिन्न भावों का सूचक हो।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया द्वारा–काव्य प्रेषण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे छह भागों में विभक्त किया गया है—

1. मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण
2. नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से संबंधित बिम्बों का ग्रहण
3. स्वतंत्र बिम्बों का ग्रहण
4. विभिन्न वस्तुओं का बोध
5. भाषानुभूति
6. दृष्टिकोण से सामंजस्य

सर्वप्रथम काव्य के पठन से अक्षरों, उनकी स्पष्टता, शुद्धता आदि का बोध होता है। तत्पश्चात् उन अक्षरों से पाठक के मन में बिंब बनने प्रारंभ होते हैं। रिचर्ड्स ने यह भी बताया है कि किसी कविता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे ही बिंब उत्पन्न नहीं होंगे। संभव है सभी पाठकों के मन में अलग-अलग बिंब बनें। अत: काव्य में मूर्त विधान का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। डॉ० रिचर्ड्स के अनुसार, मूर्त विधानजन्य अनुभूति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण भाव तत्त्व है जिसके कारण विभिन्न पाठकों के अनुभव में समानता आती है। शब्दों के अर्थबोध एवं बिंब ग्रहण से हमें काव्यार्थ का बोध होता है। इस बोध से भावों एवं भावात्मक दृष्टिकोण की अनुभूति होती है। इसीलिए भावों का कला संबंधी अनुभूति में सर्वाधिक महत्त्व है। 'दृष्टिकोणों' का प्रयोग यहाँ भावना (Sentiments) के अर्थ में किया गया है जिसे भारतीय रस सिद्धांत में 'स्थायी भाव' कहा गया है। डॉ० गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार—'इमोशन और 'एटीच्यूड' के बीच रिचर्ड्स ने वही संबंध माना है जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है।' किंतु रिचर्ड्स एवं भारतीय आचार्यों के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय आचार्य काव्य का लक्ष्य रस या आनंद की निष्पत्ति मानते हैं, जबकि रिचर्ड्स इसे सर्वथा गौण मानता है। रिचर्ड्स काव्यानुभूति में भावोद्दीप्ति को लक्ष्य मानते हुए भी उसका उद्देश्य हमारे आवेगों को सुव्यवस्थित करना बताते हैं। आनंद को काव्योद्देश्य मानना उन्हें स्वीकार नहीं है।

प्र.6. संप्रेषण सिद्धांत का महत्त्व लिखिए।

उत्तर

संप्रेषण सिद्धांत का महत्त्व

संप्रेषण सिद्धांत के महत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. रिचर्ड्स काव्य का मूल्यांकन रागात्मक आधार पर करते हैं और पाठकों के मन पर पड़े प्रभावों से उसे आंकते हैं।
2. रस सिद्धांत में स्थायी भाव की सत्ता 'वासना रूप में विद्यमान' भावों के रूप में की गई है, जबकि रिचर्ड्स आदिम आवेगों (Impulses) की सत्ता को स्वीकार करता है।
3. रस सिद्धांत में जहाँ भिन्न-भिन्न रसों की चर्चा की गई है, वहीं रिचर्ड्स ने विरोधी आवेगों को स्वीकार किया है।
4. रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित साधारणीकरण के समीप है।
5. रिचर्ड्स के काव्य भाषा का जो विवेचन किया है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे यह मानते हैं कि भाषा का प्रयोग भाव की प्रेरणा से होता है।
6. भाषा में लहजा (tone) विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसका आधार संबंध न होकर भाव दशा है। क्रोध की दशा में हमारा 'टोन' जिस प्रकार का होता है वैसा 'प्रेम' की दशा में नहीं होता।

TOUCH 'n PASS

7. रिचड्र्स ने भाषा के जो तीन भेदभाव, लहजा और अभिप्राय किए हैं, वे वास्तव में अर्थ के तीन भेद न होकर एक-दूसरे के अंग हैं। इनकी तुलना में भारतीय आचार्यों ने शब्द और उसकी शक्तियों के जो भेद अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के रूप में किए वे अधिक तर्कसंगत हैं।
8. रिचड्र्स ने भारतीय रस सिद्धांत और उससे प्राप्त होने वाले आनंद को उतना महत्त्व नहीं दिया। वह कहता है कि काव्य से प्राप्त होने वाला तात्कालिक आनंद सर्वथा गौण है यह मान्यता उनके प्रेषणीयता सिद्धांत के विपरीत है।
9. रिचड्र्स की आधारभूत मान्यताएँ तो महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु उनकी व्याख्या अटपटी एवं अपूर्ण है।

कुछ भी हो रिचड्र्स ने काव्य सिद्धांतों ने अपने युग के समीक्षकों को बहुत अधिक आकर्षित किया है। उन्होंने साहित्य का एक ऐसा मानदण्ड खोजने का प्रयास किया जो भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान एवं नीतिशास्त्र के तत्त्वों से समन्वित है।

प्र.7. इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

टी.एस. इलियट की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'Tradition and Individual Talent' है। इसमें इलियट ने साहित्य की आधारभूत एवं मौलिक समस्याओं को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। इलियट के समीक्षा संबंधी किए गए हैं; जैसे—(1) द सिक्रेट वर्ल्ड, (2) सेलेकटेड ऐसेस, (3) द यूज ऑफ पोयट्री एंड यूज ऑफ क्रिटिसिज्म, (4) पोयट्री एंड ड्रामा, (5) द थिसिस ऑफ पोयट्री, (6) ऑन पोयट्री एंड पोपट इत्यादि।

इलियट के विभिन्न काव्य सिद्धांत इस प्रकार है—

निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत—इलियट एजरा पाउंड के विचारों से काफी प्रभावित थे। एजरा पाउंड की मान्यता थी कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है। कवि से प्रभावित होकर इलियट अनेकता में एकता बाँधने के लिए परंपरा को आवश्यक मानते थे, जो वैयक्तिकता का विरोधी है। वह साहित्य के जीवन्त विकास के लिए परंपरा का योग स्वीकार करते थे। जिसके कारण साहित्य में आत्मनिष्ठ तत्त्व नियंत्रण हो जाता है और वस्तुनिष्ठ प्रमुख हो जाता है।

इस परंपरा सिद्धांत के द्वारा उन्होंने आत्मनिष्ठ साहित्य के स्थान पर वस्तुनिष्ठ साहित्य को महत्त्व प्रदान किया, कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया और कवि को काव्य की स्वतंत्र अवधारणा के लिए माध्यम मात्र स्वीकार किया। उसका कथन है, 'कवि व्यक्तिगत की अभिव्यक्ति नहीं करता, वरन वह विशिष्ट माध्यम मात्र है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है, वरन् उनसे पलायन कला है।' उनके प्रारंभिक वक्तव्यों से स्पष्ट है कि कविता उत्पन्न हो जाती है, उत्पन्न की नहीं जाती है।

इलियट ने कविता की उत्पत्ति को लेकर बाद में अपने मत में संशोधन करते हुए कहा कि 'मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था।'

बाद में निर्वैयक्तिक के संबंध में निम्न वक्तव्य दिया, 'निर्वैयक्तिक के दो रूप होते हैं, एक वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए प्राकृतिक होती है, दूसरा वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध किया जाता है। दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है, जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यमों से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।'

उपयुक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भले ही उनके प्रारंभिक मत शब्दावली से लोगों को यह भ्रम हो गया हो कि वह कविता को कुशल-शिल्प-विधान मानते थे, परंतु बाद में चलकर कला की निर्वैयक्तिकता से इलियट का अभिप्राय मात्र कुशल शिल्पी की निर्वैयक्तिकता से नहीं है। अब तो वह कला की निर्वैयक्तिकता को प्रौढ़ कवि निजी अनुभवों की सामान्य अभिव्यक्ति मानता है। यह सिद्धांत भारतीय आचार्यों के साधारणीकरण से काफी मेल रखता है।

निर्वैयक्तिकता का अर्थ—इलियट ने इसका अर्थ कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण बताया है।

निर्वैयक्तिकता का रूप—इलियट ने इसके दो रूप स्वीकार किए हैं—

1. प्राकृतिक—जो प्रमुख शिल्पी या कलाकार के लिए ही होता है।
2. विशिष्ट—जो प्रौढ़ कलाकारों द्वारा उपलब्ध की जाती है।

इलियट कवि एवं कलाकृति दोनों को परस्पर प्रभावित होना स्वीकार करते हैं, 'मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्राप्त करता है, किंतु मैं यह भी विश्वास करता हूँ, कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं भी प्रभावित होता है।'

TOUCH 'n' PASS

अत: यह कहना गलत होगा कि इलियट कविता में कवि के व्यक्तित्त्व को अस्वीकार करता है। वह काव्य में कवि के व्यक्तित्त्व को भी स्वीकार करता है।

प्र.8. वर्ड्सवर्थ के काव्य सम्बन्धी अवधारणा एवं काव्य सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

काव्य सम्बन्धी अवधारणा

विलियम वर्ड्सवर्थ स्वच्छन्दतावादी काव्य-युग के प्रवर्त्तक कवि थे। स्वभाव से वे आलोचक न थे और न आलोचना करना उनका उद्देश्य था, बल्कि उनका आलोचनात्मक कतित्त्व नवशास्त्रवादी समीक्षकों के कठोर प्रहारों के विरुद्ध आत्मरक्षा का वह प्रयत्न है जो आलोचक-मान्यताओं के रूप में कलमबद्ध किया गया है। मूलत: और स्वभावत: आलोचक न होने पर भी अँग्रेजी आलोचना-शास्त्र में उनकी मान्यताओं का गौरव अक्षुण्ण है।

काव्य की परिभाषा देते हुए वर्ड्सवर्थ का कथन है—'कविता सशक्त भावोद्गारों का स्वत: प्रसूत उच्छलन है, जो मन की शान्त अवस्था में मनोभावों के अनुस्मरण से उद्भूत होती है।' यहाँ कवि ने दो विरोधी विचारों-बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन और वह भी शान्त अवस्था में अनुस्मरित मनोभावों में कोई भेद नहीं किया है अपितु दूसरे विचार के आधार पर प्रथम को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

काव्य-रचना के लिए वर्ड्सवर्थ दोनों स्थितियों को अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि यदि स्वत: प्रसूत सशक्त भावोद्गार ही न होंगे तो मन की शान्त अवस्था में किसका स्मरण किया जाएगा। अनुस्मरण न करते हुए सहज उच्छलित मनोभावों को मन की आलोड़ित अवस्था में कलमबद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो ये मनोभाव जनसामान्य-प्रयुक्त भाषा में किस प्रकार रूपान्तरित हो सकते हैं? परिणामस्वरूप काव्य-स जन के लिए सशक्त भावनाओं का सहज उच्छलन एवं मन की शान्त अवस्था में उनका स्मरण, दोनों ही अनिवार्य स्थितियाँ हैं। वस्तुत: वर्ड्सवर्थ काव्य-स जन प्रक्रिया के तीन स्तर मानते हैं—

1. प्रथम स्तर पर सशक्त भावोद्गारों का सर्जक के मन में उच्छलित होना।
2. द्वितीय स्तर पर उन भावोद्गारों को मन की शान्त अवस्था में स्मरण करना जिससे सजातीय मनोभाव सर्जक के स्मृति-पटल पर पुन: विद्यमान हो जाएँ।
3. तृतीय स्तर पर स्मृति पटल पर विद्यमान इन मनोभावों को जन-भाषानुरूप शब्दों में बाँधना।

प्रश्न उठता है कि वर्ड्सवर्थ की काव्य-भाषा का सैद्धान्तिक पक्ष व्यापारिक रूप में आया है अथवा नहीं? उत्तर सकारात्मक है। वर्ड्सवर्थ के साहित्य का श्रेष्ठतम अंश इसी सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष है। उनकी डेफोडिल्स कविता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। 'डेफोडिल्स' नामक फूलों के सौन्दर्य से कवि का संवेदन स्वत: प्रसूत सशक्त भावों से भर जाता है। जब वे एकान्त क्षणों में उसका स्मरण करते हैं तो काव्य-स्रोत फूटकर बह चलता है, जिसकी परिणति 'डेफोडिल्स' नामक कविता में होती है।

काव्य-सिद्धान्त

वर्ड्सवर्थ के काव्य-सिद्धान्त प्रकृति-प्रेम पर आधारित हैं। प्रकृति का चिन्तन करते हुए उनकी मनोदशा अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त प्राप्त करती है। उसने प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्तों को सामान्य जीवन से पृथक स्वीकार कर काव्य के अन्तरंग रूप की प्रतिष्ठा की है।

काव्य की कथावस्तु के स्थान पर वर्ड्सवर्थ ने कवि की अनुभूति पर जोर देते हुए कहा है कि अनुभूति के कारण ही काव्य में मनोभावों और स्थिति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। उसने कला के लिए ही अनुभूति को महत्त्व दिया है।

वर्ड्सवर्थ ने कविता को समस्त ज्ञान का प्राण और उत्कृष्ट आत्मा कहा है और उसे समस्त ज्ञान का आदि और अन्त स्वीकार किया है।

वर्ड्सवर्थ ने मानव और प्राकृतिक कार्यकलाप के अन्त:स्थल में विद्यमान आनन्द को काव्य का नैतिक धर्म पर प्रतिपादित कर 'सम्बन्धों' और 'प्रेम' के आधार पर मानव और प्रकृति के मौलिक मूल्यों की ओर लक्ष्य किया है।

TOUCH 'n PASS

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत

अनुकरण शब्द यूनानी भाषा के 'मीमेसिस' (Mimesis) शब्द का हिंदी पर्याय है। वस्तुत: हिंदी में यह शब्द अंग्रेजी भाषा के (Imitation) से रूपान्तरित होकर आया है। अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण सिद्धांत का विवेचन किया और यह स्थापित किया कि काव्य व्याज्य है, क्योंकि ईश्वर ही सत्य है इसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है। इस प्रकार काव्य अनुकरण का अनुकरण है। दूसरे शब्दों में—अनुकरण सदैव अधूरा होता है अत: संसार अर्द्धसत्य है और काव्य चौथाई सत्य है अर्थात् तीन-चौथाई झूठ है इसलिए व्याज्य है।

वस्तुत: प्लेटो ने अनुकरण का प्रयोग स्थूल अर्थ में किया और इस आधार पर काव्य के तीन भेद किए—

1. नाट्यात्मक काव्य
2. असत् काव्य, और
3. सत् काव्य।

अरस्तू ने भी अनुकरण के सिद्धांत को इसी रूप में लिया है, किंतु इसने अपनी कल्पना से इसमें नया रंग भर दिया तथा काव्य की महत्ता को पुनर्स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द का प्रयोग—अरस्तू ने अनुकरण शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया इसकी व्याख्या उनके टीकाकार अपने-अपने ढंग से करते है।

प्रोफेसर बूचर के अनुसार—' अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त अनुकरण का अर्थ है सादृश्य, विधान के द्वारा मूल वस्तु का पुनराख्यान।'

प्रोफेसर मरे ने बताया है—'अनुकरण अर्थ सर्जना का अभाव नहीं अपितु पुनर्सर्जना है।'

अरस्तू ने काव्य को सौंदर्यवादी दृष्टि से देखा और इसे दार्शनिक, राजनीतिक एवं नीतिशास्त्र के बंधन से मुक्त किया। उनके शब्दों में—'कला प्रकृति की अनुकृति है।' प्रकृति से उसका अभिप्राय जगत के बाह्य गोचर रूप के साथ-साथ उसके आंतरिक रूप (काम, क्रोध आदि मनोविकार) आदि से भी है।

अरस्तू ने हूबहू नकल को अनुकरण नहीं माना है। उनके अनुसार 'प्रकृति के अनेक दोष और अभाव भी अनुकृति की प्रक्रिया से कला द्वारा पूरे किए जाते हैं।' उसके शब्दों में—

"Generally Art Partly Completes what nature can not"

अवरक्रामी ने अरस्तू के तर्क को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है। पर तथ्य यह है कि कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं, क्योंकि वह हमें वह भी प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती है।'

अत: अनुकरण को मात्र नकल नहीं कहा जा सकता। अनुकरण सिद्धांत से इतिहासकार और कवि का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। इतिहासकार तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है, किंतु कवि उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसलिए काव्य के रूप अपेक्षाकृत अधिक भव्य हैं। वस्तुत: कलाजन्य आनंद अनुकृतिजन्य आनंद ही है।

अनुकरण की प्रक्रिया—अरस्तू के अनुसार कवि वस्तुओं को यथास्थित रूप में वर्णित नहीं करता अपितु उनके युक्ति युक्त (तर्कपूर्ण) संभाव्य रूप में वर्णित करता है। इस प्रकार की मानव जीवन के स्थायी तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु के सत्य का बलिदान भी कर सकता है और उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है वह सामान्य से अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी अथवा यथार्थ भी हो सकता है। वस्तुत: कवि सहृदय के आनंद के लिए यह परिवर्तन करता है, क्योंकि ऐसा करने से कवि को आनंद मिलता है।

अनुकरण सिद्धांत का विरोध क्रोचे (Croche) के सहजानुभूति सिद्धांत से भी है, क्योंकि क्रोचे के अनुसार—कला मूल रूप में कलाकार के मन में घटित होती है और वह सहजानुभूति है जबकि अरस्तू के अनुसार, वह कल्पनातीत है।

TOUCH 'n' PASS

विवेचन एवं निष्कर्ष—अरस्तू के अनुसार, अनुकरण का विषय जीवन का ब्राह्य पक्ष नहीं है, अपितु इसका प्रभाव क्षेत्र अंतर्जगत तक व्याप्त है। अरस्तू काव्य के लिए 'वस्तु कैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु कैसी होनी चाहिए' पर अधिक बल देता है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की परिधि बड़ी संकुचित है उसमें कवि की अंतश्चेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना देना चाहिए था।

अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत के महत्त्वपूर्ण बिंदु इस प्रकार हैं—

1. कविता जगत की अनुकृति है तथा अनुकरण मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है।
2. अनुकरण से हमें शिक्षा मिलती है। बालक अपने से बड़ों की क्रियाएँ तथा उसका अनुकरण करके ही सीखता है।
3. अनुकरण की प्रक्रिया आनंददायक है। हम अनुकृत वस्तु में मूल का सादृश्य देखकर आनंद प्राप्त करते हैं।
4. अनुकरण के माध्यम से भयमूलक या त्रासमूलक वस्तु को भी इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे आनंद की प्राप्ति हो।
5. अरस्तू ने काव्य की समीक्षा स्वतंत्र रूप से की है प्लेटो की भाँति दर्शन राजनीति के चश्मे से उसे नहीं देखा।

समग्रत: अरस्तू ने अनुकरण सिद्धांत को प्लेटो की अपेक्षा नवीन अर्थ प्रदान किए। इसमें 'शिवम्' की अपेक्षा 'सुंदरम्' पर बल दिया, उसे दार्शनिकों और नीतियों के चंगुल से पृथक् किया। अरस्तू काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानकर चला है। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र के अनुसार—'अरस्तू का दृष्टिकोण अभावात्मक रहा है और त्रास और करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है।'

अरस्तू ने कवि की निर्माण क्षमता पर तो बल दिया है, पर जीवन के विभिन्न अनुभवों से निर्मित कवि की अंतश्चेतना को महत्त्व प्रदान नहीं किया। उसके सिद्धांत में एक कमी यह भी है कि वह आंतरिक अनुभूतियों के भी अनुकरण की बात करता है। अनुकरण का इतना विस्तार नहीं हो सकता बस यही उसके सिद्धांत की सीमा है।

प्र.2. उदात्त के विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

उदात्त के स्रोत

वाक् प्रतिभा के आधार पर लौंजाइनस ने पाँच स्रोतों का उल्लेख किया है। वे पाँच स्रोत हैं—(1) महान धारणों की क्षमता, (2) उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग, (3) अलंकारों की समुचित योजना, (4) उत्कृष्ट भाषा और (5) गरिमामय और ऊर्जित रचना विधान। इन पाँचों स्रोतों में से, वह आरंभिक दो स्त्रोतों को जन्मजात और शेष तीन स्रोतों का कलाजन्य मानता है। वस्तुत: लौंजाइनस निर्दिष्ट इन स्रोतों को मूलत: उदात्त के तत्त्व भी कहा जाता है। डॉ० नगेंद्र ने जन्मजात स्रोतों को उदात्त तत्त्व और कलाजन्य स्रोतों को बहिरंग तत्त्व कहा है। वस्तुत: उदात्त के तत्त्वों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

1. **महान धारणाओं की क्षमता**—लौंजाइनस उदात्त के पाँचों तत्त्वों में इसे प्रथम महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानता है। उसने महान् धारणाओं की क्षमता को मन की ऊर्जा भी कहा है। यद्यपि वह इस तत्त्व को स्वभावजात मानता है, फिर भी उसने उदात्त अभिव्यक्ति के लिए उदात्त विचारों के पोषण की प्रेरणा दी है। क्योंकि उसका मानना है भाव स्वत: शब्दों के अभाव में भी मनुष्य की महानता को व्यक्त करते हैं। लौंजाइनस ने उदात्त को महान आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है। यही कारण है कभी-कभी मौन भी महान् और उदात्त होता है। उसने महान् धारणाओं की क्षमता के उद्गम स्रोतों का उल्लेख करते हुए लिखा है—सच्चे वाग्मी को निश्चय ही क्षुद्र और हीनतर भावों से मुक्त होना चाहिए। क्योंकि यह संभव नहीं कि जीवनभर क्षुद्र उद्देश्यों तथा विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्हीं के मुख से निकलते हैं, जिनके विचार गंभीर और महान् हों। यही कारण है कि मनस्वियों को भव्य वाणी सहज ही प्राप्त हो जाती है।
2. **उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग**—वह उदात्त को दूसरा तत्त्व मानता है। उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत भावों का चित्रण। यद्यपि उदात्त के इस तत्त्व की लौंजाइनस कृत 'पेरिइप्सुस' निबंध में कहीं पर भी स्पष्ट चर्चा नहीं है; फिर भी इस निबंध में स्फुट रूप से सूत्रबद्ध कथनों के आधार पर, इस तत्त्व की चर्चा चलाई जा सकती है। वस्तुत: आवेग की नाना कोटियाँ हो सकती है, किंतु वह केवल उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग को उदात्त का उद्गम मानते हैं; क्योंकि आवेग की सभी कोटियाँ उदात्त नहीं हो सकती हैं। उसने प्रेरणा प्रसूत आवेग को स्पष्ट करते हुए लिखा है: सच्चे औदात्त्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती

TOUCH 'n' PASS

है। इसीलिए उसका मत है : सच्चे वाग्मी को निश्चय ही क्षुद्र और हीनंतर भावों से मुक्त होना चाहिए। यही कारण है कि वह महान कार्य-व्यापारों, संघर्ष से परिपूर्ण और अंत:प्रेरणा के भव्यतम क्षणों में होमर कृत 'इलिअद' को श्रेष्ठ महाकाव्य मानता है।

लौंजाइनस ने आवेग से संबंधित शिल्प औदात्त्य में योग देने वाले चार गुणों का उल्लेख किया है। वे गुण हैं—(i) विषय चयन और संगठन, (ii) विस्तारणा, (iii) अनुकरण और (iv) बिंब।

उसका मानना है कि आवेग से संबंधित शैली के औदात्त्य में योग देने वाला महत्त्वपूर्ण गुण हैं। तत्त्वों का व्यवस्थित रीति से चयन और उनकी संगठित कर समग्र रूप देने की क्षमता। उसका मानना है कि पहली प्रक्रिया में श्रोता विचारों के निर्वाचन के प्रति आकृष्ट होता है और दूसरी में उसके संघटन से। वह विक्षिप्त आवेग के सहवर्ती प्रभावी भावों के चयन और एक संपूर्ण इकाई में निबंधन के कारण ही सैफो की अभिव्यक्ति का प्रशंसक है। आवेग से संबंधित शैली के औदात्त्य में योग देने वाला दूसरा गुण विस्तारणा है। उसका मानना है कि तथ्यों एवं आवेगों की क्रमबद्ध और आलंकारिक रीति से प्रस्तुति के लिए विस्तारणा का उपयोग किया जाता है। उनका मानना है कि विस्तारणा का उपयोग साधन रूप में ही होना चाहिए। पूर्ववर्ती महाकवियों और लेखकों का अनुकरण और स्पर्धा को भी वह आवेग से संबंधित औदात्त्य की सिद्धि का मार्ग मानते हैं क्योंकि उसका मानना है—यह एक ऐसा उद्देश्य है जिनके लिए हमें निरंतर प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि बहुत से व्यक्ति दूसरे की आत्मा से इतने प्रभावित हो जाते हैं मानो उन्हें स्वयं प्रेरणा मिली हो। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लौंजाइनस उदात्त अभिव्यंजना के लिए महापुरुषों का अनुकरण आवश्यक मानते हैं। क्योंकि उसका मानना है कि महापुरुष हमारे सामने प्रकट होकर, हमारे उत्साह को प्रज्वलित कर किसी गूढ़ रीति से हमारे मस्तिष्क को औदात्त्य के उन उच्च स्तरों तक ले जाएँगे, जो हमारे भीतर बिंबित हैं। इसके अतिरिक्त लौंजाइनस बिंब को औदात्त्य सिद्धि में सहायक माना है, क्योंकि बिंब आवेगों को गति प्रदान करते हैं।

3. **अलंकारों की समुचित योजना**—उदात्त अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता के लिए लौंजाइनस ने अलंकार को प्रमुख तत्त्व माना है। उसका मानना है—यदि अलंकारों का उचित रीति से उपयोग किया जाए तो उनसे औदात्य की सिद्धि में सहायता मिलती है। उसका मानना है कि अलंकार जहाँ औदात्त्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं, वहीं वे स्वयं भी उससे बल प्राप्त करते हैं। वह उदात्त को साध्य और अलंकार को साधन मानता है। उसका मानना है कि कविता में अलंकार तभी उदात्त के उत्कर्ष में सहायक होते हैं, जब तक उदात्त में अलंकारों की प्रयुक्ति अनुभव न हो। क्योंकि उसका मानना है कि एक बार सौंदर्य और औदात्त्य के साथ संबंद्ध हो जाने पर उनका (अलंकारों) कुशल प्रयोग करने वाली कला छिप जाती है और समस्त संभाव्य संदेह से बच जाती है। इतना ही नहीं लौंजाइनस का मत है कि जिस प्रकार सूर्य के प्रखर आलोक में सभी मंद दीपक बुझ जाते हैं, उसी प्रकार उदात्त के सर्वव्यापी ऐश्वर्य में सिक्त होकर सभी आलंकारिक चमत्कार दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। संभवत: यही कारण रहा होगा कि उन्होंने उन्हीं अलंकारों की चर्चा की है जो उदात्त की अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता के उत्कर्षक होते हैं।

4. **उत्कृष्ट भाषा**—उत्कृष्ट भाषा भी उदात्त का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। लौंजाइनस किसी भी विवेचन में विचार और पद-विन्यास को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं; क्योंकि उसका मानना है पद-विन्यास और विचार परस्पर आश्रित रहकर ही विकसित होते हैं। जिस प्रकार विचार भाषा के बिना व्यक्त नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार विचारहीन भाषा भी प्रभावहीन हो जाती है। उसका मानना है कि उपयुक्त एवं प्रभावशाली शब्दावली की श्रोता को आश्चर्यजनक रूप से आकर्षित एवं अभिभूत करती है; क्योंकि इस प्रकार की भाषा ही रचना में भव्यता, सौंदर्य; मार्दव, गरिमा, ओज और शक्ति आदि गुणों का समावेश होता है। उसका मत है: सुंदर शब्द वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं। वह शब्द और वस्तु के पूर्ण सामंजस्य को ही पूर्ण अभिव्यंजना मानते हैं। इसके अतिरिक्त लौंजाइनस ने उदात्त की सिद्धि के लिए तीन से अधिक रूपकों का एक साथ प्रयोग न करने का निर्देश दिया है। इतना ही नहीं उसका मानना है कि रूपकों के प्रयोग का उचित अवसर तब होता है, जब आवेग उन्मद प्रवाह की भांति उमड़ता चला आता है। क्योंकि उसका मानना है कि आवेग के प्रवाह में श्रोता भी बहने लगता है और उसे प्रयुक्त रूपकों की आलोचना का अवसर नहीं मिल पाता है।

TOUCH 'n PASS

लौंजाइनस साधारण वस्तुओं के चित्रण और वर्णन में भी रूपकों को आवश्यक मानता है, क्योंकि वह अलंकारमयी भाषा में स्वाभाविक शक्ति मानता है। इतना अवश्य है कि वह अलंकारों की भांति लाक्षणिक प्रयोगों को एक सीमा तक ही ग्राह्य मानता है, क्योंकि उसका मानना है कि अतिरंजनापूर्ण रूपकों की भरमार से कविता भावावेश की अंध प्रवृत्तियों की शिकार हो सकती है।

5. **गरिमामय रचना विधान**—उदात्त का अंतिम तत्त्व है—गरिमामय रचना विधान। वह किसी निश्चित क्रम से शब्दों की योजना को गरिमामय रचना विधान मानता है। इसके लिए वह सामंजस्य (Hormany) को अनिवार्य मानता है। उसका मानना है कि समंजित शब्द योजना न केवल प्रत्यय और आनंद की ही उद्‌बुद्धि करती है वरन् उदात्त उक्ति और भावावेश का भी अद्‌भुत साधन है। उसका मानना है, जिस प्रकार बांसुरी की तान और सारंगी (हार्प) का स्वर परस्पर समवाय द्वारा श्रोताओं के ऊपर जादू-सा कर देते हैं, उसी प्रकार भाषा का सामंजस्य मनुष्य दबी श्रवणेंद्रियों सहित, उसकी आत्मा को भी प्रभावित करती है। उसी प्रकार सामंजस्य द्वारा रचना की अभिव्यक्ति में विशिष्टता और उत्कृष्टता का समावेश होता है। फलतः रचना श्रोता को पूर्णतः प्रभावित करने में समर्थ होती है। लौंजाइनस किसी भी उक्ति में अवस्थित औदात्त्य को मानव शरीर की रचना की भांति उसके विभिन्न अंगों के निवेषण में मानता है, पृथकत्व में नहीं। उसी प्रकार औदात्त्य भी गरिमा के तत्त्वों की एकान्वित और सामंजस्य का परिणाम होता है। इसीलिए वह लेखक और कवि में स्वाभाविक औदात्त्य का गुण न होने पर भी सामंजस्य की कला में निपुण होने पर, उसे भी औदात्य संपन्न रचनाकारों के समकक्ष ही मानता है।

प्र.3. वर्ड्सवर्थ के काव्य प्रयोजन, भाषा, काव्य शैली एवं इसके मूल्यांकन का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

वर्ड्सवर्थ का काव्य प्रयोजन

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि कवि जन-सामान्य के लिए लिखता है, इसलिए उसे काव्य के माध्यम से उपदेश भी देना चाहिए। 'इसी से सम्बद्ध विचार हिन्दी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के भी हैं'—

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि मात्र शुष्क उपदेश ही वर्ड्सवर्थ के काव्य का उद्‌देश्य था। उसने अनिवार्य से समाहित नैतिक उत्थान से परिपूर्ण काव्यानन्द को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। ऐसा काव्यानन्द ही मानव की दुर्भावनाओं का परिष्कार करता है, प्राणीमात्र के प्रति भावक को संवेदनशील बनाता है, प्रकृति और मानव-जीवन को अधिकतम मूल्यवान और पूर्ण बनाता है।

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि काव्य जनकल्याण का सशक्त और महान् साधन है। उनके विचार में महाकवि का उद्‌देश्य भी काव्य के माध्यम से जनहित करना है। उनके अनुसार, 'काव्य का उद्‌देश्य पीड़ितों को सान्त्वना देना, दिवालोक में प्रखर रश्मियों के समावेश की भाँति ही भाग्यवानों को अधिक प्रमुदित करना तथा प्रत्येक युग के युवकों एवं कृपालुओं को चिन्तन-मनन एवं संवेदन-प्रधान बनाने की शिक्षा देना है, ताकि वे सक्रियता एवं दृढ़ता से सदाचारी बन सकें।' इससे वर्ड्सवर्थ प्लेटो से प्रभावित प्रतीत होते हैं। किन्तु जहाँ वे काव्यानन्द को शिक्षा का एकमात्र और अनिवार्य साधन मानते हैं, वहाँ वे होरेस से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य-सत्य को विज्ञान-सत्य से कहीं अधिक जनहितकारी एवं भव्यतर माना है, क्योंकि विज्ञान सत्य मात्र हमें भौतिक सुख ही प्रदान कर सकते हैं, जबकि काव्य-सत्य मनुष्य से उसके अस्तित्त्व के अनिवार्य हिस्से की भाँति जुड़ा हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्ड्सवर्थ की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी धारणा काव्यानन्द के माध्यम से मानव-जीवन में सत्य, शिव एवं सुन्दर की अनिवार्य परिणति है।

काव्य भाषा—वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि काव्य-भाषा जनसाधारण की भाषा का चुना हुआ रूप होने के कारण कभी-कभी गौरवान्वित होने की आकांक्षा करने वाले कवियों द्वारा प्रयुक्त भाषा से अधिक स्थायी और दर्शन-प्रधान होती है। उन्होंने जन-सामान्य के जीवन की भाषा का रूप क्लिष्ट और अस्वाभाविक बनाने वाले नवशास्त्रवादी कवियों के इसी संकीर्ण उद्‌देश्य पर कड़े प्रहार किए तथा अपने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में विस्तार अपनी इस अवधारणा का प्रतिपादन किया। 'वर्ड्सवर्थ' ने

TOUCH 'n PASS

अपनी काव्य-भाषा में उन्हीं मुहावरों, सूक्तियों, विरोधालंकारों, पर्यायोक्तियों, विपर्ययों तथा अन्य काव्योचित तरीकों का सहारा लिया है जो कि पहले से ही काव्य-जगत् में बहुप्रचलित तथा साधारण पाठकों के सुपरिचित थे।

काव्य-भाषा और गद्य-भाषा के किसी तात्विक भेद को अस्वीकार करते हुए वर्ड्सवर्थ की धारणा है कि किसी श्रेष्ठ कविता की भाषा का अधिकांश भाग अच्छी गद्य-भाषा जैसा ही होता है। किसी कविता के सर्वाधिक आकर्षक और रस-प्रधान अंश की भाषा पूर्णत: वैसे ही होती है जैसे उच्चकोटि के गद्य-साहित्य की भाषा। उन्होंने 'लिरिकल बैलेड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा है—'हम नि:संकोच यह कह सकते हैं कि गद्य की भाषा और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न कोई तात्विक अन्तर है और न हो सकता है।'

वर्ड्सवर्थ की प्रबल भावावेगमयी भाषा नवशास्त्रवादी डॉ० जॉनसन की 'प्लासवर्स ऑफ पीच' से न तो बहुत दूर है और न भिन्न। प्रश्न उठता है कि क्या वर्ड्सवर्थ का महान काव्य जनसामान्य की चयनित भाषा के रूप में लिखा गया है? अर्थात् क्या वे अपनी भाषागत अवधारणा को अपने काव्य व्यावहारिक रूप दे सके हैं? वस्तुत: उनकी महान् कविताएँ जैसे 'द इमोर्टलिटी ओड' (The imortality ode) जनसाधारण की चयनित भाषा में लिखी गई है, किन्तु फिर भी अधिकांश कविताएँ, जिनमें घटनाओं और स्थितियों को जनसामान्य चुना है, जनसाधारण की चयनित भाषा में लिखी गई है। अत: यह कहना असंगत नहीं है कि वे अपनी काव्य-भाषा सम्बन्धी अवधारणा को काव्य में भी उतार सके हैं।

काव्य शैली—वर्ड्सवर्थ ने अपने समय की पूर्ववर्ती काव्य-शैली को विकृत, दोषपूर्ण और चैतन्यहीन कहा है तथा अपनी काव्य-शैली को 'स्वाभाविक' माना है। उन्होंने आनन्दातिरेक के लिए कविता में लय और छन्द का होना आवश्यक बताया है। कविता में छन्द नियमित और एकरूप होना चाहिए। वस्तुत: उनकी यह मान्यता है कि लय और छन्द में कविता लिखने से वह जनसामान्य की भाषा में लिखी जा सकती है। इसलिए काव्य-सृजन की पद्धति के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि कविता उदात्त अनुभूतियों का स्वत: स्फूर्त प्रवाह है, जिसका उद्भव शान्ति के क्षणों में स्मरण किए हुए आवेगों से होता है।

मूल्यांकन—वर्ड्सवर्थ ने प्राचीन सिद्धान्तों को प्रतिमान के रूप में स्वीकार न करते हुए नवशास्त्रवाद से प्रकृति अनुकरण का सिद्धान्त ग्रहण किया और उसे एक विशेष सामाजिक मोड़ दिया। उन्होंने कृति की श्रेष्ठता की परख का एकमात्र प्रतिमान रखा उसकी भावात्मक अपील और इसी आधार पर उन्होंने कविता का लक्षण प्रस्तुत किया।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य के सामाजिक प्रभाव को भी स्वीकार किया है, जिससे मानव-समाज प्रेम में बँधकर सुखी होता है। उन्होंने अनुभूतियों की स्वत: स्फूर्ति को कविता में प्रतिपादित कर काव्य-शैली का विरोध और ग्रामीण भाषा का अनुकरणकर समीक्षा सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का विरोध क्रोचे के किस सिद्धांत से है?

(क) सहानुभूति (ख) सहजानुभूति (ग) आशावादी (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर (ख) सहजानुभूति

प्र.2. 'अरस्तू का दृष्टिकोण अभावात्मक रहा है और त्रास व करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है' कथन है–

(क) डॉ० नगेन्द्र (ख) डा. राजेन्द्र (ग) हरिशंकर परसाई (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर (क) डॉ० नगेन्द्र

प्र.3. अरस्तू काव्य के लिए 'वस्तु कैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु' के किस पर बल देते हैं–

(क) वस्तु कैसी होगी (ख) वस्तु कैसी होनी चाहिए
(ग) वस्तु कैसी थी (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर (ख) वस्तु कैसी होनी चाहिए

प्र.4. वाक् प्रतिभा के आधार पर लौंजाइनस ने कितने स्त्रोतों का उल्लेख किया है?

(क) 6 (ख) 7 (ग) 5 (घ) 8

उत्तर (ग) 5

TOUCH 'n PASS

प्र.5. लौंजाइनस ने किसे महान आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है?
(क) उदास (ख) स्वभाव
(ग) विचार (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) उदास

प्र.6. उदात्त का अंतिम तत्त्व क्या है?
(क) गरिमामय रचना विधान (ख) उत्कृष्ट भाषा
(ग) अलंकारों की समुचित योजना (घ) महान धारणाओं की क्षमता
उत्तर (क) गरिमामय रचना विधान

प्र.7. काव्य में संप्रेषण का प्रमुख माध्यम क्या हैं?
(क) भाषा (ख) भाव (ग) अनुभूति (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) भाषा

प्र.8. सर्वप्रथम काव्य के पठन से किसका बोध होता है?
(क) भाषा (ख) अक्षर (ग) शुद्धता (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) अक्षर

प्र.9. 'रिचर्ड्स ने इमोशन और एटीट्यूड के बीच वही संबंध माना है, जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है'–यह कथन किसका है?
(क) डॉ० नगेन्द्र (ख) डॉ० हरिवंशराय बच्चन
(ग) डॉ० गणपति चंद्र (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) डॉ० गणपति चंद्र

प्र.10. 'पेरिइप्सुस' के आधार पर 'काव्य में उदात्त तत्त्व' की अवधारणा का प्रवर्तन किसने किया?
(क) अरस्तू (ख) लौंजाइनस (ग) टी.एस. इलियट (घ) आई.ए. रिचर्ड्स
उत्तर (ख) लौंजाइनस

प्र.11. नई समीक्षा के जन्मदाता कौन माने जाते है?
(क) इलियट (ख) कॉलरिज (ग) क्रोचे (घ) वर्ड्सवर्थ
उत्तर (क) इलियट

प्र.12. वर्ड्सवर्थ ने काव्य का प्रतिपाद्य माना है–
(क) जन साधारण का जनजीवन और प्रकृति को (ख) पौराणिक कथा और ज्ञान को
(ग) नायक के चरित्र निर्माण को (घ) ऐतिहासिक आख्यान को
उत्तर (क) जन साधारण का जनजीवन और प्रकृति को

प्र.13. इनमें अरस्तू के अनुकरण से संबंधित कौन सा कथन गलत है?
(क) अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावनापूर्ण अनुकरण से है।
(ख) अनुकरण भी एक सर्जन-क्रिया है।
(ग) अनुकरण के संबंध में प्लेटो और अरस्तू के मत में कोई अंतर नहीं है।
(घ) अनुकरण को नया अर्थ प्रदान कर अरस्तू ने कला का स्वतंत्र अस्तित्त्व स्थापित किया।
उत्तर (ग) अनुकरण के संबंध में प्लेटो और अरस्तू के मत में कोई अंतर नहीं है।

प्र.14. 'चित्रकार अथवा किसी अन्य कलाकार की ही तरह कवि भी अनुकर्त्ता है' कथन है–
(क) रिचर्ड्स (ख) प्लेटो
(ग) अरस्तू (घ) इलियट
उत्तर (ग) अरस्तू

TOUCH 'n' PASS

प्र.15. किसी वस्तु के तीन रूप आदर्श, वास्तविक व अनुकरणात्मक निम्न में से किसने माने हैं?

(क) अरस्तू (ख) जॉन लॉक
(ग) प्लेटो (घ) इलियट

उत्तर (क) अरस्तू

प्र.16. 'उदात्तता साहित्य के सब गुणों से महान है, यह वह गुण है जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है।' किसका कथन है–

(क) क्रोचे (ख) लौंजाइनस (ग) इलियट (घ) वर्ड्सवर्थ

उत्तर (ख) लौंजाइनस

प्र.17. लिरिकल बैलेड्स 1798 ई. किसकी रचना है–

(क) इलियट (ख) वर्ड्सवर्थ (ग) रूसो (घ) वाल्टेयर

उत्तर (ख) वर्ड्सवर्थ

प्र.18. 'काव्य रचना के पीछे कलात्मक प्रेरणा न होकर दैवी प्रेरणा होती है।' किस विद्वान का कथन है?

(क) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) इलियट (घ) तेन

उत्तर (क) प्लेटो

प्र.19. अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के सिद्धांतों की निम्न में से क्या खण्डन नहीं किया है?

(क) साहित्य अनुकरण नहीं अपितु नवीन सर्जना करता है।
(ख) कविता में इतिहास की अपेक्षा अधिक सार्वभौमिक व व्यापक होता है।
(ग) साहित्य वासनाओं का संपोषण नहीं विरेचन करता है।
(घ) उपरोक्त सभी

उत्तर (घ) उपरोक्त सभी

प्र.20. लौंजाइनस को प्रथम स्वच्छन्दतावादी या सौन्दर्यवादी समीक्षक किसने कहा है?

(क) जेम्स स्काट (ख) जेम्स बॉन्ड
(ग) हेनरी (घ) स्कॉट वाल्टर

उत्तर (क) जेम्स स्काट

प्र.21. 'हमें अरस्तू का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए, बल्कि उसकी विवेकपूर्ण समीक्षा करके ही उसके मतों को स्वीकार करना चाहिए।' किसका कथन है?

(क) विवेस (ख) हेनरी स्वीट
(ग) वाल्ट बेयर (घ) किंग्स टीन

उत्तर (क) विवेस

प्र.22. लौंजाइनस के 'उदात्त' में सम्मिलित है–

(क) भावावेश की तीव्रता (ख) अलंकार मुक्त काव्य
(ग) वंचित सहानुभूति (घ) अत्यधिक शब्दाडम्बर

उत्तर (क) भावावेश की तीव्रता

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-VI

हिन्दी आलोचना का इतिहास तथा सैद्धांतिकी

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सैद्धांतिक आलोचना से क्या तात्पर्य है?

उत्तर सैद्धांतिक आलोचना में शास्त्रीय मानदंडों को निश्चित किया जाता है। यहाँ एक ही प्रकार की अनेक कृतियों का अध्ययन कर शास्त्रीय मानदंडों के रुप में जब किन्ही सामान्य नियमों की स्थापना की जाती हैं, तब उस आलोचना को सैद्धांतिक आलोचना कहा जाता है।

प्र.2. सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में क्या अंतर है?

उत्तर आलोचना के दो प्रकार होते हैं—सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। सैद्धांतिक आलोचना वह है, जिसमें किसी सिद्धांत के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन/विश्लेषण किया जाता है। व्यावहारिक आलोचना में किसी कृति का मूल्यांकन सिद्धांत के अनुप्रयोग द्वारा करते हैं।

प्र.3. सैद्धांतिक आलोचना के जनक कौन है?

उत्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना आचार्य शुक्ल जी ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ की हैं।

प्र.4. सैद्धांतिक साहित्य क्या है?

उत्तर सैद्धांतिक साहित्य यह पता लगाने में मदद करता है कि किसी शोध में कौन से सिद्धांत पहले से मौजूद हैं। नई परिकल्पना विकसित करने के लिए इन सिद्धांतों की किस हद तक जांच की गई है। जबकि अनुभवजन्य साहित्य क्षेत्र से एकत्र किए गए डेटा यानी किसी विशेष शोध अध्ययन में प्रयोगात्मक डेटा पर आधारित साहित्य है।

प्र.5. सैद्धांतिक रूपरेखा और साहित्य समीक्षा में क्या अंतर है?

उत्तर एक साहित्य समीक्षा अध्ययन प्रश्न से जुड़े वर्तमान और प्रासंगिक शोध की जाँच करती है। यह व्यापक, आलोचनात्मक और उद्देश्यपूर्ण है। एक सैद्धांतिक रूपरेखा अध्ययन की घटना और शोधकर्त्ता द्वारा अपनाई गई संबंधित मान्यताओं पर प्रकाश डालती है। फ्रेमवर्क अलग-अलग ओरिएंटेशन ले सकते हैं।

प्र.6. हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक कौन हैं?

उत्तर प्रमुख आलोचक कृष्णलाल, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० विनय मोहन शर्मा, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, इलाचन्द्र जोशी, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय।

प्र.7. मार्क्सवादी आलोचक कौन-कौन से हैं?

उत्तर मार्क्सवाद से कवि शिवदान सिंह चौहान का है। शिवदान सिंह चौहान प्रथम मार्क्सवादी आलोचक के रूप में विख्यात हैं।

प्र.8. मार्क्सवादी आलोचना क्या है?

उत्तर इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचना वर्ग, सामाजिक आर्थिक स्थिति, समाज के विभिन्न वर्गों के बीच शक्ति संबंधों और उन वर्गों के प्रतिनिधित्व पर जोर देती है। मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना मूल्यवान है, क्योंकि यह पाठकों को किसी पाठ के कथानक में वर्ग की भूमिका को देखने में सक्षम बनाती है।

TOUCH 'n PASS

प्र.9. मार्क्सवादी आलोचना उदाहरण क्या है?

उत्तर जबकि अन्य साहित्यिक समीक्षाएँ पात्रों की अंत:क्रियाओं या केवल पाठ में क्या है, की ओर इशारा करती हैं, मार्क्सवादी आलोचनाएँ इस बात पर ध्यान केंद्रित करती हैं कि समाज को कैसे चित्रित किया जाता है। जैसे कि द हंगर गेम्स में कैसे जिले राजधानी के खिलाफ उठते हैं या कैसे द एडवेंचर्स ऑफ हकलबेरी फिन में हक और जिम एक निषिद्ध बंधन बनाते हैं।

प्र.10. मार्क्सवादी विचारधारा के जनक कौन हैं?

उत्तर मार्क्सवाद के जनक जर्मनी के कालजयी महान विचारक कार्ल मार्क्स का 200वां जन्मदिन जर्मनी के महान विचारक, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, राजनीतिक सिद्धांतकार, समाजशास्त्री, पत्रकार और क्रांतिकारी कार्ल मार्क्स का आज यानी पाँच मई को 200वां जन्मदिन है।

प्र.11. आलोचनात्मक साहित्य समीक्षा सैद्धांतिक विश्लेषण और वैचारिक विश्लेषण में क्या अंतर है?

उत्तर एक साहित्य समीक्षा किसी विषय पर मौजूदा शोध का एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण है, जो आपको अपने अध्ययन के लिए अंतराल, विरोधाभास और अवसरों की पहचान करने में मदद करती है। एक वैचारिक ढाँचा एक सैद्धांतिक मॉडल है जो बताता है कि आपके शोध प्रश्न, चर और विधियाँ कैसे संबंधित हैं।

प्र.12. आधुनिक आलोचना के जनक कौन थे?

उत्तर वस्तुत: भारतेन्दु-युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज-रूप में सुरक्षित है तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का है।

प्र.13. मनोविश्लेषण वादी आलोचना क्या है?

उत्तर फ्रायड के चिंतन से प्रभावित होकर मनोविश्लेषणवादी आलोचना की नींव पड़ी जिसे फ्रॉयड के साथ-साथ एडलर और यंग ने अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ाया। शरीर से अलग मन और मानसिक व्यापारों का अध्ययन संभव ही नहीं है।

प्र.14. मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत की आलोचना क्यों की जाती है?

उत्तर वे मरीजों को अपने विचार बताने और उनके द्वारा विकसित सिद्धांतों पर खुद को पेश करने के लिए फ्रॉयड की आलोचना करते हैं। उनके सिद्धांतों को 'अत्यधिक सामान्यीकृत' होने और 'अत्यधिक और पूर्ण सूत्रीकरण' प्रदान करने के लिए आलोचना की गई थी।

प्र.15. आप मनोविश्लेषणात्मक आलोचना को साहित्य में कैसे लागू करते हैं?

उत्तर एक मनोविश्लेषणात्मक पाठन का उद्देश्य चिंता, आघात, कामुकता, अचेतन का दमन और स्वप्न के अर्थ, साथ ही मृत्यु के अर्थ जैसे रोजमर्रा के मानवीय अनुभवों से अर्थ की संकल्पना करके मानव व्यवहार की आंतरिक कार्यप्रणाली को बेहतर ढंग से समझना है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. हिन्दी आलोचना के विकास पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

हिंदी आलोचना का विकास

हिंदी आलोचना का प्रारंभ भी गद्य की अन्य विधाओं के साथ ही साथ भारतेंदु युग यानी आधुनिक युग से हुआ है। इस युग में मुद्रण कला का विकास हुआ, राजनीतिक जागृति आयी और पत्र-पत्रिकाओं का लगातार प्रकाशन हुआ। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से लोगों को नयी-नयी जानकारियाँ मिलीं। स्कूल-कालेजों में हिंदी पढ़ायी जाने लगी। अध्यापकों को साहित्य सृजन की नवीन प्रेरणा मिली, जिसके फलस्वरूप गद्य में पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे गद्य की तमाम विधाओं का विकास हुआ। गद्य का विकास भी आधुनिक आलोचना के उद्भव और विकास का सहायक कारण बना। आलोचना के विकास में पाश्चात्य साहित्य और बौद्धिक जागृति प्रधान कारण थे। उस समय एक-एक विषय पर इतनी पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं कि सबको पढ़ना संभव न था। अत: पाठक अच्छी पुस्तकों की उपादेयता को आंकने लगा। इसी से उसमें आलोचना की प्रवृत्ति पैदा हो गयी।

हिंदी साहित्य को युगीन परिस्थितियों ने नये आयाम और नये संदर्भ दिये, फलत: आलोचना के पुराने मानदंड अपर्याप्त दिखायी देने लगे और पाश्चात्य समीक्षा साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके हिंदी आलोचना ने नये युग में प्रवेश किया। आलोचना के प्रारंभिक काल में निंदा-स्तुति की अधिकता रही। भारतेंदु काल की आलोचना में भी यही हुआ। इस युग के बाद पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के

TOUCH 'n PASS

प्रयत्नों से हिंदी आलोचना का स्वरूप कुछ और अधिक व्यवस्थित और सुनियोजित हुआ। हिंदी आलोचना में विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसलिये हिंदी आलोचना के विकास के केंद्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मानते हुए हम उसे तीन युगों में बांट सकते हैं—

1. शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना (1850 से 1920 ई.)
2. शुक्ल युगीन हिंदी आलोचना (1920 से 1940 ई.)
3. शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना (1940 से आज तक)।

प्र.2. शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना अपने युग के प्रभावों को ग्रहण करती हुई विकसित होती रही। दो विश्व युद्धों का विनाशकारी प्रभाव पश्चिमी देशों में दिखायी पड़ने लगा था। यूरोप में वैज्ञानिकता और भौतिकता के व्याप्त होने से नैतिक मूल्यों का विघटन होने लगा था। वहाँ भोगवादी और अर्थवादी मूल्यों को महत्त्व दिया जाने लगा। फ्रायडवादी, मार्क्सवादी और अस्तित्त्ववादी विचारधारा का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य पर पड़ने लगा। विश्वव्यापी इन चिंतन धाराओं से भारत भी अछूता नहीं रह सका। भारत के जीवन में भी नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का कुछ सीमा तक विघटन हुआ। फलस्वरूप साहित्य में संघर्ष चेतना की अभिव्यक्ति के लिये तरह-तरह के प्रयोग किये जाने लगे। हिंदी आलोचना भी उन्हीं के अनुरूप ढलती गयी और शुक्लोत्तर युग में आलोचना अनेक धाराओं में विकसित हुई—

1. स्वच्छंदतावादी समीक्षा
2. ऐतिहासिक समीक्षा
3. मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा
4. मार्क्सवादी आलोचना
5. नयी समीक्षा।

प्र.3. हिन्दी साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

मनोविश्लेषणात्मक आलोचना (समीक्षा)

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा के सिद्धांत के अनुसार काव्य-सृजन कवि के सामाजिक दायित्व का परिणाम नहीं, वरन् उसकी प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित है। काव्य के पात्र, वर्ण्य-विषय, शैली आदि सभी वस्तुओं पर दमित इच्छाएं अथवा प्रभुत्व की कामना और जीवित रहने की इच्छा की अभिव्यक्ति ही कला-कृति के स्वरूप का निर्धारण करती है। इस तरह मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा में कलाकार के व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गयी। अत: रचना को ठीक-ठीक समझने के लिए रचनाकार के व्यक्तित्त्व को समझना आवश्यक समझा गया।

दरअसल पश्चिमी आलोचक फ्रायड, एडलर और यंग ने साहित्य प्रेरणा के तीन सिद्धांतों की चर्चा की—काम-वासना (दमित इच्छाएं), प्रभुत्व की कामना तथा जीवित रहने की इच्छा। इन सिद्धांतों ने पश्चिमी जगत में तहलका मचा दिया। इसने हिंदी साहित्य को भी प्रभावित किया। हिंदी में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' और पं. इलाचंद्र जोशी. के उपन्यास इसी विचारधारा से प्रभावित हैं।

यूँ तो मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-शैली के दर्शन शुक्लजी से लेकर परवर्ती काल के सभी आलोचकों में होते हैं। पर मनोविश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएं हिंदी में कम हैं। नगेंद्र जी ने मनोविश्लेषणवादी साहित्य सिद्धांतों के आधार पर हिंदी साहित्य का थोड़ा-बहुत मूल्यांकन भी किया है लेकिन वे मूलत: नूतन रसवादी हैं। मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के क्षेत्र में अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और देवराज उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'—अज्ञेय जी ने विशेषत: एडलर (प्रभुत्व कामना) को अपनाया। इनका समन्वित रूप ही उन्होंने ग्रहण किया। उन्होंने अपने 'त्रिशंकु ' नामक निबंध संग्रह में 'प्रभुत्व कामना' और 'क्षतिपूर्ति' के सिद्धांतों को स्पष्ट किया। अज्ञेय जी ने 'त्रिशंकु' के निबंध 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' में लिखा है—'हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है, उसे एक नयी उपयोगिता सिखायी है। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा। पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी।'

उल्लेखनीय है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा के साथ-साथ अज्ञेय जी ने बाद में नयी समीक्षा का सूत्रपात किया।

पं. इलाचंद्र जोशी—जोशी जी के कला-विवेचन में भी फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों का उपयोग हुआ। जोशी जी ने काव्य का चरम लक्ष्य सौंदर्य माना, जिसमें मंगल भावना भी निहित है। वे मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का उद्देश्य यह अध्ययन करना मानते हैं कि किस कलाकार के व्यक्तित्त्व में स्वस्थ साहित्य सृजन की कितनी क्षमता है और कैसे है। इस तरह जोशी जी ने सामंजस्य के सिद्धांत पर बहुत जोर दिया। काव्य का उद्देश्यं वे जीवनी-शक्ति प्रदान करना मानते हैं। इसलिए छायावाद की विलासिता और पलायनवादी प्रवृत्ति के तथा प्रगतिवाद के मग्न यथार्थ के घोर विरोधी रहे। जोशी जी ने 'साहित्य-सर्जना' (1940 ई.), 'विवेचना' (1948 ई.), 'साहित्य संतरण' (1953 ई.), 'विश्लेषण' (1954 ई.), और 'साहित्य-चिंतन' (1955 ई.) में संगृहीत निबंधों में मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी।

प्र.4. साहित्य में सैद्धांतिक आलोचना पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

साहित्य में सैद्धांतिक आलोचना

इस आलोचना में साहित्य के सिद्धांतों पर विचार होता है। इसमें प्राचीन शास्त्रीय काव्य के अंगों, जैसे—रस, अलंकार आदि और साहित्य की आधुनिक मान्यताओं तथा नियमों की मुख्य रूप से विवेचना की जाती है। सैद्धांतिक आलोचना में विचार का बिन्दु यह है कि साहित्य का मानदंड शास्त्रीय है या ऐतिहासिक। मानदंड का शास्त्रीय रूप, स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है। किन्तु मानदंडों को ऐतिहासिक श्रेणी मानने पर उनका स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है। इन दोनों प्रकार की सैद्धांतिक आलोचनाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु अब उसी सैद्धांतिक आलोचना का महत्त्व अधिक है, जो साहित्य के तत्त्वों और नियमों की ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रगतिशील होती है।

सैद्धांतिक आलोचना एक प्रकार से काव्यशास्त्र का ही दूसरा नाम है, लेकिन यह आलोचना का केवल एक पक्ष है। केवल सिद्धांत विवेचन आलोचना नहीं है, और न ही बने-बनाये सिद्धांतों के आधार पर सदा साहित्य-समीक्षा की जा सकती है। समय और परिस्थितियों के अनुसार, ये सिद्धांत और उनके बंधन बदलते और टूटते रहते हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में बहुत से दृश्यों और प्रसंगों का निषेध किया था, परंतु आज के नाटकों में वे निषिद्ध प्रसंग मौजूद हैं। किसी समय धीरोदात्तता नायक का अनिवार्य गुण था, किंतु आज यह अप्रासंगिक है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. शुक्ल पूर्व हिन्दी आलोचना का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना

हिंदी आलोचना की विधिवत् शुरुआत भारतेंदु युग से हुई थी। किंतु इससे पहले भी भक्ति और रीति युग में आलोचना के क्षेत्र में अनेक प्रयास दिखायी पड़ते हैं। अत: शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना के विकास को दरअसल तीन युगों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा—

1. भारतेंदु पूर्व हिंदी आलोचना
2. भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना
3. द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना

1. **भारतेंदु पूर्व हिंदी आलोचना**—भारतेंदु से पूर्व भक्ति और रीति युग में आलोचना के क्षेत्र में प्रयास हुए हैं। भक्ति काल में भक्ति का प्रभाव इतना प्रबल है कि वहाँ अलग से काव्य-सिद्धांतों की चर्चा प्राय: नहीं हुई है। भक्त कवियों के लिये काव्य रचना ईश्वर भक्ति का साधन है इसलिये जहाँ ईश्वर है वहाँ उत्तम काव्य भी है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा भक्तिकाल के ये सभी भक्त कवि इसी आदर्श को मानते हैं। यद्यपि तुलसीदास ने 'सुरसरि सम सब कहं हित होई' तथा 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' कह कर काव्य के प्रति अपनी सजगता भी प्रकट की है। वैसे इस काल में भक्तों के जीवन, विचार, भक्ति से परिचित कराने वाले ग्रंथ लिखे जाने लगे थे जिन्हें 'वार्ता-साहित्य' के नाम से जाना जाता है। भक्त कवियों की कविता के संबंध में भी कहीं-कहीं विचार हुआ हैं। काव्य के वर्ण्य-विषय और शैली संबंधी विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य के जन-साधारण पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उल्लेख हुआ है, किंतु इनमें प्रशंसात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। 'भक्तमाल' में सूर के संबंध में इसी तरह विचार किया गया है।

TOUCH 'n' PASS

उक्ति चोज अनुप्रास बरन—अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्बाह अर्थ अद्‌भुत तक धारी।।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुण रूप रसना पर कासी।। (भक्तकाल पृष्ठ 161)

इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने सूर की भक्ति और कविता पर प्रसंगवश जो कुछ भी कहा है, उसमें आलोचना के तत्त्व निहित हैं।

रीतिकाल में मौलिक विचारों की प्रवृत्ति तो है किंतु गूढ़ चिंतन और विषय के शास्त्रीय एवं यथार्थ ज्ञान का अभाव है। इसका कारण यही हो सकता है कि उस काल में गद्य रचना की पुष्ट परंपरा नहीं थी। रीतिकाल का कवि पहले काव्य के अंगों का लक्षण देता था और बाद में स्वरचित कविताओं को उदाहरण स्वरूप रख देता था। कुछ आचार्यों ने अपने काल के अन्य कवियों की कविताओं का भी उदाहरणों में उपयोग किया है। इस काल में रीति-ग्रंथ बहुत लिखे गये। आचार्यों ने प्राय: काव्य के सभी अंगों पर स्थूल रूप से विचार प्रकट किये। इस युग में संस्कृत समीक्षा शास्त्र की कई शैलियों का अनुकरण किया गया। अनेक कवियों का काव्य शास्त्रीय विवेचन तो आचार्यत्व की कोटि तक पहुँच गया। ऐसे कवियों में प्रमुख हैं—आचार्य केशवंदास, चिंतामणि, कृपाराम, पद्माकर, भिखारीदास, देव, घनानंद, मतिराम, बिहारी आदि। इनमें आलोचना की दो विशिष्ट धाराओं को देखा जा सकता है—अलंकारवादी तथा रसवादी।

अलंकारवादी धारा के प्रवर्त्तक केशवदास हैं तो रसवादी धारा के प्रवर्त्तक देव, मतिराम और बिहारी।

हिंदी साहित्य के सर्वप्रथम आचार्य केशवदास माने जाते हैं। संस्कृत के अच्छे विद्वान होने के कारण उन्होंने अलंकार शास्त्र का निरूपण हिंदी में सफलता पूर्वक किया। उन्होंने 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' में अलंकार शास्त्र के प्राय: सभी विषयों का प्रतिपादन किया। 'रसिक प्रिया' का विषय रस है, इसमें शृंगार को ही प्रधानता दी गयी है। केशवदास रचित 'रामचंद्रिका' छंदों, अलंकारों और अन्य काव्य-अंगों के उदाहरणों का संग्रह है, साथ ही इसके माध्यम से कवि ने प्रबंध काव्य के शास्त्रीय रूप का भी एक उदाहरण हिंदी साहित्य के सामने रखा है।

चिंतामणि, कुलपति, श्रीपति, दास और प्रतापसिंह जैसे आचार्यों ने संस्कृत समीक्षा के अनुकरण पर ग्रंथों की रचना की। ये सभी आचार्य अलंकारवादी धारा के प्रतिनिधि हैं। इस धारा में चिंतामणि रचित 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य विवेक' सेनापति का . 'काव्य कल्पद्रुभ', श्रीपति का 'काव्य सरोज', प्रताप सिंह कृत 'काव्यविलास' तथा देव रचित ' शब्द रसायनं' उल्लेखनीय हैं। कवि देव मुख्यत: रसवादी धारा के हैं लेकिन अलंकार शैली में भी उन्होंने रचना की है। रसवादी धारा के आचार्यों ने शृंगार रस और नायिका भेद को प्रधानता दी। इस शैली की विशेष उल्लेखनीय पुस्तकें हैं—केशवदास की 'रसिक प्रिया', देव कृत 'भावविलास', 'रस विलास', दास की 'रस निर्णय', पद्माकर रचित 'जगद्विनोद', मतिराम की 'रसराज' तथा बिहारी की 'बिहारी सतसई'।

रीतिकाल में पद्यबद्ध टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। इनकी विशेषता आलोच्य वस्तु के अर्थ को अधिक स्पष्ट करना है किंतु काव्य में निहित सौंदर्य का निर्देश नहीं हुआ है। हां, राजस्थान की कृति 'क्रिसन रूक्मिणी री बेलि' की कई टीकाएँ लिखी गयी हैं। इनमें अलंकार निर्देश और काव्य सौष्ठव का विश्लेषण हुआ है। कुछ टीकाएँ राजस्थानी गद्य में भी लिखी गयीं।

रीतिकाल के कुछ आचार्यों ने ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी किया लेकिन गद्य का सम्यक विकास उस समय तक न होने के कारण अधिक सफलता नहीं मिल सकी। वंशीधर और दलपति ने केशव, गंग, बिहारी, मतिराम आदि के छंदों के उदाहरण दिये और अलंकार' युक्त अंशों का निर्देश कर दिया। इन्होंने भी गद्य का प्रयोग किया। रीतिकालीन समीक्षा के आदर्श के अनुकूल शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़ उदाहरण है सरदार कवि कृत 'मानस रहस्य'। यह ग्रंथ सूत्र-शैली में लिखा गया है तथा सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं का इसमें सुंदर प्रयोग हुआ है। इसमें रामचरितमानस की व्याख्या की गयी है। कहीं-कहीं गद्य में भी विवेचन किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'निज कर भूसन राम बनाये, सीताहि पहिराये प्रभुसादर' 'यहाँ राम जानकी परस्पर आलंबन, विभाव कटाक्षादि, अनुमान हर्ष संचारी, रति स्थायी यामे शृंगार है।

आलोचना का आधार युगीन साहित्यिक अपेक्षाएं होती हैं। भक्तिकालीन और रीतिकालीन आलोचना के मानदंड आधुनिक साहित्य की आलोचना के लिये पर्याप्त न थे। अत: आलोचना को विकसित करना जरूरी हो गया। अब देखें भारतेंदु युग में आलोचना का क्या स्वरूप रहा।

TOUCH 'n PASS

2. **भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना**—भारतेंदु युग जन-जागरण का युग था। इस युग में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्य, दर्शन और चिंतन के क्षेत्र में समस्त भारतीय जन-मानस में एक नवीन क्रांति आयी। इस युग के साहित्य में वैचारिक अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम गद्य ही हो सकता था। अत. गद्य की अनेक विधाएं नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध की तरह आलोचना का भी विकास हुआ। साहित्य का उपयोगितावादी दृष्टिकोण स्वीकार किया जाने लगा। साहित्य में सुरूचि, नैतिकता और बौद्धिकता को प्रधानता मिलने लगी। भारतेंदु युग की आलोचना में इन्हीं तीन तत्त्वों को प्रमुखता दी गयी। राष्ट्र-प्रेम इस काल के साहित्य की प्रधान विशेषताओं में है। अत: आलोचनाओं में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया गया। जुलाई-अगस्त सन् 1898 ई. में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के एक उपन्यास की आलोचना हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर की गयी है जिसमें जातियों के पारस्परिक मेल का समर्थन किया गया है।

भारतेंदु युग में अधिकांश आलोचनाएं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही विकसित होती रहीं। 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'भारत मित्र', 'सार सुधा निधि', 'ब्राह्मण' आदि पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखित लेख और टिप्पणियों से आलोचना दृष्टि का विकास हुआ। इस युग में एक ओर जहाँ पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक राष्ट्रीय हित एवं समाज कल्याण को दृष्टि में रखकर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन मूल्यों में विश्वास करने वाले कुछ विद्वान पिंगल, नायिका भेद, रस निरूपण और अलंकार विवेचन में लगे हुए थे। डॉ० नगेंद्र के अनुसार, इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं की प्रधानता रही—

(i) रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परंपरा की सैद्धांतिक आलोचना।

(ii) ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली—गद्य में लिखी गयी टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना।

(iii) इतिहास ग्रंथों तथा कवि-परिचय के रूप में लिखी गयी आलोचना।

उदाहरण के लिए जगन्नाथ प्रसाद भानु कृत 'छंद प्रभाकर' (1894 ई.) और जगन्नाथ दास रत्नाकर रचित 'घनाक्षरी-नियम रत्नाकर' (1897 ई.) इस युग में रचित उल्लेखनीय पिंगल ग्रंथ हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकार ग्रंथ हैं—लछिराम कृत 'रावणेश्वर कल्पतरु' (1892 ई.) और बिहारी लाल रचित 'अलंकारदर्श' (1897 ई.)। रस ग्रंथों में साहब प्रसाद सिंह रचित 'रस रहस्य' (1887 ई.) और प्रतापनारायण सिंह का 'रस कुसुमाकर' (1894 ई.) उल्लेखनीय हैं। इसमें लक्षण खड़ी बोली गद्य में दिये गये हैं। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को ध्यान में रखकर लिखा गया जानकी प्रसाद का ग्रंथ 'काव्य सुधाकर' (1886 ई.) उल्लेखनीय है।

द्वितीय वर्ग की आलोचनाओं में टीकाएँ हैं, जिनमें कुछ प्रमुख हैं—'बिहारी सतसई' पर की गयी लल्लू लाल जी की टीका 'लाल चंद्रिका' (1819 ई.) जो ब्रजभाषा प्रभावित खड़ी बोली गद्य में है तथा 'बिहारी सतसई' पर ही प्रभुदयाल पांडेय ने भी 1896 ई. में खड़ी बोली गद्य में एक अच्छी टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कहीं-कहीं काव्य गुणों के संकेत मिल जाते हैं।

तृतीय वर्ग के अंतर्गत दो इतिहास ग्रंथ इस काल में लिखे गये—शिव सिंह सेंगर रचित 'शिवसिंह सरोज' (1878 ई.) और जार्ज ग्रियर्सन लिखित 'द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नार्दन हिंदुस्तान' (1889 ई.) इन इतिहास ग्रंथों में दिये गये कवि परिचयों में आलोचना के तत्त्व नहीं के बराबर हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों और कवियों के आलोचनात्मक परिचय 'हिंदी प्रदीप' पत्रिका में प्रकाशित होते रहे।

दरअसल भारतेंदु युग में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं में ही आधुनिक आलोचना का रूप दिखायी पड़ता है। 'आनंद कादम्बिनी' पत्रिका की 'संयोगिता स्वयंवर' और 'बंग विजेता' तथा 'हिंदी प्रदीप' पत्रिका की 'सच्ची समालोचना' इस शैली के प्रौढ़ उदाहरण हैं।

भारतेंदु युग के मुख्य आलोचक हैं- भारतेंदु, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' और बालकृष्ण भट्ट।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र—भारतेंदु हरिश्चन्द्र को अन्य गद्य विधाओं के साथ ही आलोचना की विधिवत शुरुआत का श्रेय भी दिया जाता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र संबंधी महत्त्वपूर्ण कृति 'नाटक' (1883 ई.) की रचना कर आधुनिक हिंदी आलोचना का प्रारंभ किया। इस निबंध में लगभग साठ पृष्ठों में नाटक का शास्त्रीय विवेचन और इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यह निबंध यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर लिखा गया है किंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन नाट्य शास्त्र की जानकारी दी गयी है। साथ ही युग प्रवृत्ति का ध्यान रखकर प्राचीन जटिल शास्त्रीय नियमों से छूट लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।

TOUCH 'n PASS

'संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।'

भारतेंदु जी ने संस्कृत साहित्य से ब्रज साहित्य तक का गहन अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत और हिंदी के आचार्यों और कवियों–कालिदास, रामानुजाचार्य, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य तथा सूरदास पर जीवन वृत्तांतीय आलोचना प्रस्तुत की और जगह–जगह अपनी तुलनात्मक दृष्टि का भी परिचय दिया। इस प्रकार भारतेंदु ने अपने समकालीन लेखकों को आलोचना की ओर प्रवृत्त किया।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'—भारतेंदु मंडल के लेखकों में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने श्रीनिवासदास रचित 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक और गदाधर सिंह लिखित 'बंग विजेता' उपन्यास के हिंदी अनुवादों की विस्तृत आलोचना 'आनंद कादम्बिनी' पत्रिका में की थी। इसी से व्यावहारिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात माना जाता है। इन्होंने अपनी आलोचना में पुस्तक के गुण–दोषों का तटस्थ।

बालकृष्ण भट्ट—भट्ट जी ने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने संस्कृत के अनेक कवियों एवं आचार्यों–भवभूति, कालिदास, श्रीहर्ष क्षेमेन्द्र, वाराहमिहिर, आनंदवर्द्धन, भट्टनारायण, राजशेखर, बाणभट्ट, विल्हण, वाल्मीकि, व्यास गोवर्धनाचार्य और जयदेव के जीवन वृत्तांत प्रस्तुत करते हुए आलोचना लिखी और स्थान–स्थान पर उनकी साहित्यगत प्रवृत्तियों में साम्य–वैषम्य दर्शाकर अपनी तुलनात्मक दृष्टि का परिचय दिया। उनकी आलोचना का माध्यम 'हिंदी प्रदीप' पत्रिका थी जिसका सम्पादन वे स्वयं करते थे।

भट्ट जी ने सैद्धांतिक विवेचन का उपयोग व्यावहारिक आलोचना में किया है। वे रचना की समीक्षा के मानदंड का उल्लेख सिद्धांतों के रूप में पहले कर देते हैं, फिर उसी आधार पर कृति का मूल्यांकन करते हैं। भट्ट जी की 'सच्ची समालोचना' इसका सुंदर उदाहरण है। उन्होंने 'नीलदेवी', 'परीक्षा गुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' तथा 'एकांतवासी' आदि कृतियों पर जो व्यावहारिक आलोचनाएं लिखी हैं, वे उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी कवि के परिचय में तो तटस्थ, गंभीर और विश्लेषणात्मक हैं लेकिन पुस्तकों की आलोचना में कहीं–कहीं मीठी चुटकियाँ भी ले लेते हैं। उनकी शैली व्यंग्य–प्रधान है।

इस प्रकार भारतेंदु काल के समीक्षकों का ध्यान काव्य के अत्यंत बाह्य और स्थूल रूप पर ही था। काव्य के भीतर भाव–जगत में प्रविष्ट होकर उन्होंने विश्लेषण नहीं किया। लेकिन इतना जरूर है कि नयी समीक्षा के भावी विकास का पूर्वाभास भारतेंदु काल में मिलने लगा था। आगे द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना को नया और विस्तृत स्वरूप मिला।

3. **द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना**—'हिंदी आलोचना को विकसित करने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान सराहनीय है। उन्हीं की देखा–देखी द्विवेदी युग के अन्य लेखक भी आलोचना की ओर अग्रसर हुए। द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना में धीरे–धीरे अधिक तर्क शक्ति, विचार क्षमता और सद्विवेकिनी शक्ति ने प्रवेश करना शुरू किया। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों के अध्ययन और चिंतन के फलस्वरूप आलोचना की दृष्टि बहुत कुछ वैज्ञानिक होने लगी। पुस्तकीय समीक्षा से परे हिंदी आलोचना की कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ द्विवेदी युग में विकसित हुई। इस युग में 'सरस्वती' के अतिरिक्त 'माधुरी', 'वीणा', 'विशाल भारत' 'साहित्य समालोचक', 'मर्यादा' आदि पत्रिकाओं ने आलोचना के विकास में बहुत योगदान दिया। द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना के पाँच रूप मिलते हैं—

(i) शास्त्रीय आलोचना
(ii) तुलनात्मक आलोचना
(iii) अनुसंधानपरक आलोचना
(iv) परिचयात्मक आलोचना
(v) व्याख्यात्मक आलोचना

प्रथम वर्ग की शास्त्रीय आलोचना में संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर लक्षण–ग्रंथ लिखने की परंपरा है जो रीतिकाल से चली आ रही थी। इस प्रकार की आलोचनाओं में जगन्नाथ प्रसाद भानु कृत 'काव्य प्रभाकर' (1910 ई.) तथा 'छंद सारावली' (1917 ई.) और लाला भगवानदीन रचित 'अलंकार मंजूषा' (1916 ई.) महत्त्वपूर्ण हैं। जगन्नाथ प्रसाद ने अंग्रेजी में भूमिका लिखी है और हिंदी के पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दिये हैं। लाला भगवानदीन ने हिंदी अलंकारों की समुचित जानकारी देने के साथ ही साथ फारसी, अरबी और अंग्रेजी अलंकारों का भी उल्लेख किया है।

TOUCH 'n PASS

तुलनात्मक आलोचना द्विवेदी युग की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। इस क्षेत्र में पं. पद्मसिंह शर्मा का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा 1907 ई. में तुलनात्मक आलोचना का आरंभ किया। मिश्र बंधुओं (पं. गणेश बिहारी, श्याम बिहारी तथा शुक्रदेव बिहारी) द्वारा रचित 'हिंदी नवरत्न' (1910 ई.) में भी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया। लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

अनुसंधान परक आलोचना का विकास 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका (1897) के प्रकाशन से हुआ। शोधपरक आलोचना के उल्लेखनीय आलोचक हैं—मिश्र बंधु, श्यामदास, जगन्नाथ, दास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी। मिश्र बंधु रचित 'मिश्र बंधु-विनोद' (1913 ई.) में कवियों के जीवन-वृत्तों के साथ उनकी कृतियों की जानकारी तथा उनके काव्य के संबंध में अपना मत प्रकट किया गया। आगे चलकर चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने जयपुर से 'समालोचक' (1902 ई.) पत्र निकाला जो मुख्यत: आलोचना का पत्र था। इस पत्र से हिंदी आलोचना का स्तर ऊँचा हुआ।

परिचयात्मक आलोचना में 'सरस्वती' के माध्यम से स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखी गयी आलोचनाएं हैं। द्विवेदी जी ने विषय विवेचन के साथ ही भाषा संबंधी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। यह कार्य उन्होंने अपनी समालोचना द्वारा ही किया। उन्होंने 'समालोचना-समुच्चय' नाम से अलग से भी अपना एक निबंध संग्रह प्रकाशित किया जिसमें ज्ञान-विज्ञान तथा प्राचीन काव्य से संबंधित उनके कई महत्त्वपूर्ण लेख संग्रहीत हैं। उन्होंने अपनी आलोचना में उन्हीं कृतियों को महत्त्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावना फैला रही थीं। द्विवेदी जी संस्कृत के कालिदास, भवभूति, भक्तिकाल के सूर तुलसी तथा आधुनिक हिंदी के भारतेंदु तथा मैथिलीशरण गुप्त के प्रशंसक थे। उनका आलोचनात्मक ग्रंथ 'हिंदी कालीदास की आलोचना' (1901 ई.) हिंदी में आलोचना-साहित्य की किसी कवि पर पूरी तरह विचार करने वाली पहली पुस्तक मानी जाती है।

व्याख्यात्मक आलोचना में आलोच्य विषय की उपयोगिता को ध्यान में रखा जाता है तथा नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और सौंदर्यपरक मूल्यों के आधार पर विशद और गंभीर विवेचन किया जाता है। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' में 'नील देवी', 'परीक्षा गुरु' और संयोगिता स्वयंवर' की गंभीर आलोचना करके इस पद्धति को मजबूत किया। बालमुकुंद गुप्त ने 'हिंदी बंगवासी' में 'अश्रुमती' नामक बंगला नाटक के हिंदी अनुवाद (मुंशी उदित नारायण कृत) की आलोचना द्वारा इस परंपरा को आगे बढ़ाया। किंतु आलोचना की इस गंभीर शैली का पूर्ण विकास आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया।

इस तरह द्विवेदी युग में आलोचना के दो प्रतिमान मुख्य रहे-एक तो परंपरागत शास्त्रीय दृष्टि जिसके आधार पर आलोच्य कृति के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता था और उसे उत्कृष्ट या हीन बताया जाता था। दूसरी नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि जो आलोच्य कृति के प्रभाव को ध्यान में रखकर उसे श्रेष्ठ या हीन सिद्ध करती थी।

प्र.2. शुक्ल युगीन हिन्दी आलोचना का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

उत्तर

शुक्ल युगीन हिंदी आलोचना

वास्तव में हिंदी आलोचना का पूर्ण रूप शुक्ल युग में ही निखर पाया और इसका श्रेय इस युग के प्रमुख आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। शुक्ल युग से पूर्व दोष-दर्शन, गुणकथन, निर्णय और तुलना जैसे स्थूल तत्त्वों को प्रमुखता दी जाती थी पर आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना में विश्लेषण (Analysis), विवेचन (Interpretation) और निगमन (Induction) जैसे तत्त्वों को प्रमुखता दी जिनमें आलोचक की तटस्थता का तत्त्व भी निहित था। कवि विशेष के सामान्य गुण-दोष प्रकट करने के साथ ही उसके काव्य की मूल प्रवृत्तियों और उसमें निहित शाश्वत तत्त्वों की छानबीन भी की गयी। कृति को देशकाल सापेक्ष रखकर परखा गया और मानवीय मूल्यों को प्रमुखता दी गयी। इतना ही नहीं संस्कृत काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों के प्रकाश में नये पश्चिमी काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों को भी स्थान दिया गया। समीक्षा की इस नयी परिपाटी को जन्म देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही है इसीलिये इस युग को शुक्ल युग के नाम से अभिहित किया गया।

इस युग में समीक्षा के लिये जो मानदंड और शैली अपनायी गयी उनमें प्रमुख है—

1. सुरुचि और नैतिकता
2. शास्त्रीयता
3. कवि के व्यक्तित्त्व का अध्ययन

TOUCH n PASS

4. तुलना और निर्णय
5. देशकाल की समीक्षा

सुरुचि और नैतिकता—इस युग के आलोचकों ने साहित्य की नैतिक उपयोगिता को स्वीकार किया और वे कला में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा के हिमायती रहे। नीति के उपदेश की वृत्ति के अनुकूल इन आलोचकों ने मुक्तक और गीत की अपेक्षा महाकाव्य को अधिक महत्ता दी। इन आलोचकों ने माना कि साहित्य जीवन की व्याख्या है। साधारणीकरण का सिद्धांत भी उन्होंने स्वीकार किया। यही वजह रही कि इस युग में केशव, कबीर और रीतिकालीन कवियों का महत्त्व कम माना गया। जायसी की अपेक्षा कबीर के रहस्यवाद को तथा तुलसी की तुलना में सूर को कम आंका गया। हालांकि बाद में शुक्लजी ने सूर संबंधी अपनी मान्यताओं का खंडन किया।

शास्त्रीयता—इस कोटि की आलोचना की विशेषता है काव्य-शास्त्र के अनुसार चलना। इस युग के आलोचकों ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के तत्त्वों का उपयोग किया है लेकिन शुक्लजी की तरह वे समन्वय नहीं कर सके। उन्होंने रस, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का भी उपयोग किया तथा साथ ही कल्पना, अनुभूति आदि पाश्चात्य तत्त्वों को भी ग्रहण किया। बाबू श्यामसुंदर दास में भी दोनों परम्पराएँ अलग-अलग हैं (साहित्यालोचन)।

हिंदी में कहानियों, नाटकों उपन्यासों, और निबंधों पर इस युग में शास्त्रीय समालोचना बहुत कम हुई। उपन्यासों की आलोचना में वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, उद्देश्य आदि तत्त्वों का पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार हुआ है जैसे, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' रचित 'प्रेमचंद की उपन्यास कला'। कहानी और निबंधों के संग्रहों की भूमिकाओं में भी इन विधाओं की तात्विक समीक्षाएं हुई हैं। डॉ० श्रीकृष्ण लाल, शिलीमुख आदि के कहानी संग्रहों की भूमिकाएं इसके अच्छे उदाहरण हैं। वैधानिक समालोचना (जिसमें शास्त्रीय तत्त्वों का आरोप किया गया हो) का सबसे सुंदर उदाहरण पं. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा लिखित 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास' है जिसमें रस, अलंकार की दृष्टि से तो विचार किया ही गया है, पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों से भी जांचा-परखा है। इस युग में शास्त्रीय समीक्षा के कुछ अच्छे उदाहरण हैं। प्रेमनारायण टंडन का 'गोदान और गबन' डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', डॉ० सत्येन्द्र रचित 'प्रेमचन्द की कहानी कला'।

कवि के व्यक्तित्त्व का अध्ययन—शुक्ल युग के आलोचकों ने आलोच्य कवियों की रचनाओं के अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्त्व को समझने समझाने का प्रयत्न किया। वस्तु-विन्यास, रस-पद्धति, अलंकार नियोजन, चरित्र कल्पना, जीवन की व्याख्या आदि का विश्लेषण करके कवि की सामान्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन करना ही आलोचक का मुख्य ध्येय हो गया। इसके अतिरिक्त कवि की कृतियों के आधार पर उसी चिंतन-धारा का अध्ययन भी किया, जैसे डॉ० रामकुमार वर्मा लिखित 'कबीर' और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कृत 'निर्गुण सम्प्रदाय' संबंधी आलोचना।

शुक्ल युग में आलोचना की एक और पद्धति सामने आयी (मनोवैज्ञानिक) जिसमें कवि के व्यक्तित्त्व और कलाकृति में अभिन्न संबंध स्थापित किया गया। इस पद्धति में आलोचक कवि के व्यक्तित्त्व का वह अंश स्पष्ट कर देता है जिससे कवि को अपनी विशेष विचारधारा और भावात्मकता के लिये सामग्री और प्रेरणा प्राप्त हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसीदास' के विवेचन में इस पद्धति को अपनाया। डॉ० सत्येन्द्र ने 'गुप्त जी की कला' पर इसी दृष्टि से विचार किया।

इस युग में चरितमूलक आलोचना के भी फुटकर प्रयास हुए। इसमें कवि द्वारा कथित अंतरंग प्रमाणों के आधार पर जीवनी का अध्ययन किया जाता है।

तुलना और निर्णय—ये दोनों पद्धतियाँ आरंभ से ही चली आ रही थीं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियों पर इसी तरह की आलोचना हुई हैं। शुक्ल जी कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक मानते हैं पर उनमें प्रेम की व्यंजना नहीं मिलती अत: शुक्ल की दृष्टि से जायसी का रहस्यवाद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी है। लेकिन बाबू श्यामसुंदर दास को यह मान्य नहीं। इस प्रकार इन दोनों आलोचनाओं में तुलना और निर्णय स्पष्ट है। कृष्ण बिहारी मिश्र (देव और बिहारी) और भगवानदीन (बिहारी और देव) ने तुलनात्मक आलोचना पद्धति अपनायी।

देशकाल की समीक्षा—साहित्य को उसकी परिस्थितियों में रखकर आंकने की आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात शुक्ल जी ने ही किया। उन्होंने सूर, तुलसी आदि कवियों के महत्त्व को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर आंका। 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका में शुक्लजी ने हिंदी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं उन्होंने कवियों एवं काव्यधाराओं के देशकाल पर विचार किया। इस युग के आलोचकों ने भी इस ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का उपयोग किया। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भूषण की कविता को देशकाल की परिस्थितियों में रखकर उस पर विचार किया।

TOUCH 'n PASS

शुक्ल युग के प्रमुख आलोचक हैं गुलाबराय, बाबू श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना क्षेत्र में प्रवेश करते ही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया-साहित्यिक रुचि में परिवर्तन। इससे पूर्व हिंदी के आलोचक रीति साहित्य को ही उपयुक्त मानते थे। शुक्ल जी ने पूरी साहित्यिक परम्परा का पुनर्गठन किया। उन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से हिंदी कवियों का जो क्रमिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया, वह उनके समय की बदली रुचि का प्रमाण है। शुक्ल जी ने लोकमंगलकारी रूप को साहित्य के मूल्यांकन का आधार बनाया और पहली बार मूल्यांकन के मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उन्होंने प्राचीन भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों का गहन अध्ययन कर समन्वयवादी आलोचना सिद्धांतों की रचना की। शुक्ल जी ने 'कविता क्या है' (सरस्वती 1908), 'साहित्य' (सरस्वति 1914), 'काव्य में रहस्यवाद' आदि निबंधों से सैद्धांतिक समीक्षा का सूत्रपात किया। 'चिंतामणि' में संकलित निबंधों से उनके व्यापक अध्ययन और गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है।

शुक्ल जी ने हिंदी में पहली बार रस-विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। रस मीमांसा में रस के शास्त्रीय विवेचन की मौलिक व्याख्या की। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा तो माना, परन्तु रस की परम्परागत व्याख्या उन्हें मान्य नहीं थी। उन्होंने अपने रसवाद में अनुभूति को सर्वोपरि महत्त्व देकर उसे लोकमानस से जोड़ा। वे अनुभूति प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य समझते थे। उनकी अनुभूति आत्माभिव्यक्ति प्रधान अनुभूति से भिन्न थी। उनका मानना था कि 'लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।' इस प्रकार उन्होंने साधारणीकरण की पुन: प्रतिष्ठा की। रसवादी, नीतिवादी और लोकमंगलवादी होने के कारण शुक्ल जी ने तुलसी और जायसी के काव्य सौष्ठव का उद्घाटन किया, किन्तु कबीर, रीतिकाल और छायावाद के कवियों को उचित महत्त्व न दे सके। इसी तरह प्रबंध काव्य को उन्होंने श्रेष्ठ माना और मुक्तक काव्य तथा गीतात्मकता को उनका उतना समर्थन नहीं मिल पाया।

शुक्ल जी के आलोचक व्यक्तित्त्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी। व्यापक और सजग दृष्टि। अपने समय के हर साहित्यिक विवाद की तरफ उनका ध्यान जाता था। और वे अपनी राय भी देते थे। जितनी लगन से वे प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य का विवेचन करते थे। उतना ही ध्यान आधुनिक साहित्य और विषयों पर भी देते थे। तभी तो काव्य के अतिरिक्त अपने समय के गद्य साहित्य की सभी पद्धतियों और प्रवृत्तियों को समझ कर उन्होंने इतिहास में उसका विवेचन किया।

निबंध की विवेचना में उन्होंने लिखा—'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।'

आचार्य शुक्ल के प्रमुख ग्रंथ हैं—'जायसी ग्रंथावली' (1925 ई.), भ्रमरगीतसार (1926 ई.), 'गोस्वामी तुलसीदास' (1933 ई.), 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929 ई.)।

बाबू श्याम सुंदरदास—बाबू श्याम सुंदरदास का शुक्ल जी के समकालीन आलोचकों में प्रमुख स्थान है। इन्होंने भी आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बाबूजी ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में कार्य किया लेकिन शुक्ल जी की तरह वे दोनों का समन्वय नहीं कर सके। 'साहित्यालोचन' ग्रंथ की रचना उन्होंने एम.ए. के विद्यार्थियों को विषय की अधिकाधिक जानकारी देने के लिये की। इस ग्रंथ में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय करके साहित्य समीक्षा को उदार बनाया। बाबूजी का सिद्धांत प्रतिपादन शास्त्रीय एवं तर्क संगत है। उन्होंने कवियों की प्रामाणिक जीवनी अद्वितीय ढंग से प्रस्तुत की। उन्होंने रस और अलंकार के साथ-साथ उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि नवीन विधाओं का भी विवेचन किया। नाटक पर उन्होंने 'रूपक रहस्य' की रचना की

'कबीर ग्रंथावली की भूमिका', 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तथा 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', उनकी व्यावहारिक आलोचना के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त बाबूजी ने पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से आलोचनात्मक लेख भी लिखे। 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में तो उनके लेख बराबर ही प्रकाशित होते रहे। प्राचीन पुस्तकों के शोध कार्य का विवरण भी इसी पत्रिका के माध्यम से देते रहे जो कम महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार बाबूजी ने हिंदी के आलोचना शास्त्र को स्वतंत्र रूप से विकसित करने का प्रयत्न किया और इस दिशा में कार्य करने के लिये अध्यापकों और शोधार्थियों को प्रोत्साहित किया।

गुलाबराय—गुलाबराय ने 'साहित्य संदेश' नामक आलोचनात्मक पत्रिका का सम्पादन करके हिंदी आलोचना के प्रचार-प्रसार में काफी योगदान दिया। उन्होंने शिक्षा के उपयोग की दृष्टि से 'सिद्धांत और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' ग्रंथों की रचना की। उन्होंने छायावाद के दार्शनिक रूप को भी स्पष्ट किया।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत कला के साथ भाव सत्ता को भी महत्त्व दिया। उन्होंने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर काव्य सिद्धांतों की परख 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' (1942 ई.) ग्रंथ में की।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—मिश्र जी का मध्ययुगीन काव्य की साफ-सुथरी टीकाओं के लिये तत्कालीन आलोचना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'वाङ्मय विमर्श', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिंदी साहित्य का अतीत' और 'हिंदी का सामयिक साहित्य' ग्रंथों की रचना द्वारा मिश्र जी ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया।

तीसरे दशक की आलोचना के विकास में छायावादी कवियों का भी उल्लेखनीय योगदान है। छायावादी काव्य पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लगाये गये आरोपों के जवाब में छायावादी कवियों ने अपनी कविता के बचाव में जो आलोचनाएं लिखीं, उनका बड़ा महत्त्व है। उन्होंने आलोचना को नयी दिशा देने के लिये प्राचीन शास्त्रवादी साहित्यिक मूल्यों का विरोध तो किया ही, नये मूल्यों के प्रश्न भी खड़े किये।

सबसे पहले सुमित्रानंदन पंत ने 'पल्लव' (1927 ई.) और 'वीणा' (1929) की भूमिकाओं में रीतिकाल से द्विवेदी युग तक की कविता की कमियाँ बताते हुए छायावादी कविताओं की वकालत की। जयशंकर प्रसाद ने 1936 ई. में 'हंस' के अनेक अंकों में काव्य की आलोचना विषयक निबंध लिखे जिसका संकलन बाद में 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' (1939 ई.) शीर्षक से हुआ। इन निबंधों में उन्होंने काव्य और कला, रहस्यवाद, इन नाटकों में रस का स्थान, रंगमंच, यथार्थवाद, छायावाद आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किये। प्रसाद ने छायावाद की आलोचना से संबंधित तीन काम किये। छायावाद को भारतीय चिंतन परंपरा से विकसित माना, छायावाद को मात्र शैली चमत्कार न मानकर उसका संबंध अनुभूति, चमत्कार से जोड़ा, तथा छायावादी कविता के सौंदर्य में निहित शिवत्व के दर्शन कराये।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने 'पंत और पल्लव' (1927 ई.) शीर्षक निबंध माला की कविताओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया। 'परिमल की भूमिका' (1930 ई.) में निराला जी ने मुक्त छंद के विवेचन द्वारा हिंदी में एक नये छंद शास्त्र की स्थापना की। इतना ही नहीं छायावाद के संदर्भ में अपने विरोधियों को उत्तर देने के लिये अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे, जिनमें भाषा, छंद, तुक, लय, समसामयिकता, सार्वदेशिकता, स्थानीयता आदि को।

महादेवी ने भी 'सांध्यगीत' (1936 ई.) की भूमिका में छायावाद और रहस्यवाद की व्याख्या का प्रयत्न किया। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध' उनके स्फुट लेखों का संग्रह है।

छायावाद के समर्थकों में नंददुलारे वाजपेयी, अवध उपाध्याय, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, शांतिप्रिय द्विवेदी, रामनाथ लाल 'सुमन' और डॉ० नगेन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं।

प्र.3. हिन्दी में स्वछंदतावादी आलोचना का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

उत्तर

स्वच्छंदतावादी आलोचना (समीक्षा)

छायावाद के साहित्यिक विश्लेषण के लिए स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति की शुरुआत हुई। इस नयी समीक्षा के मानदंड के तत्त्वों का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से हुआ। साथ ही अंग्रेजी की रोमांटिक कविता तथा रोमांटिक क्रिटिसिज्म के अध्ययन का भी इस पर प्रभाव पड़ा। छायावादी काव्य में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता से व्यक्तिवादी साहित्य चेतना का जन्म हुआ। इसलिये स्वच्छंदतावादी आलोचकों ने प्राचीन सिद्धांतों से अलग हटकर काव्य में सूक्ष्म-सौन्दर्य और सौष्ठव देखने का प्रयत्न किया। आलोचकों ने उपादेयता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन न कर आनंद को प्रधानता दी। इस समीक्षा में जीवन के प्रति एक ऐसा भावमय दृष्टिकोण है जो अनुभूति को केन्द्र में रखकर विकसित होता है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति के प्रतिनिधि आलोचक हैं-पं. नंददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र और पं. शांतिप्रिय द्विवेदी। छायावाद के मूल्यांकन के प्रश्न पर इन आलोचकों ने आचार्य शुक्ल का विरोध किया था।

पं. नंददुलारे वाजपेयी—पं. नंददुलारे वाजपेयी छायावादी के समर्थ आलोचक और स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति के प्रतिनिधि समालोचक रहे। वाजपेयी ने द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में आलोचना क्षेत्र में प्रवेश किया था। तब 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं के माध्यम से उनकी आलोचनाएं प्रकाशित होती रहती थीं। डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र ने वाजपेयी जी की आलोचना की दो प्रधान

TOUCH 'n' PASS

विशेषताएँ बतायी हैं—कलाकार की अर्न्तवृत्तियों का अध्ययन तथा कलाकृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। वाजपेयी जी ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता तथा शुक्ल जी के प्रबंधकाव्यवाद, मर्यादावाद और नैतिकवाद से हिंदी समीक्षा को मुक्त किया। उन्होंने काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों का विवेचन भी किया। उन पर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का पर्याप्त प्रभाव था, इस कारण उन्होंने भारतीय रसवाद के सिद्धांत की व्याख्या भारतीय साहित्यशास्त्र के रूढ़ शब्दों में नहीं की। वाजपेयी जी ने रसानुभूति संबंधी अलौकिकता को अस्वीकार किया और कला मात्र के आनंद को रस नाम से अभिहित किया। वाजपेयी जी को छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाओं की गंभीर और विस्तृत समीक्षा का श्रेय जाता है।

वाजपेयी जी के प्रधान समीक्षा ग्रंथ हैं—'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद', 'सूर संदर्भ की भूमिका', 'आधुनिक साहित्य', 'महाकवि सूरदास', और 'नया साहित्य नये प्रश्न'।

डॉ० नगेन्द्र—डॉ० नगेन्द्र भी स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के आलोचक हैं। उन्होंने समीक्षा का आरंभ छायावाद पर स्फुट निबंध से किया। 'हंस' (1937 ई.) में उनका पहला निबंध जो सुमित्रानंदन पंत पर था जो प्रकाशित हुआ। छायावादी काव्य की अन्तर्मुखी साधना, सौन्दर्य चेतना और कलात्मकता के प्रति उनका विशेष आकर्षण था। 'सुमित्रानंदन पंत (1938 ई.) पुस्तक में पंत जी की कविताओं में मनोदशाओं का उन्होंने सुंदर चित्रण किया है। धीरे-धीरे वे व्यावहारिक आलोचना से सैद्धांतिक आलोचना की ओर आकृष्ट हुए। 'रीतिकाव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' (1946 ई.) से इसका स्पष्ट आभास मिलता है। अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं के लिये उन्होंने विविध विषय चुने हैं। काव्य, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र आदि। उन्होंने मध्ययुग से आधुनिक युग तक के कृतिकारों की समीक्षा की है। किंतु वे मुख्य रूप से आधुनिक काव्य के आलोचक हैं। उनके कुछ निबंधों में फ्रायडीय प्रभाव की झलक मिलती है। इसलिये उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएं की हैं। किंतु डॉ० नगेन्द्र मूलत: रसवादी आलोचक हैं। 'रस सिद्धांत' (1964 ई.) में उन्होंने रस का पूरा विवेचन कर उसकी पुन: प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। साहित्य को वे आत्माभिव्यक्ति मानते हैं इसलिये अनुभूति तत्त्व को विशेष मान्यता देते हैं।

डॉ० नगेन्द्र आधुनिक साहित्य और समसामयिक आंदोलनों से भी जुड़े रहे। जहाँ उन्होंने 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' (1962 ई.) ग्रंथ लिखा वहीं वे समय-समय पर नयी कविता, उपन्यासों और कहानियों की भी आलोचना करते रहे हैं। 'नयी समीक्षा: नये संदर्भ' (1970 ई.) में मूल्यों का विघटन, सांस्कृतिक संकट, आधुनिकता का प्रश्न आदि पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र के नये सिद्धांतों की जानकारी देने के लिये उन्होंने 'काव्य बिंब' (1967 ई.) की रचना की। डॉ० नगेन्द्र की समीक्षा में भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों पर विचार हुआ है। वे रस, अलंकार आदि पूर्वी तथा आवेग, कल्पना चिंतन, अनुभूति, बिंब आदि पाश्चात्य तत्त्वों के आधार पर समीक्षा करते हैं। उन्होंने हिंदी आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से विकसित किया है। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने हिंदी आलोचना में दो कार्य किये-एक तो भारत और पश्चिम के आलोचना शास्त्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। यहाँ तक कि अनुवादों के माध्यम से सामग्री सुलभ करायी। दूसरे छायावाद के शिल्प पक्ष की सूक्ष्मताओं को उजागर किया।

पं. शांतिप्रिय द्विवेदी—द्विवेदी जी ने मुख्यत: छायावादी साहित्य पर ही विचार किया है। वे छायावाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले समीक्षक थे। वे काव्य से जीवन की प्रेरणा प्राप्ति को महत्त्व देते हैं। उन्होंने इस ओर संवेदनीयता को काव्य के उद्देश्य में स्थान दिया है। द्विवेदी जी ने छायावादी काव्य के विकास में गांधीवाद और प्रथम विश्व युद्ध की परिस्थितियों को सहायक माना है। 'हमारे साहित्य निर्माता' (1932 ई.) 'कवि और काव्य' (1937 ई.) तथा 'साहित्यिकी' (1938) उनके प्रमुख ग्रंथ हैं।

द्विवेदी जी ने 'इतिहास के आलोक' निबंध में वर्तमान कविता के क्रम विकास का तथा 'छायावाद और उसके बाद' निबंध में साहित्य के विकास का अध्ययन किया है जिसमें उनके वैयक्तिक चिंतन की झलक है।

***प्र.4.* हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी आलोचना पर प्रकाश डालिए।**

उत्तर

हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी आलोचना

सन् 1936 ई. में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता करते हुए प्रेमचंद ने साहित्य के युगानुकूल नये उद्देश्य स्पष्ट किये। इस प्रकार हिंदी में प्रगतिशीलता का एक नया दौर शुरू हुआ और उसके अनुसार आलोचना

TOUCH 'n' PASS

के क्षेत्र में भी नयी मान्यताएँ प्रकट होने लगीं। इस अवधि के साहित्य पर कार्ल मार्क्स की विचारधारा का प्रमुख प्रभाव रहा। सिद्धांतवादी आलोचकों ने भी मार्क्सवाद को आधार बनाया। मार्क्स के जीवनदर्शन के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं में विरोधी तत्त्वों का संघर्ष होता रहता है। उस संघर्ष के फलस्वरूप विभिन्न पदार्थों, उनकी शक्तियों और अस्तित्त्वों का लगातार विकास होता रहता है। इसी को मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' से भी जाना जाता है। मार्क्स का मानना था कि समाज में पूँजीपति और सर्वहारा इन दो विरोधी शक्तियों के बीच द्वन्द्व चल रहा है।

मार्क्सवादी दर्शन का प्रमुख उद्देश्य जनता के भौतिक अभावों और दरिद्रता को दूर कर समाज में समानता लाना है। इसलिये मार्क्सवादी विचारधारा के मानने वाले साहित्यकारों ने कला को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये शोषित और पीड़ित मानव को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया। प्रगतिशील साहित्यकार पूँजीवादी संस्कृति के विरोध और जनवादी संस्कृति के निर्माण की कामना लेकर आगे बढ़े। जिससे श्रमिक क्रांति के भावों को मजबूती मिली, विश्व बंधुत्व, नारी समानता और स्वतंत्रता तथा बौद्धिकता की भावना को बल मिला। सामाजिक यथार्थवाद और मानवतावाद के आदर्श को लेकर चलने वाले इस प्रगतिशील साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिये अलंकार गौण हो गये जिससे प्रगतिवादी काव्य सरल हुआ। नये-नये सरल छंद इसकी विशेषता बन गये।

मार्क्सवादी आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त और डॉ० रामविलास शर्मा अग्रणी हैं।

शिवदान सिंह चौहान—शिवदान सिंह चौहान ने मार्च 1937 ई. के 'विशाल भारत' में सबसे पहले 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक से एक लेख लिखा जिसमें प्रगतिशील साहित्य के सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया। उनके अनुसार प्रगतिशील शक्ति वह है जो न केवल संसार को स्पष्ट करती है बल्कि उसे परिवर्तित करने में भी बराबर लगी रहती है। वे प्रगतिशीलता को वर्ग-गुट, देशकाल, पार्टी आदि की सीमाओं से आंकना उचित नहीं समझते थे। जो साहित्य जीवन के यथार्थ को गहराई और कलात्मक सच्चाई के साथ प्रतिबिम्बित करता है, वही प्रगतिशील साहित्य है। उनका मानना था कि प्रगतिशील कवि जरूरी नहीं कि मार्क्सवादी ही हो, वह गांधीवादी भी हो सकता है।

आलोचना के सिद्धांत' और 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' इनकी मुख्य रचनाएँ हैं।

चौहानजी 'हंस' और 'आलोचना' पत्रिकाओं के संपादक रहे। उनके आरंभिक निबंध 'प्रगतिवाद' (1946 ई.) में संकलित हैं। उनके आलोचनात्मक निबंधों के तीन संकलन 'साहित्य की परख' (1947 ई.), 'साहित्यानुशीलन', तथा 'आलोचना के मान' (1958 ई.) प्रमुख हैं जिनमें पुस्तक समीक्षाएं और सैद्धांतिक निबंध भी हैं।

प्रकाशचंद्र गुप्त—प्रकाशचंद्र गुप्त ने मार्क्सवादी सिद्धांतों के विवेचन के साथ हिंदी साहित्य की पुरानी परंपरा और समसामयिक साहित्य का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया। उनकी आलोचना सुबोधता, सरलता और शालीनता के गुणों से युक्त है। उनके तीन प्रमुख निबंध संकलन हैं—'आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि' (1952 ई.), 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा' (1953 ई.) और 'साहित्यधारा' (1956 ई.)।

डॉ० रामविलास शर्मा—डॉ० रामविलास शर्मा ने छायावादी काव्य और उसमें विशेषकर निराला के साहित्य की व्याख्या से आलोचना कार्य आरंभ किया। रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद पर भी किया गया आलोचना कार्य महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से 'आचार्य रामचन्द्र 'शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'प्रेमचंद' और 'निराला की साहित्य साधना' (1968 ई.) हिंदी आलोचना की उपलब्धियाँ हैं। रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी साहित्य - सिद्धांतों का कोरा सैद्धांतिक प्रतिपादन ही नहीं किया वरन् मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिंदी साहित्य की परंपरा की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। इतना ही नहीं उन्होंने बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के साहित्य का भी विश्लेषण किया। 'आदिकाव्य', 'साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या: कालिदास', तथा 'भवभूति की करुणा' उनकी उल्लेखनीय आलोचनाएं हैं। शुक्ल जी के आलोचक व्यक्तित्त्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी व्यापक और सजग दृष्टि। अपने समय के हर साहित्यिक विवाद की तरफ उनका ध्यान जाता था। और वे अपनी राय भी देते थे। जितनी लगन से वे प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य का विवेचन करते थे, उतना ही ध्यान आधुनिक साहित्य और विषयों पर भी देते थे। तभी तो काव्य के अतिरिक्त अपने समय के गद्य साहित्य की सभी पद्धतियों और प्रवृत्तियों को समझ लेना चाहिए।

TOUCH 'n PASS

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. हिन्दी का पहला आलोचक इनमें से कौन है?
(क) भारतेन्दु (ख) बालकृष्ण भट्ट (ग) आचार्य शुक्ल (घ) हजारी प्रसाद द्विवेदी
उत्तर (क) भारतेन्दु

प्र.2. हिन्दी की पहली आलोचना इनमें से कौन-सी है?
(क) नेषधचरित (ख) हिन्दी कालिदास की आलोचना
(ग) विक्रमांकदेव चरित चर्चा (घ) देव बड़े कि बिहारी
उत्तर (ख) हिन्दी कालिदास की आलोचना

प्र.3. साहित्यालोचन इनमें से किसकी रचना है?
(क) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (ख) अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
(ग) कृष्णशंकर शुक्ल (घ) श्याम सुन्दर दास
उत्तर (घ) श्याम सुन्दर दास

प्र.4. महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्रबंधुओं की आरम्भिक आलोचनाएँ इनमें से किस कोटि की हैं?
(क) व्याख्यात्मक (ख) व्यंग्यात्मक (ग) तुलनात्मक (घ) प्रशंसात्मक
उत्तर (ग) तुलनात्मक

प्र.5. पं० बालकृष्ण भट्ट ने सच्ची समालोचना शीर्षक में किस ग्रन्थ की आलोचना की है?
(क) रसकलश (ख) मयकमंजरी (ग) व्यंग्यार्थ मंजूषा (घ) संयोगिता स्वयंवर
उत्तर (घ) संयोगिता स्वयंवर

प्र.6. सैद्धांतिक आलोचना का ग्रन्थ 'नाटक' इनमें से किसने लिखा है?
(क) भारतेन्दु (ख) प्रेमधन (ग) बालकृष्ण भट्ट (घ) श्रीनिवास दास
उत्तर (क) भारतेन्दु

प्र.7. देव और बिहारी नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
(क) लाला भगवानदीन (ख) कृष्ण बिहारी मिश्र
(ग) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (घ) महावीर प्रसाद द्विवेदी
उत्तर (ख) कृष्ण बिहारी मिश्र

प्र.8. मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के क्षेत्र में योगदान रहा है–
(क) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन (अज्ञेय) (ख) इलाचन्द्र जोशी
(ग) देवराज उपाध्याय (घ) इन सभी का
उत्तर (घ) इन सभी का

प्र.9. त्रिशंकु निबंध संग्रह में 'प्रभुत्व कामना' और 'क्षतिपूर्ति' के सिद्धान्त को किसने स्पष्ट किया?
(क) इलाचन्द्र जोशी (ख) अज्ञेय (ग) देवराज उपाध्याय (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) अज्ञेय

प्र.10. अलंकारवादी धारा के प्रवर्तक किसे माना जाता है?
(क) केशवदास (ख) मतिराम (ग) बिहारी (घ) देव
उत्तर (क) केशवदास

प्र.11. किस उपन्यास की आलोचना हिन्दू मुस्लिम समस्या को लेकर की गई है?
(क) भारत मिश्र (ख) सार सुधा निधि
(ग) हरिश्चन्द्र चंद्रिका (घ) हरिश्चन्द्र मैगजीन
उत्तर (ग) हरिश्चन्द्र चंद्रिका

TOUCH 'n' PASS

प्र.12. भारतेन्दु युग के मुख्य आलोचक कौन हैं?
(क) भारतेन्दु (ख) बदरीनारायण चौधरी (ग) बालकृष्ण भट्ट (घ) ये सभी
उत्तर (घ) ये सभी

प्र.13. समीक्षा की नयी परिपाटी को जन्म देने का श्रेय किसे माना जाता है?
(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ख) अज्ञेय
(ग) बालकृष्ण भट्ट (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्र.14. बालकृष्ण किस पत्रिका का सम्पादन स्वयं करते थे?
(क) काव्य प्रभाकर (ख) हिन्दी प्रदीप (ग) कालिदास (घ) परीक्षा गुरु
उत्तर (ख) हिन्दी प्रदीप

प्र.15. बालकृष्ण भट्ट जी ने सैद्धांतिक विवेचन का उपयोग किस आलोचना में किया है?
(क) व्यावहारिक (ख) तुलानात्मक (ग) मनोविश्लेषणात्मक (घ) ये सभी
उत्तर (क) व्यावहारिक

प्र.16. कौन-सी आलोचना द्विवेदी युग की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है?
(क) व्याख्यात्मक (ख) शास्त्रीय (ग) तुलनात्मक (घ) सैद्धांतिक
उत्तर (ग) तुलनात्मक

प्र.17. अकजंधाम परक आलोचना का विकास किस पत्रिका के प्रकाशन से हुआ?
(क) नागरी प्रचारिणी (ख) हिन्दी नवरत्न (ग) काव्य प्रभाकर (घ) छंद सारावली
उत्तर (क) नागरी प्रचारिणी

प्र.18. किसने 'समालोचना समुच्चय' नाम से अलग से भी अपना निबंध संग्रह प्रकाशित किया?
(क) श्यामदास ने (ख) बालकृष्ण भट्ट ने
(ग) महावीर प्रसाद द्विवेदी ने (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) महावीर प्रसाद द्विवेदी ने

प्र.19. किस आलोचना में आलोच्य विषय की उपयोगिता को ध्यान में रखा गया है?
(क) परिचयात्मक (ख) शोध परक (ग) तुलनात्मक (घ) व्याख्यात्मक
उत्तर (घ) व्याख्यात्मक

प्र.20. 'लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा' का नाम रस दशा है? यह कथन किसका है?
(क) बाबू श्यामसुन्दर दास का (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का
(ग) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का (घ) बालकृष्ण भट्ट का
उत्तर (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का

प्र.21. गुलाबराय ने किस आलोचनात्मक पत्रिका का सम्पादन किया?
(क) साहित्यालोचन (ख) रूपक रहस्य (ग) साहित्य संदेश (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) साहित्य संदेश

प्र.22. सर्वप्रथम किसने पंत और पल्लव शीर्षक निबंध माला की कविताओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया?
(क) सूर्यकांत त्रिपाठी निराला (ख) सुमित्रानंदन पंत
(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (घ) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
उत्तर (क) सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

TOUCH 'n' PASS

❑

UNIT-VII

समीक्षा की विचारधाराएँ : सामान्य परिचय

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. साहित्य की समीक्षा से क्या तात्पर्य है?

उत्तर साहित्य की समीक्षा शोध के संचालन में एक प्रारंभिक चरण है। यह आमतौर पर एक शोध समस्या को ध्यान में रखकर शुरू होता है। यह शोधकर्त्ता के विषय के समान विषय पर पहले के शोधकर्त्ताओं द्वारा किए गए शोध का सारांश होता है जो शोधकर्त्ता को शोध समस्या की समझ को व्यापक बनाने में सक्षम बनाता है।

प्र.2. समीक्षा से आप क्या समझते हैं? समीक्षा की विशेषताओं की व्याख्या करें।

उत्तर किसी भी लेखन को पढ़ कर उसके बारें में बताना समीक्षा कहलाता है। समीक्षक द्वारा की गई टिप्पणी पाठकों को पुस्तक पढ़ने या ना पढ़ने के लिए प्रेरित करती है। किसी किताब, लेख, कहानी पर आपकी प्रतिक्रिया होती है जो अच्छी या बुरी हो सकती है। समीक्षा से पाठकों को लेखन के विभिन्न पहलुओं की जानकारी मिलती है।

प्र.3. नई समीक्षा के जनक कौन है?

उत्तर टी. एस. एलियट नई समीक्षा के जनक माने जाते हैं। सन् 1941 में प्रकाशित जॉन क्रो रैंसम की पुस्तक दी न्यू क्रिटिसिज्म से यह नाम आलोचना के क्षेत्र में रूढ़ हो गया। नई समीक्षा में किसी रचना के ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष पर विचार करने को अनावश्यक माना गया।

प्र.4. साहित्य और साहित्य समीक्षा में क्या अंतर है?

उत्तर एक शोध पत्र में, आप साहित्य का उपयोग एक नींव के रूप में और एक नई अंतर्दृष्टि के लिए समर्थन के रूप में करते हैं, जो आप योगदान करते हैं। हालाँकि, साहित्य समीक्षा का ध्यान नए योगदानों को जोड़े बिना दूसरों के तर्कों और विचारों को सारांशित और संश्लेषित करना है।

प्र.5. साहित्य समीक्षा के लिए किस प्रकार का साहित्य उपयुक्त है?

उत्तर शोध साहित्य आपकी साहित्य समीक्षा का एक अनिवार्य घटक है। शोध द्वारा सूचित और परीक्षण किया गया साहित्य, ये किताबें, लेख और संदर्भ स्रोत जाँच के क्षेत्र के लिए पृष्ठभूमि या सैद्धांतिक रूपरेखा को समझाने, वर्णन करने, परिभाषित करने और प्रदान करने का प्रयास करेंगे।

प्र.6. यथार्थवाद के संस्थापक कौन हैं?

उत्तर अरस्तू यथार्थवाद के जन्मदाता है। उनका मानना था कि वास्तविकता मानव मन से स्वतंत्र है।

प्र.7. यथार्थवाद कहाँ से शुरू हुआ?

उत्तर यथार्थवाद एक कलात्मक आंदोलन था जो 1848 की क्रांति के आसपास 1840 के दशक में फ्रांस में उभरा। यथार्थवादियों ने स्वच्छंदतावाद को अस्वीकार कर दिया, जो 19वीं सदी की शुरुआत से फ्रांसीसी साहित्य और कला पर हावी था।

प्र.8. कलावाद का अर्थ क्या है?

उत्तर कलावाद 'कला कला के लिए' (Art for art's sake) मान्यता पर आधारित कला के प्रति एक दृष्टिकोणविशेष जिसे लेकर 19वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में व्यापक वाद-विवाद छिड़ गया था। कलावाद को साहित्य एवं कला के क्षेत्र में उपयोगितावाद के विलोम के रूप में जाना जाता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.9. अभिव्यंजनावादी में प्रथम किसे माना जाता है?

उत्तर 1905 में, अर्न्स्ट लुडविग किर्चनर के नेतृत्व में चार जर्मन कलाकारों के एक समूह ने ड्रेसडेन शहर में डाई ब्रुके (द ब्रिज) का गठन किया। यह यकीनन जर्मन अभिव्यक्तिवादी आंदोलन का संस्थापक संगठन था, हालांकि उन्होंने स्वयं इस शब्द का उपयोग नहीं किया था।

प्र.10. अभिव्यंजनावाद के जनक कौन हैं?

उत्तर अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) मूलत: आत्मवादी दार्शनिक हैं। उनका उद्देश्य साहित्य में आत्मा की अन्त: सत्ता स्थापित करना था।

प्र.11. बिंबवाद के प्रवर्तक कौन हैं?

उत्तर हिन्दी साहित्य में बिम्ब का नवीन अर्थ-प्रतिपादन रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना द्वारा हुआ।

प्र.12. बिम्बवाद का अर्थ क्या है?

उत्तर बिम्बवाद 20वीं सदी की आंग्ल-अमेरिकी कविता का एक आंदोलन था जिसमें बिम्ब अर्थात् इमेजरी की परिशुद्धता तथा स्पष्ट, तेज भाषा को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। बिम्बवाद को अंग्रेजी कविता में पूर्व-राफेलीय (Raphaelites) आंदोलन के बाद सबसे प्रभावशाली आंदोलन के रूप में वर्णित किया गया है।

प्र.13. प्रतीक और बिंब में क्या अंतर है?

उत्तर प्राकृतिक प्रतीक का प्रयोग प्रत्येक युग के कवि एक नये दृष्टिकोण से करते हैं। प्रतीक चाहे किसी भी प्रकार के हों, वे विशेषोन्मुख होते हैं। बिम्ब लाक्षणिक होता है, जबकि प्रतीक व्यंग्यात्मक होता है। बिम्ब प्राय: आकस्मिक होते हैं, इसका प्रयोग अनायास होता है।

प्र.14. इमेजरी या प्रतीकवाद क्या है?

उत्तर साहित्य में, लेखक अक्सर प्रतीकवाद (एक वस्तु, व्यक्ति, जानवर, रंग, आदि जो एक अमूर्त विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं) और कल्पना (वर्णनात्मक भाषा जो सभी इंद्रियों को आकर्षित करती है, एक पाठ में गहरे अर्थ की परतें जोड़ती है) का उपयोग करते हैं।

प्र.15. साहित्य में तीन प्रकार के प्रतीकवाद क्या हैं?

उत्तर साहित्य में प्रतीकवाद के सामान्य प्रकार प्रतीकों का उपयोग करके एक शक्तिशाली कहानी बनाई जा सकती है जो सार्वभौमिक सत्य को उजागर करती है। साहित्य में प्रतीकवाद के तीन प्रमुख प्रकार हैं—धार्मिक, रोमांटिक और भावनात्मक प्रतीकवाद।

प्र.16. काव्य में प्रतीकवाद क्यों महत्त्वपूर्ण है?

उत्तर लेखक अपने पाठकों को किसी विचार या अवधारणा को स्पष्ट रूप से कहे बिना काव्यात्मक तरीके से समझाने के लिए प्रतीकवाद का उपयोग करते हैं। प्रतीकवाद का उपयोग लेखकों को अपनी कहानियों को और अधिक जटिल बनाने की अनुमति देता है। बहुत से लोग रोजमर्रा की जिंदगी में भी प्रतीकवाद का उपयोग करते हैं।

प्र.17. साहित्य में नवशास्त्रवाद से आप क्या समझते हैं?

उत्तर नियोक्लासिसिज्म (जिसे नियो-क्लासिकिज्म भी कहा जाता है) सजावटी और दृश्य कला, साहित्य, रंगमंच, संगीत और वास्तुकला में एक पश्चिमी सांस्कृतिक आंदोलन था जिसने शास्त्रीय पुरातनता की कला और संस्कृति से प्रेरणा ली।

प्र.18. नवशास्त्रवाद का मुख्य विचार क्या था?

उत्तर कला में नियोक्लासिसिज्म प्राचीन काल में ग्रीस और रोम की कला पर आधारित एक सौंदर्यवादी दृष्टिकोण है, जो सद्भाव, स्पष्टता, संयम, सार्वभौमिकता और आदर्शवाद का आह्वान करता है।

TOUCH 'n' PASS

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. हिन्दी साहित्य में बिंबवाद का सामान्य परिचय दीजिए।

उत्तर

हिन्दी साहित्य में बिंबवाद

बिंब अंग्रेजी के इमेज शब्द का हिंदी पर्याय है। आधुनिक समीक्षा में बिंब शब्द का प्रयोग आम हो गया है। परिभाषा के धरातल पर बिंब शब्द को समझना आसान नहीं है। आधुनिक हिंदी आलोचना में डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है—'यह ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुचने का मार्ग है', ' किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मित है,' बिम्ब पदार्थों के आन्तरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।' जाहिर है इनमें से एक परिभाषा भी बिंब को उसकी संपूर्णता में परिभाषित नहीं कर पाती।' सन् 1908 में ह्यूम्मे और क्लिट ने बिंबवाद का घोषणापत्र प्रकाशित किया। सन् 1912 से 1917 तक इंग्लैण्ड और अमेरीका में बिंबवाद का आन्दोलन ही चल पड़ा। इस आन्दोलन में मुख्य रूप से टी. ई. ह्यूम, एजरा पाउण्ड, आर्लाइंगटन, एमी लॉवेल, ड्रलिट्ल, डी. एच. लारेन्स, कैरोल विलियम्स, रिचार्ड एलिंगटन इत्यादि थे।

बिम्बवाद ने सीधी अभिव्यक्ति के स्थान पर बिंब को काव्य के लिए अनिवार्य बताया। लम्बी कविता को अनावश्यक बताते हुए बिंबवादियों ने पूर्ण बिंब को आवश्यक बताया। इसी प्रकार ह्यूम ने स्वच्छंदतावाद की भावुकतापूर्ण प्रतिक्रिया की आलोचना की। बिंबवाद के मुख्य प्रवक्ता एजरा पाउन्ड की कविता की पृष्ठभूमि थी—बरसात की रात में भीगते रेलवे स्टेशन पर कुछ सुन्दर आकृतियाँ। इसे कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'भीड़ में इन चेहरों का दिव्य-दर्शन/मानों किसी भीगी काली टहनी पर पंखुड़ियाँ।' बिंबधर्मी कविता की विशेषता बताते हुए एजरा पाउन्ड ने कहा—'मूर्तता, प्रेक्षण की यथातथ्यता, तुलना की तात्कालिकता और बिंब का सौन्दर्य '। बिंबवाद में विषय से ज्यादा अभिव्यक्ति पर बल दिया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- 'कविता का काम हमारे सामने विचार (कांसेप्ट) लाना नहीं है, बल्कि बिंब खड़ा करना है'। एमी लावेल इसे 'सही शब्द' कहता है, जबकि ह्यूम कम शब्दों में पाठक को अधिक प्रभावित करने की क्षमता को बिंब का प्रधान गुण मानता है।

प्र.2. प्रतीकवाद से क्या तात्पर्य है?

उत्तर

प्रतीकवाद

प्रतीकवाद का परिचय देते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है—'आंदोलन के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ 1886 में फ्रांस में हुआ। वस्तुत: यह रोमेन्टिसिज्म की एक विकसित शाखा है। इसमें प्रतीक का सायास और सचेत प्रयोग होता है। ' फ्रांस में शुरू हुआ प्रतीकवादी काव्यान्दोलन क्रमश: जर्मनी, अमेरीका और इंग्लैण्ड में फैला और प्रभाव एशिया तक पहुँचा। इस आन्दोलन के प्रतिनिधि कवि थे—वॉदलेयर, वर्लें, रैम्बो, मलार्मे और बैलरी। वॉदलेयर प्रथम साहित्यकार था, जिसने प्रतीकों के प्रयोग को आवश्यक बताया, वर्लें ने प्रतीकों के प्रयोग की प्रक्रिया तथा मलार्मे ने उनकी व्याख्या तथा संगति स्पष्ट की। प्रतीकवाद आन्दोलन का प्रारम्भ कला-दर्शन-विज्ञान क्षेत्र में आई यांत्रिक दृष्टि की प्रतिक्रिया स्वरूप् हुआ। प्रतीकवाद में भाषा की बँधी-बँधायी पद्धति को तोड़ने का प्रयास किया गया। प्रतीकवाद भाषा के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण को लेकर चलने वाला काव्यान्दोलन है। जिसमें वाच्यार्थ के माध्यम से लक्ष्यार्थ की खोज की जाती है।

प्र.3. अतियर्थाथवाद किसे कहते हैं?

उत्तर

अतियर्थाथवाद

'अतियर्थाथवाद' का तात्पर्य है सामाजिक यर्थाथ से आगे यर्थाथ की एक और दुनिया। यानि सामाजिक यर्थाथ से आगे का यर्थाथ। जाहिर है यह यर्थाथ मन या अवचेतन मन का ही हो सकता है। फ्रायडीय मनोविश्लेषणशास्त्र के स्वप्न-विज्ञान या अवचेतन मन का इस आन्दोलन पर बहुत प्रभाव पड़ा। यह काव्यान्दोलन सन् 1920 ई० के बाद विकसित हुआ। अतियर्थावाद पर टिप्पणी करते हुए डॉ बच्चन सिंह ने लिखा है—'सचेत सृजन की जगह संयोग या चॉस सृजन का इसमें अधिक महत्त्व था, दो विरोधी वस्तुओं को आसपास रखना इसकी एक टेकनीक है। भाषा में नया अर्थ भरकर अंतर्दृष्टि को मुक्त करना भी इसका कार्य था पर मुक्ति की जो अवधारणा इस कला- आन्दोलन ने विकसित की उसमें मस्तिष्क की कोई भूमिका शेष नहीं रही।

प्र.4. उत्तर-संरचनावाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

उत्तर-संरचनावाद

उत्तर-संरचनावाद सिर्फ एक पद्धति की तरह नहीं आया, वह एक दार्शनिक रूप की तरह भी आया। यूरोप के मौजूदा चिंतन पर इसकी गहरी छाप है और आज के भूमंडलीय यथार्थ में यह एक युग की भूमंडलीय अवधारणा की तरह पढ़ा जा सकता है।

TOUCH 'n' PASS

उत्तर-संरचनावाद, उत्तर औद्योगिक राजनीति भी कही जा सकती है और विखंडन भी। उत्तर-संरचनावाद विचार-पद्धति सातवें दशक के मध्य में आरम्भ हुई। विकराल राज्यसत्ताओं के सामने मानव अधिकारों की माँग, आधुनिक जकड़बंदी से छटपटाकर पीछे लौटकर धार्मिक एवं तत्त्ववादी चिंतन में शाखा ढूँढ़ना मूलत: उत्तर आधुनिक स्थितियों को स्वीकार करना था।
उत्तर-संरचनावाद संरचनावाद के सीमान्तों की प्रतिक्रिया में शुरू हुआ। लेवीस्ट्रॉस द्वारा विकसित संरचनावाद में निरकुंशता के तत्त्व सबसे पहले (1950) लाकाँ ने खोजे। लाकाँ ने बताया कि स्ट्रोस की पद्धति मनुष्य समाज को अतंत: एक मशीन की तरह सुपरिभाषेय और कथनीय बनाती है। यह खतरनाक है। वह मनुष्य को केंद्र में नहीं रखती। 1981 के आस-पास मिशेल फूको ने 'मैडनैस एंड सिविलाइजेशन' में अच्छी तरह सिद्ध किया कि किस तरह हमारे आधुनिक विज्ञान एवं समाज विज्ञान दमनकारी हैं। लाकाँ ने मनोविज्ञान में, फूको ने सांस्कृतिक रूपों के क्षेत्र में और सुई अल्थुरूर ने सिद्धान्त के क्षेत्र में यात्राएँ सातवें दशक में शुरू कीं। लेकिन उत्तर-संरचनावादी दिशा में सबके निर्णायक दस्तावेज सातवें दशक के मध्य में जॉक देरिदा के 'स्पीच एंड फिनोमिना', 'राइटिंग एंड डिफरेंस' तथा 'ऑफ ग्रामाटोलॉजी जैसे अध्ययन के रूप में आया। बार्थ 'पाठ' के अर्थनिर्माण के लिए 'पाठ' को 'सघन' नहीं करते बल्कि फैलाते-बिखेरते हैं। पढ़ने के दौरान पाठक द्वारा चुने गए किसी पद 'वाक्य' मुहावरे से पाठ की संरचना संभव है। इसी से अर्थ की बहुलता मिलती है। बार्थ बताते हैं कि साहित्य के निर्माण में पाँच संहिताएँ काम करती हैं। पहली संहिता व्याथावादी होती है और 'पाठ' में संभव होती है। दूसरी, चिह्न संहिता (सेमी कोड) जो मूल विचार को तय करती है। तीसरी है प्रतीकात्मक संहिता जिससे अर्थ बहुमुखी होता है। चौथी संहिता कार्य-व्यवहार की होती है। पाँचवीं संहिता सांस्कृतिक वातावरण की होती है। इन संहिताओं के भीतर ही 'पाठ' अपने 'अर्थ' का निर्माण करता है। रोला बार्थ कहते हैं कि ये पाँच संहिताएँ एक ऐसा संजाल बनातीं जिसमें से होकर सारा पाठ गुजरता है। संक्षेप में बार्थ के संरचनावादी सिद्धान्तों ने पाठ को एक निर्विकल्प स्थिति प्रदान की। विचारधारा और पॉजिटिविज्म ने एक एक दौर में अपने को 'स्वभाविक' बना लिया था, संरचनावाद ने उसे असवाभाविक और अवांछित करार दिया। 'रचना' पाठ बनी जिसे 'निर्मित' किया जा सकता है और जिसे पुनर्निर्मित किया जा सकता था और जरूरी होने पर जिसे तोड़ा, विखंडित किया जा सकता है। विखंडन से पाठ के 'निर्माण की प्रविधि' को समझा जा सकता है, 'पाठ का निर्माण' ही असली पाठ है, लेखकीय अनुभवों तक पहुँचना नहीं।

प्र.5. हिन्दी में अभिव्यंजनावाद पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

हिन्दी में अभिव्यंजनावाद

हिंदी में 'अभिव्यंजनावाद' या 'शास्त्रवाद' शब्द अंग्रेजी के शब्द 'क्लासिज्म' के पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भ में क्लासिज्म या क्लासिक (आभिजात्यवाद) श्रेष्ठता के वाचक हो गए थे। 'क्लासिक' शब्द का व्यवहार ऐसी वस्तु रचना के लिए होने लगा जो किसी भी सभ्यता के श्रेष्ठ अंश का प्रतिनिधित्व करते हों। 'क्लासिक' शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ० देवराज ने लिखा है कि वह रचना जो हर युग में अपनी अर्थवत्ता के साथ अपनी प्रासंगिकता बनाये रखे वह 'क्लासिक' है। इसी के समानान्तर 'आभिजात्यवाद' शब्द का व्यवहार होता है। 'अभिव्यंजनावाद' शब्द भी इन्हीं के समानाथी है। अभिव्यंजनावाद प्रवृत्ति की शुरूआत अरस्तू से होती हुई होरेस तक स्थिर होती है। कविता में बुद्धि, विवेक एवं संयम का आग्रह अभिव्यंजनावाद की पहचान बनें। अरस्तू के विवेचन ने शास्त्रीय नियमावली, रूप की स्थिरता और अनुशासन को अनिवार्य बनाने वाली 'अभिव्यंजनावादी पद्धति को प्रचलित किया। प्रारम्भ में अभिव्यंजनावाद से किसी वर्ग, सामाजिक श्रेणी एवं ऐतिहासिकता का बोध होता था किन्तु कालान्तर में अभिव्यंजनावाद का अर्थ ऐसी रचनाओं से लगाया जाने लगा जो आदर्श का अनुकरण कराने में सक्षम हों अर्थात् युग-प्रवर्तन की क्षमता रखती हो। हाँलाकि यह कोई सार्वभौमिक नियम नहीं है। अभिव्यंजनावाद में ऐतिहासिकता और नियमबद्धता अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं। संक्षेप में हम कुछ बिन्दुओं के माध्यम से 'अभिव्यंजनावाद को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

1. 'अभिव्यंजनावाद' में मौलिक सृजन के बजाय साहित्य के प्राचीन कला रूपों के प्रति आकर्षण या उनके अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस धारा के रचनाकार ऐतिहासिक एवं प्राचीन रचनाओं के अनुवाद एवं व्याख्या करने पर ज्यादा जोर देते हैं।
2. 'अभिव्यंजनावाद रचना को उद्देश्यपूर्ण ढंग से रचित कृति मानता है। इस धारा में जीवन की व्यापक दृष्टि, परिष्कृत रूचि, परिष्कृत शैली, विवेक-भावना, रूप-आकार के प्रति सन्तुलन एवं सादगी, सरलता के साथ महान् विचारों को ग्रहण करने की क्षमता पर बल दिया जाता है।
3. अभिव्यंजनावाद कला एवं साहित्य के वस्तुनिष्ठ रूप पर जोर देता है। स्वच्छन्दतावादी कला में आत्मनिष्ठता पर ज्यादा जोर होता है, वहीं 'अभिव्यंजनावाद' कला के ठोस सामाजिक आधार को ज्यादा मान्यता प्रदान करता है।

'अभिव्यंजनावाद' कला का सौन्दर्य उन सामाजिक तत्त्वों से स्थिर करता है जो सभी रचना को समान रूप से निर्मित करने में मदद करते हैं।

4. अभिव्यंजनावाद में स्वच्छन्दतावादी भावाधिक्य की बजाय भावों के संयम एवं गरिमा पर बल है।
5. 'अभिव्यंजनावाद' कला के निर्वैयक्तिक रूप का विरोधी होता है। वह रचना को सामाजिक आधार पर अर्थात् किसी देश की सभ्यता-संस्कृति के आधार पर विकसित करने पर ज्यादा बल देता है।
6. 'अभिव्यंजनावाद' में व्यक्ति की अपेक्षा वस्तु को (समाज को) ज्यादा महत्त्व मिलता है।

'अभिव्यंजनावाद' की कुछ अपनी शर्तें होती हैं। एक सीमा के बाद यह रूढ़ हो जाता है। शायद इसीलिए इसकी प्रतिक्रिया 'नव्य 'अभिव्यंजनावाद' के रूप में हुई।

प्र.6. नव्य अभिजात्यंवाद पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर

नव्य अभिजात्यंवाद

अभिजात्यंवाद चिंतन वस्तुत: प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य चितंन की देन था। हालांकि उसका विस्तार आधुनिक काल तक हमें देखने को मिलता है। अभिजात्यंवाद के नये रूप को 'नव्य अभिजात्यंवाद' कहा गया। नव्य अभिजात्यंवाद कुछ अंशों मे पन्द्रहवीं शती के पुनर्जागरण से भी प्रभाव ग्रहण करता है लेकिन सही अर्थों में नव्य अभिजात्यंवाद का विकास सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में हुआ। नव्य अभिजात्यंवाद ने शास्त्रीयता, संयम, विवेक, स्पष्टता और व्यवस्था को केंद्रीय महत्त्व दिया। इंग्लैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी से ही नव्य अभिजात्यंवाद का प्रभाव दिखने लगा था। बेन जॉनसन, जान ड्राइडन, इलेक्जेंडर पोप तथा सैमुअल जॉनसन प्रमुख नव्य अभिजात्यंवाद रचनाकार के रूप में उभरे। इस वर्ग की प्रतिनिधि रचना पोप की 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' है। अभिजात्यंवाद से नव्य अभिजात्यंवाद की भिन्नता यह रही कि इसने विवेक, संयम, तथा अनुशासनप्रियता को तो स्वीकार किया लेकिन उच्चवर्गीय मानसिकता से किनारा भी किया। उच्चवर्गीय मानसिकता के बजाय नव्य अभिजात्यंवादियों ने लेखक के सामाजिक दायित्व पर बल दिया। इसके लिए आवश्यक था कि लेखक अपनी रचना में उच्च नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों को समावेश करे। नव्य अभिजात्यंवादी अंग्रेजी साहित्य मे तर्क, बुद्धिपक्ष की प्रधानता, संयम, सन्तुलन एवं आदर्शवाद की प्रचुरता मिलती है। किन्तु नव्य अभिजात्यंवाद को दार्शनिक आधार 18वीं शताब्दी में जर्मनी में मिला। गेटे, शिलर, ह्यूम पर नव्य अभिजात्यंवाद का व्यापक प्रभाव पड़ा है। ह्यूम ने रचना के मानदण्ड निर्वैक्तिक, वस्तुपरक और सामाजिक होने में स्थिर किया है। डॉ० निर्मला जैन ने नव्य अभिजात्यंवादी इतिहास पर विचार करते हुए लिखा है—उन्नीसवीं सदी के मध्य से फ्रांस में और 19वीं सदी के अंत तक तथा 20वीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड तथा अमेरीका में फिर से नव्य-आभिजात्यंवादी प्रवृत्ति उभरने लगी। फ्रांस में सेट व्यवने क्लासिक रचनाओं का उल्लेख करते हुए नैतिकता, आदर्श, मानवीयता तथा मध्यम मार्ग को उनकी प्रमुख विशेषता माना। इसके साथ ही उन्होंने उनमें अभिकल्प की अन्विति (यूनिटी ऑफ डिजाइन), समुचित निष्पादन (एक्जेक्यूशन) तथा व्यवस्था को आवश्यक ठहराते हुए सम्प्रेषणीयता और सार्वकालिकता की वकालत की। 'मैथ्यू आर्नाल्ड के बाद बीसवीं शताब्दी में इर्विंग बेविट, टी. एस. इलियट और ह्यूम ने नव्य अभिजात्यंवाद को नये सिरे से पारिभाषित किया।

प्र.7. साहित्य में कलावाद के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

साहित्य में कलावाद का उद्‌भव और विकास

साहित्य चिंतन में समय-समय पर ऐसे सिद्धांत उभरते रहे हैं जिनमें नैतिक शिक्षा या उपदेश को ही साहित्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। इस दृष्टि के अनुसार चूँकि सामाजिक जीवन के उत्थान को रचनाकार का कर्त्तव्य माना गया इसलिए वह अनिवार्यत: बाह्य जगत से, इसके नियमों और अनुशासन से जुड़ गया। रचना-कर्म के दौरान अपनी सहज अनुभूतियों को वाणी देने के स्थान पर उसे सचेत रहना पड़ता था कि वह ऐसा कुछ न रच जाए जो सामाजिक या साहित्यिक आदर्श के विपरीत हो। इस धारा में भी अनेक महान रचनाएँ हुई हैं किंतु कई कलाकारों को इन नियमों के चौखटे में अपनी रचनात्मकता घुटती हुई महसूस हुई। साहित्य पर साहित्य से इतर प्रतिमानों के दबाव के विरुद्ध उन्होंने आपत्ति उठायी और साहित्य (तथा कला) को पूर्णत: आत्माभिव्यक्ति का माध्यम माना। आनंद से भी आगे जाकर आत्माभिव्यक्ति को ही साहित्य तथा कला का प्रयोजन भी माना गया और उससे भी आगे चलकर कला को किसी भी बाहरी प्रयोजन से मुक्त और स्वायत्त मानकर स्वयं कला को ही उसका उद्‌देश्य मान लिया गया। कला की स्वायत्तता का दावा करने वाली यह सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि ही 'कलावाद' है।

आंदोलन के रूप में कलावाद का उद्‌भव फ्रांस में हुआ लेकिन इसके पीछे पूरे यूरोप की साहित्यिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि थी। सुदूर अतीत में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के जनक अरस्तू ने रचनाकार के सामाजिक दायित्व को स्वीकार करते हुए भी काव्य-कला

TOUCH 'n PASS

के प्रतिमानों की स्वायत्तता पर बल दिया था। यूरोपीय सौंदर्यशास्त्र में जब भी वैयक्तिकता तथा आत्मपरकता की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं, कला के स्वतंत्र प्रतिमानों की अनिवार्यता महसूस की गई। जर्मनी के आत्मवादी दर्शन से भी इस प्रवृत्ति को बल मिला और इसका प्रभाव आप 18वीं सदी के अंत में इंग्लैंड में उभरी स्वच्छंदतावादी विचारधारा में देख सकते हैं। अठारहवीं सदी में ही दार्शनिक एमानुएल कांट (1724-1804) ने कला की स्वायत्तता को रेखांकित करते हुए यह माना कि उसे ज्ञान तथा नैतिकता के प्रतिमानों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि सौंदर्य चेतना का विषय होता है, बाह्य विश्व का नहीं।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में जब कलावाद एक सबल प्रवृत्ति के रूप में उभरने लगा था, तब तक यूरोपीय विचारधारा पर कांट का प्रभाव हल्का नहीं पड़ा था। विशेषकर फ्रांस में कांट की सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं पर बाकायदा चर्चा हो रही थी और एक नया सौंदर्यशास्त्रीय मुहावरा बन रहा था जिसमें 'विशुद्ध कला', 'विशुद्ध सौंदर्य', 'प्रतिभा' आदि को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा था। मदाम दस्ताल, विक्टर कूजें, थियोफील गोतिए आदि इस विचार-विमर्श के प्रमुख प्रतिभागी थे। मुख्यत: सन् 1814 से 1816 तक चली इस चर्चा से एक नया मुहावरा उभरा 'ल' आर पूर ल 'आर' अर्थात् 'कला कला के लिए। यह मुहावरा कलावादी आंदोलन का सूत्र वाक्य बन गया। फ्रांस में यह आंदोलन तेजी से फैला और बॉदलेयर, मलामें आदि प्रतीकवादी रचनाकार भी इससे जुड़ गए। कुछ अरसे बाद इंग्लैंड में ऑस्कर वाइल्ड, ए.सी. बैडले, ए.सी. स्विनबर्ग, जे.ई. स्पिनगार्न, चित्रकार जेम्स हिवसलर और अमेरिका में वोल्टर पेटर ऐडगर ऐलेन पो आदि भी इस आंदोलन से जुड़े।

उन्नीसवीं सदी में साहित्य तथा कला के क्षेत्र में यह आंदोलन बहुत प्रबल रहा, किंतु अन्य आंदोलनों की ही भाँति इसे भी एकांगिता तथा अतिवाद ने कमजोर कर दिया और नई उभरती हुई सौंदर्यशास्त्रीय प्रवृत्तियों के आगे यह धीरे-धीरे मंद पड़ गया।

प्र.8. साहित्य में नई समीक्षा आन्दोलन का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

साहित्य में नई समीक्षा आन्दोलन

समीक्षा आन्दोलन बीसवीं शताब्दी का प्रमुख अमेरीकी काव्यान्दोलन है। 'साहित्यिक आलोचना में क्रान्ति युग कहे जाने वाले समय सन् 1930 से 1960 के बीच शुद्ध अकादमिक आन्दोलन के रूप में 'नयी समीक्षा' आन्दोलन विशेष चर्चित रहा। 'नयी समीक्षा' के बीज सर्वप्रथम स्पिनगार्न के सन् 1910 ईसवीं में लिखे लेख से माना जाता है। इस लेख में स्पिनगार्न ने कृति से इतर अन्य सामाजिक अनुशासनों को अस्वीकृत किये जाने की बात की थी। इसके बाद इलियट के 'द सेक्रेडवुड', मिडलटन मरे की 'द प्रास्लम ऑफ स्टाइल और आई.ए. रिचर्ड्स के 'प्रिंसिपिल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' इत्यादि कृतियों में नयी समीक्षा की मान्यतायें अस्फुट रूप में मिलती हैं। किन्तु इसे एक आन्दोलन के रूप में प्रतिष्ठा जॉन क्रो रैंसम की सन् 1941 में प्रकाशित 'न्यू क्रिटिसिज्म नामक कृति से मिला। जॉन क्रो रैंसम के अतिरिक्त इस कला आन्दोलन में एलेन टेट, आर.पी. ब्लेकमर, रॉबर्ट पेन वारेन, क्रिमंथ बुरक्स तथा विलियम एम्पसन इत्यादि प्रमुख रूप से सक्रिय रहे। ये सभी आलोचक अलग-अलग मत रखते हैं, इसमें वैचारिक अंतर्विरोध भी हैं किन्तु कृति/रचना की केंद्रीयता के प्रश्न पर सभी एकमत हैं। कृतिकार, रचना संदर्भ, युगीन घटना एवं परिवेश, सहृदय की प्रतिक्रिया को स्वीकार कर 'नयी समीक्षा' आन्दोलन के समर्थक 'कृति' को ही आलोचना का केन्द्र स्थापित करते हैं। नयी समीक्षा का उदय केवल स्वच्छंदतावाद के विरोध के लिए ही नहीं हुआ। 19-20वीं शती के आरम्भ में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं/अनुशासनों के व्यापक प्रसार ने भी नई समीक्षा को नई अंतर्दृष्टि प्रदान की। नई समीक्षा 20वीं शताब्दी के प्रमुख साहित्यिक आन्दोलनों में महत्पूर्ण स्थान रखना है। नई समीक्षा के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. नई समीक्षा मे कृति को केंद्र में स्थापित किया गया। कृति की समझ के लिए साहित्य की पृष्ठभूमि (रचनाकार का परिचय, व्यक्तित्त्व) एवं ऐतिहासिक -सामाजिक वातारण की अनिवार्यता को अप्रासंगिक करार दिया गया। इसलिए नई समीक्षा में कृति को स्वायत्तता प्रदान की गई। लेकिन नई समीक्षा की स्वतंत्रता कलावादी स्वायत्तता से भिन्न है। यहाँ कृति स्वायत्त तो है लेकिन वह मानवीय या नैतिक मूल्य की प्रतिष्ठा और आस्वाद के साथ जुड़ी रहती है। नई समीक्षा में कृति के सत्य को ग्रहण करने की अद्वितीय विधि के रूप में प्रस्तुत किया गया। कृति की वस्तुनिष्ठ समझ के लिए नई समीक्षा के सिद्धान्तों ने इस पर बल दिया कि पाठक/आलोचक को, केवल रचना के भीतर प्रयुक्त वर्ण, शब्द, बलाघात, पंक्तियों, बिंबों, प्रतीकों आदि के बीच उपस्थित संबंधों की व्याख्या करनी चाहिए। कुल मिलाकर नई समीक्षा की पहली स्थापना यह है कि रचना को रचना रूप में ही ग्रहण किया जाये, किसी दर्शन, इतिहास या विचारधारा के माध्यम रूप में नहीं।
2. नई समीक्षा ने रचना के घनिष्ठ पाठ की परम्परा को स्थापित किया। घनिष्ठ पाठ का उद्देश्य साहित्येत्तर तत्त्वों से रचना को मुक्त करके कृति की आंतरिक संहिति का विश्लेषण करना था। इस संदर्भ में एजरा पाउंड की ए.बी.सी.ऑफ रीडिंग, एफ.आर. लीविस की, 'हाउ टु रीड ए पेज' और इंटरप्रटेशन इन टीचिंग आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

3. नई समीक्षा में कृति को भाषिक संरचना के रूप में देखने का आग्रह किया गया। रचना को यहाँ सम्प्रेषण की विधि कहा गया। चूँकि पत्रकारिता एवं अन्य साधनों ने भाषा को व्यापक रूप से भ्रष्ट किया है, अत: इस धारा के आलोचकों ने साहित्यिक सम्प्रेषण को तीव्र बनाने पर बल दिया।
4. नई समीक्षा के प्रारंभिक समय में मूल्यांकनपरक समीक्षा से दूरी बनाई गई। नई समीक्षा के आलोचक मूल्य की अपेक्षा प्रविधि पर अधिक बल देते थे। इनके विषयीगत अभिरूचि के निर्माण में मनोविज्ञान का हाथ था तो वस्तुनिष्ठ आलोचनात्मक प्रमिमानों के निर्माण में आधुनिक विज्ञान की भूमिका स्वीकार की गई है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

हिन्दी साहित्य में यर्थाथवाद

आन्दोलन के रूप में यर्थाथवादी आन्दोलन उस रूप में नहीं चला है, जिस रूप में बिंबवाद या प्रतीकवाद का आन्दोलन एक विचारधारा के रूप में जरूर इस पर लम्बी चर्चा मिलती है। हिंदी मे यर्थाथवाद शब्द का प्रयोग अंग्रेजी शब्द रियलिज्म के पर्याय रूप में होता है। यर्थाथवाद आन्दोलन से ज्यादा प्रवृत्ति है। इसीलिए यर्थाथवादी होना साहित्य की एक प्रवृत्ति मानी गई है। एक विशेष प्रकार के उपन्यासों को जिस प्रकार यर्थाथवादी उपन्यास कहा गया, एक विशेष प्रकार की कविताओं को उसी प्रकार यर्थाथवादी किस्म की कविताएँ कहा गया। इसी प्रकार का प्रयोग साहित्य की अन्य विधाओं पर भी किया गया। यर्थाथवाद का शाब्दिक अर्थ है जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में ग्रहण करना। साहित्य के संदर्भ में हालाँकि यह मुश्किल है कि हम समाज, राजनीति या जीवन को उसी रूप में ग्रहण कर पायें। सिद्धान्त रूप में यर्थाथवादी आग्रह का पालन करते हुए भी व्यवहार में रचना का अपना विज्ञान होता है, जिसके कारण साहित्यिक रचनाएँ उस प्रकार से यर्थाथवाद का प्रतिनिधित्व नहीं करती जिस प्रकार विज्ञान या सामाजिक विज्ञान के अन्य अनुशासन। यर्थाथवाद पर विचार करते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है – 'पश्चिम में इस शब्द का लंबा इतिहास है तत्त्वदर्शन; मेटाफिजिक्स) ज्ञान मीमांसा ; ऐपिस्टमोलॉजी) और प्रत्ययवाद ;कांस्पेचुअलिज्म) में यह अलग – अलग अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तत्त्व दर्शन के अनुसार यर्थाथवाद का अर्थ है कि सामान्य (यूनीवर्सल) की सत्ता विशेष के पूर्व होती है। भागवत चेतना है और सृष्टि उस चेतना की प्रतिकृति है। प्लेटो का अनुकृति सिद्धान्त इसी दर्शन पर आधारित है। इसी को वह यर्थाथवाद कहता है। ज्ञान – मिमांसा में ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता से भिन्न और स्वतंत्र होती है यदि पदार्थ का ज्ञान ज्ञाता के चित्त पर आश्रित रहता है तो उसे ज्ञान संबंधी विद्वाद; ऐपिस्टेमोलॉजिकल आइडियलिज्म) कहा जाता है। साहित्यिक यर्थाथवाद का सम्बन्ध ज्ञान-मीमांसा के यर्थाथवाद यानी ज्ञाता से भिन्न ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता से है। डॉ० बच्चन सिंह ने यर्थाथवाद को दृष्टिकोण तथा पद्धति दोनों माना है। जीवन समाज की जटिलता एवं विविधता को व्यक्त करने के लिए यर्थाथवाद के कई वर्गीकरण किये है। प्रकृतिवाद मनोवैज्ञानिक, यर्थाथवाद, आलोचनात्मक यर्थाथवाद, सामाजिक यर्थाथवाद, अतियर्थाथवाद, इत्यादि शब्द सभी यर्थाथवाद की ही भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं। जैसा कि कहा गया कि पूर्व की रचनाओं में भी चित्रण को अधिक पूर्ण, वातावरण को अधिक जीवंत, रचनाशीलता को सार्थक बनाने का प्रयास किया जाता रहा है किन्तु यर्थाथवाद दार्शनिक वैज्ञानिक आधार को लेकर चलने वाला एक आन्दोलन था। इसकी पृष्ठभूमि में कई चीजें काम कर रही थीं जैसे औद्योगिकीकरण, डार्विन की वैज्ञानिक स्थापनाओं, बेकन, देकार्त, फायरबाख तथा मार्क्स-एंगेल्स जैसे विचारकों के मत। यर्थाथवाद के सम्बन्ध मे शिप्ले ने तीन भूमियों की आवश्यकता पर बल दिया है—

(क) चित्रण को अधिक समर्थ पूर्ण तथा प्रभाशाली बनाने के हेतु वस्तुस्थिति के एक-एक ब्यौरे को एकदम सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास।

(ख) एक प्रेरक सिद्धान्त तथा सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले एकमात्र सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान अथवा लक्ष्य के रूप में उसकी स्वीकृति।

(ग) वह आन्दोलन जो दूसरी स्थिति ख से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ 19वीं शताब्दी के उत्तरकाल में विकसित हुआ।

यर्थाथवादी काव्यान्दोलनों पर टिप्पणी करते हुए एंगेल्स ने लिखा है—'मेरे विचार से यर्थाथवाद का आशय यह है कि लेखक विवरणों और ब्यौरों के सतत प्रस्तुतीकरण के अलावा प्रतिनिधि पात्रों को प्रतिनिधि परिस्थितियों मे सच्चाई के साथ चित्रित करें। 'यानी कौन सी परिस्थिति प्रतिनिधि; टिपिकल) है और कौन से पात्र प्रतिनिधि हैं इनकी जाँच का कार्य केवल सत्यान्वेषी वस्तुमुखी दृष्टि ही कर सकती है। मिथ्या वस्तुपरकता एवं मिथ्या व्यक्तिपरकता से इतर लुकाच यर्थाथवाद को समस्त प्रकार के झूठे असमंजसों के विरूद्ध सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचने वाला एक तीसरा रास्ता है।

TOUCH 'n PASS

प्र.2. संरचनावाद का आलोचनात्मक संदर्भ में सामान्य परिचय दीजिए।

उत्तर

संरचनावाद

फर्डीनांद सासूर (1857-1913) ने भाषा में संरचनावाद की नींव डाली यह रूसी-रूपवाद के लगभग समांतर हुआ। इसीलिए आधुनिक संरचनावादी और उत्तर-संरचनावादी सासूर को अपना जनक मानते हैं। सासूर मानते हैं कि भाषा एक व्यवस्था है। वह चिह्नों की निर्मिति है। चिह्न जो मनमाने और भेदपरक होते हैं। एक भाषाई चिह्न में दो तत्त्व होते हैं। एक स्वरूपित (लिखित) और दूसरा उसका विचार। पहला तत्त्व व्यंजक है और दूसरा व्यंग्य। मसलन 'पेड़' शब्द पढ़ या सुनकर हम एक व्यंजक प्राप्त करते हैं जो तुरंत ही हमारे मन में पेड़ का चिह्न बन जाता है। शब्द अर्थ की परस्परता का मनमाना अथवा नियमरहित होना ही वह तत्त्व है जो सासूर ने भाषा विज्ञान और संरचनावाद को दिया। सासूर के यहाँ यर्थाथ और उसके बोध यानी वस्तुगत यर्थाथ और दिमाग के बीच की खाई बहुत साफ थी। सासूर मानते थे कि दुनिया का ज्ञान बहुत जटिल रूपों में आता है, वह भाषा के भीतर से आता है। जटिल होने के कारण इसके वाहक चिह्न स्वतंत्र होते हैं। यह स्वतंत्रता ही शब्द और अर्थ को अलग कर देती है। शब्द यर्थाथ की खिड़की नहीं बनते। वे यर्थाथ के शीशे नहीं बनते, दर्पण नहीं होते बल्कि शब्द अपने साथ अन्य तमाम व्यंजकों को लिये आते हैं। सासूर मानते हैं कि भाषा के बिना ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश संभव नहीं है। हमारा यर्थाथ इस तरह अनेक भाषाओं के द्वारा पैदा अपने भीतर के समय और वैषम्य से बनता है। विचार और अर्थ की यह परम्परा नए संरचनावाद का प्रथम बिन्दु है। नए संरचनावादियों में समाजशास्त्री नेतृत्त्व-विज्ञानी क्लोड लेबी स्ट्रास और रोलॉ बार्थ प्रमुख हैं। स्टाम्स तथा बार्थ ने संरचनावाद को एक पूरे विज्ञान के रूप में विकसित करने की कोशिश की। सातवें दशक में स्ट्रास, बार्थ, फूको, अल्सर, लाकाँ आदि ने अपने-अपने मार्ग से आकर संरचनावाद को एक पूरे विज्ञान के रूप में विकसित करने की कोशिश की है। यह कोई एकीकृत भाषागत अथवा साहित्यगत आन्दोलन नहीं था लेकिन इसका असर बहुत व्यापक हुआ। संरचनावाद विचार की एक पद्धति के रूप में स्थापित हुआ।

संरचना क्या है ? संरचना स्थापत्य कला में, विभिन्न अंगों की व्यवस्था का नाम है, जिसमें हर चीज एक- दूसरे से सम्बद्ध हो जाती है, जिसमें अलग - अलग तत्त्व एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, जिसमें एक निश्चित रूप उभरता है, जो अनेक स्तरीय संरचना के लिए 'मॉडल' यानी आदर्श होता है, अंतिम संरचना होता है। यह अंतिम संरचना जो हर छोटी से छोटी संरचना में होती है, 'अर्थ' का केन्द्र होती है। वह हर चीज को मायने देती है। संपूर्णता का विचार, आत्म-नियमन का विचार और रूपान्तरण का विचार, ये तीन विचार संरचनावाद का सार हैं। हर स्थिति संपूर्ण है, सकल है। वह अपने नियमों से परिचलित है। वह लगातार रूपान्तरित होती है। अब तक का ज्ञान, आवयविक संरचना के मुकाबले रूपात्मक (मनुष्याकत) संरचना का विचार नए संरचनावाद का सार है। संरचनाओं का रूपान्तरण वाला तत्त्व इस नए संरचनावाद की एकमेव विशेषता है जो मानता है कि संरचनाएँ रूपान्तरित होती हैं, इसीलिए उनका अध्ययन उपयोगी है। ज्ञान के लिए रूपांतरण के तत्त्व मे ही संरचनावाद को संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर दिया, नए संरचनावादी प्राय: संस्कृति के रूपाकारों को संरचना के रूप में लेते हैं। वे उनकी प्राथमिकता तथा अन्य निर्णायक विशेषताओं की खोज करते हैं जिनमें उस रूप में गति आती है, आत्मानुशासन आता है, संपूर्णता आती है। यह सब उन्हें सतह पर ही मिलता है, रूप में ही मिलता है। सासूर ने बहुत पहले कहा था कि रूपों के भीतर गहरे में बहुत सी संरचनाएँ काम करती हैं। संरचनावादी वह प्रयत्न है जो गहनता में उतर कर छिपे तंत्र को, संरचना को देखता है। संरचनावादी होने के लिए जरूरी है कि किसी संरचना में दो चीजें अनिवार्यतया हों—(क) वह रूपात्मक हों, रूपानतरण करने वाली हो, वह सिर्फ अनुभववादी स्थिति न हो। (ख) संरचना अपने, सामाजिक समग्र के साथ एक- एक स्तर पर उपलब्ध हो।

लेवीस्ट्रास ने समाज शास्त्रों मे संरचनावादी अध्ययन के लिए तीन चीजें अनिवार्य बताई (क) अध्ययन योग्य वस्तु सार्वभौमिक सत्ता रखने वाली हो, वह हर समाज में उपस्थित हो, (ख) उनकी पद्धति एक रूप वाली हो, (ग) वे सुपरिभाषित हों। संरचनावाद का अवदान यह है कि इसने समूचे जीवन को भाषा की संरचनाओं मे सुव्याखेय और सुपरिभाषेय सिद्ध किया। साहित्यिक संरचनावाद इस भाषिक संरचनावाद का एक पूरक हिस्सा भर है। साहित्य में संरचनावादी सिद्धान्त में हम पाते हैं कि लेखक का लोप रूप की वापसी, विज्ञान सम्मत विश्लेषण क्षमता आदि बातें पहले भी हुईं लेकिन संरचनावाद ने इन्हें पूरे शास्त्र का रूप दे दिया। लेवीस्ट्रास पहले बड़े चिंतक हुए जिन्होंने सासूर के इस संरचनावाद को आगे बढ़ाया और संरचनात्मक विज्ञान की अवधारणा विकसित की। सासूर और स्ट्रास की अवधारणाओं के समांतर रोलॉ बार्थ ने साहित्य की संरचनावादी व्याख्या प्रस्तुत कीं। उन्होंने संस्कृति को 'भाषा' माना। इस भाषा के 'चिह्न' चुने, संरचनाएँ चुनी और बताया कि आधुनिक संस्कृति की संरचना भाषा की तरह है। बार्थ ने आलोचना को एक स्वतंत्र काम बना डाला। उन्होंने बताया कि चिह्न विज्ञान (भाषागतवस्तु या पाठ) से आगे निकल जाती है। वह ऐसी दूसरी भाषा हो जाती है जो पहली भाषा से आगे जाती है। यह पद्धति संरचनावाद का असली विमर्श है। रचना के चिह्नों की संहिता को आगे बढ़ाना और उन्हें आजाद कर देना। हर संरचना एक हद के बाद अपनी संहिता को

स्वाभाविक बनाने लगती है, इसलिए उसे बार-बार देखना पड़ता है। इसीलिए बार्थ एक क्रान्तिकारी नतीजे पर पहुँचे कि संरचनावाद एक पद्धति, वह एक कर्म है, व्यवहार है, वह 'पाठ का उन्मुक्त व्यवहार है। वह एक सतत पाठ है। बार्थ ने अस्तित्त्ववाद की नायकत्व के नैतिक सिद्धान्त को चुनौती दी। 'राइटिंग डिग्री जीरो' में बार्थ लिखते हैं कि साहित्य एक संचार है, भाषा है, पाठ है। बार्थ साहित्य में सामान्य का अंत देखते हैं। बार्थ समस्या में साहित्य पाते हैं। रोला बार्थ 'पढ़ने' को आलोचना नहीं मानते। आलोचना कर्म पढ़ने के कर्म से भिन्न है। एक अच्छा पाठ, अवधानपूर्वक पाठ, अधिक से अधिक एक पाठ का शब्दश: दुहराव-भर है। आलोचन का काम 'एक पाठ के लिए एक अर्थ का निर्माण' है। सिर्फ 'अर्थ खोलना नहीं'। इसका कारण है कि पाठ की संरचना 'एक अर्थ' नहीं रखती। संरचना के चिह्न और संहिता अनेकार्थ की स्थिति पैदा करती है। 'पाठ' हमेशा बहुलार्थी या अनेकार्थी होता है। संरचनावाद की यह व्यवस्था जो पाठ से अर्थ की उपस्थितियों को चिह्नों की स्वतंत्र लीला पर निर्भर मानती है, वहाँ किसी के निजी अर्थ की कोई गुंजाइश नहीं है। यही वर संरचनावादी सिद्धांत में विषयी (लेखक) का विकेंद्रण है। यह यही वर बिंदु है जहाँ बार्थ अचानक उत्तर-संरचनावादी सूत्रों के संकेत देते हैं जिनका पूर्ण विकास जॉकदेरिदा के विमर्श में देखने को मिलता है।

प्र.3. हिन्दी साहित्य में विखण्डनवाद का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

उत्तर

हिन्दी साहित्य में विखण्डनवाद

विखंडन क्या है? इस पर देरिदा कहते है विखंडन विचार को निरस्त करता चलता है। विचारधारा जो पश्चिमी दर्शन का सत्तावादी भ्रम है। विचारधारा यानी तर्क जो पश्चिमी समाज का संचालक रहा है। विखंडन इस तर्क को व्यर्थ करता है। विखंडनवादी दृष्टि में सब बराबर है। आलोचना, दर्शन, भाषाविज्ञान, नृविज्ञान आदि तमाम मानव विज्ञान देरिदा के लिए विखंडन वस्तु है। सभी कुछ देरिदा का लक्ष्य है। पॉल द मान ने 'ब्लाइंडनैस ऐंड इनसाइट' में नव्यालोचनाओं का विखंडन किया है और पाया कि रचना में आधारभूत रूपकों को ढूँढने के लिए नव्यालोचना को पढ़ना अंतत: एक ऐसी 'अंधता' है जो नव्यालोचना की अंतर्दृष्टि में ही निहित है। देरिदा ने कहा कि यह पश्चिमी विमर्श का अपराध है कि वह भाषा के खेल को नष्ट करता है, उसे एक अर्थ प्रदान करना चाहता है जैसा कि 'वाक्' (वाणी) में होता है। वाक् में (वाचित) एक अर्थ उपस्थित होता है वक्ता का आशय। 'विमर्श' की प्रक्रिया को इसके लिए उलटना जरूरी है। विखंडन में पाठ-प्रक्रिया अलग होती है। पढ़ने का ढंग बदलना होता है। साहित्यिक पाठ (टैक्सट) को अलग से पढ़ना होता है पाठ इसलिए नहीं पढ़े जाने चाहिए कि अंतर्दृष्टि खोजनी है, बल्कि उन अंधताओं को पाना है जो अंतर्दृष्टि की सीमा होती है। पाठ की 'स्वायत्रता' को इस क्रम में तोड़ दिया जाता है। यह विखंडनात्मक पाठ ही देरिदाई विखंडन का स्रोत है। देरिदा के अनुसार, 'पाठक' एक कार्रवाई है, 'भेद' की भाषा है। 'भेद' स्थापना है। यही अलग चीज है। देरिदा बताते हैं कि बोला गया शब्द (वाक्) बोलने वाले की दरकार रखता है ताकि प्रामाणिकता पा सकें। सासूर लिखित को जीवनरहित भाषा मानता है। बोला गया शब्द सीधा अर्थ देता है। लेकिन लिखित शब्द की सत्ता (शुद्ध उपस्थिति) को खो देता है। देरिदा कहते हैं कि लेखन भाषा की पूर्वशर्त है। वह 'वाक्' से पहले रहती इसलिए लेखन को दोयम नहीं कहा जा सकता। लेखिन, देरिदा के लिए एक स्वतंत्र खेल या लीला है। लीला का यह तत्त्व, अनिश्चय का यह तत्त्व संचार के हर रूप में मौजूद रहता है। लेखन इसीलिए अर्थ का 'अनंत दबपदला' ('डिस्पलेसमेंट) है जो भाषा का अनुशासन करता है और इकहरा नहीं रहने देता और उसे स्वत: प्रामाणिक बनाता है। सारी समस्या शब्दार्थ की है। 'शब्द' के बाद 'अर्थ' की अर्थ के बाद है 'शब्द'? 'लिखित' को दोयम रखने के प्रयत्नों को देरिदा पश्चिमी दर्शन के इतिहास में खोजकर सिद्ध करते हैं। देरिदा इस तरह भाषा और विचार के सम्बन्ध को 'उलट' देते हैं। यही विखंडन है। यह निर्णायक है। यही विखंडन की हिंसा है। इइे ही देरिदा संरचनावाद की 'विखंडन' की पूर्व-शर्त कहते हैं। सासूर ने संरचना को उस बिन्दु तक पहुँचाया जहाँ वह अपनी संरचना में कैद हो गया। 'विखंडन' एक ऐसी रणनीति बनाता है, जो दिए गए 'पाठ' के तत्त्वों का क्रम उलटा कर देता है और उन विरोधों (तनाव) को तोड़ देता है जिस पर 'पाठ' टिका होता है। विखंडन इस प्रकार एक कार्रवाई (स्ट्रैटेजिक) है। पढ़ने की कार्रवाई। पढ़ना, जो पाठ से बँधा है और जो 'बंद' नहीं है। देरिदा के लिए लेखन एक ही साथ तमाम सांस्कृतिक कर्म का स्रोत है और अपने भीतर निहित ज्ञान को 'दबाने' वाला भी है। विखंडन इस 'लेखन' की कैद में दब रहे 'अर्थ' को मुक्ति देता है। इसीलिए देरिदा कहते हैं 'पाठ' के बाहर कुछ नहीं है।

देरिदा की मौलिकता यह है कि उनका विखंडन सत्यता का दावा करने वाले 'तर्क' को उसी के विरोध में खड़ा करके देखता है और उस में छिपे हुए अर्थ को खोजता है। यह देरिदा की 'पाठात्मक रणनीति' (पढ़ने का ढंग) है।

देरिदा संरचनावाद को एकदम व्यर्थ नहीं कहते। वे सिर्फ यह बताते हैं कि अंत में संरचनावाद भाषा की कैद में बंद हो जाता है। देरिदा मानते हैं कि संरचनावाद ने इस प्रश्न को लगभग अंतिम ऊँचाई से उठाया कि क्या भाषा चीजों को तय करती हैं? देरिदा

कहते हैं कि भाषा चीजों को स्थिर करते हुए स्वंय जब स्थिर होने के लिए अभिशप्त हैं तो वह अपनी कैद बना लेती हैं। संरचनावाद की यही बड़ी सीमा है कि वह अपनी कैद अपने-आप है।

डॉ० सुधीश पचौरी के अनुसार, उत्तर-आधुनिक विखंडन के कुछ सूत्र इस प्रकार हैं—

1. क्रम का उलटना, विखंडन का प्रथम कदम है। क्रम उलटने से जो शून्य बनते हैं उनमें हस्तक्षेप किया जा सकता है। कार्य-कारण शृंखला उलटने से विखंडन शुरू होता है।
2. विखंडन करते हुए हमें देखना होगा कि पाठ जो बात कहना चाहता है उसे 'दबाता' कैसे है? इसके लिए विखंडन उन्हीं सिद्धान्तों का सहारा लेता है जिन्हे वह विखंडित करता है।
3. कारण-कार्य के उलटने से कार्य-कारण बन जाता है। कार्य से कारण की ओर आया जाता है।
4. लेखन वाक् का पूरक है। वाक् स्वंय एक पूरक हुए पाठ लेखन का पूरक है। पूरकों की एक शृंखला है साहित्य और कुछ नहीं।
5. विखंडन पाठ का केंद्र नहीं ढूँढता ताकि उसकी सारी समस्याएँ एक बार में ही समाप्त हो जाएँ।
6. पार्थक्य वह गति है जिससे भाषा बनती है।
7. इतिहास कोई विशेष अधिकार वाला क्षेत्र नहीं, वह भी एक पाठ है।
8. उलटना एक खेल है। अर्थ इसी में छिपा है।
9. 'विखंडन' कोई सिद्धान्त नहीं है जो किसी शास्त्र का रास्ता दिखाए।
10. प्रतिरोपण या कलम लगाना ही असली हस्तक्षेप है। 'पठन' स्वंय एक प्रतिरोपण है।
11. प्रतिरोपण की यह पद्धति विचार की परम्परागत प्रकिया को भंग कर देती है और नई प्रक्रिया शुरू करती है। वह चित्रों, शब्दरूप और अर्थ के नए संबंध बनाती है।
12. लेखन इस तरह एक पूरक कर्म है। पूरक यानी एक प्रयत्न। बाहर से किया गया। पूरक ही 'पार्थक्य' पैदा करता है।
13. विखंडन में परस्पर विलोम तत्त्व इस प्रकार चलते हैं— उपस्थिति-अनुपस्थिति। वाक् लेख। दर्शन-साहित्य। शाब्दिक अलंकारगत। केंद्रीय-उपकेंद्रीय या हाशिए वाले। उपस्थिति अर्थ के मुकाबले अनुपस्थिति अर्थ, वाणी का विलोम लेखन, दर्शन का विलोम साहित्य, शब्दों की जगह अलंकार, केंद्र के विलोम उपकेंद्र (अथवा इसका उलटा क्रम) हर वक्त रहता है।
14. शास्त्रहीनता विखंडन की मूल विशेषता है हर विज्ञान को 'पाठ' की तरह 'पढ़ना' और उसकी एक निजी पद्धति विकसित करना एक शास्त्रहीन स्थिति पैदा कर देता है।
15. दर्शन केंद्रवादी है। साहित्य उभयकेंद्रवादी। दर्शन एक सत्य, एक तर्क, एक व्यवस्था देखता है।
16. विखंडन अनुपस्थिति अथवा परिव्यक्त या निकाल दिए गए में दिलचस्पी रखता है।
17. विखंडन स्त्रियों, दलितों, कवियों, देवताओं तथा पागलों के पास भी 'सत्य' का होना मानता है। वह मानता है कि औरतें कवि, देवता, पागल, हाशिए के लोग, सब जिन व्यवस्थाओं में रहते हैं, वे उनमें अपनी हाशियाकृत स्थिति से 'सत्य' प्राप्त कर सकते हैं। वे ऐसे सत्य खोज सकते हैं जो 'सर्वानुमति' को गलत सिद्ध करते हैं और जो अभी तक के रूप (समीक्षा) में दिखाई नहीं दे सकते।
18. पाठ का अंदरूनी तर्क वैसा ही है जैसा पौधे की 'कलम लगाना' (प्रतिरोपण) पौधे में बाहर से नई कलम लगाना, जोड़ना, घटाना, साफ करना रोपना यही विखंडन की रणनीति की कार्रवाई है।
19. सत्य संरचना में भी हो सकता है और वहाँ भी जहाँ वह संरचना नहीं है। सत्य जितना उपस्थित होता है, उतना ही अनुपस्थित भी हो सकता है।
20. विखंडन सत्य का नया सिद्धान्त नहीं है बल्कि 'पाठ' का सिद्धान्त है, लेखन का सिद्धान्त है। वह उन शून्यों में जाता है जहाँ सत्य हो सकता है।
21. विखंडन कोई तयशुदा विमर्श नहीं है।

TOUCH 'n PASS

22. हरेक पाठ एक अधूरा (या गलत) पाठ (मिसरीडिंग) होता है इसीलिए हर बार पाठ नया और नया होता है।
23. विखंडन दुहराव (पाठ) बिखराव (उलटक्रम) द्वारा पैदा किया जाता है। यह एक सूत्रीय नियम नहीं देता।
24. विखंडन की मौलिकता यह है कि वह अंतिम सत्य कहने का दावा नहीं करता।

प्र.4. साहित्य में कलावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों तथा मान्यताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

साहित्य में कलावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

कलावाद की मूल प्रवृत्ति है, कला को स्वतंत्र मूल्य के रूप में मान्यता देना। किसी भी महत्त्वपूर्ण सिद्धांत में अनेक विचारकों का चिंतन शामिल होता है। भिन्न-भिन्न विचारक सिद्धांत के भिन्न-भिन्न पक्षों का विवेचन करते हैं और यह तमाम विवेचन समग्र रूप में उस सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी एक पक्ष को लेकर दो विचारकों के मत बिल्कुल विपरीत होते हैं। किसी सिद्धांत की प्रवृत्तियों की चर्चा करते समय हम सभी प्रवृत्तियों को समेट लेते हैं, पर यह संभव है कि उनका कोई विशेष पक्ष कुछेक विचारकों द्वारा ही अनुमोदित हुआ हो, सबके द्वारा नहीं। कलावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

1. **कला की स्वायत्तता**—कलावादी विचारकों का मानना है कि कला अपने आप में पूर्ण होती है। उसे एकमात्र कला के मूल्यों से ही शासित होना चाहिए—सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक या धार्मिक मूल्यों से नहीं। इस प्रकार का बाहरी अनुशासन कला को बाधित कर देता है।
2. **कला का प्रयोजन**—कला के मूल्य वस्तुत: सौंदर्य के मूल्य होते हैं। कला मात्र सौंदर्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती है और उसका प्रयोजन होता है सौंदर्य की सृष्टि। नैतिक शिक्षा, उपदेश या समाज का उत्थान कला का कार्य नहीं है। सौंदर्य के सृजन के साथ ही उसका लक्ष्य पूरा हो जाता है।

   यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि सभी कलावादी विचारकों ने कला को सामाजिकता और नैतिकता से ऊपर नहीं माना है। बॉदलेअर तथा पेटर जैसे रचनाकारों ने नैतिकता का पृथक मूल्य न मानते हुए उसे सौंदर्य में ही समाहित किया है। वे मानते हैं कि सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की किसी भी रचना से उसकी शुद्ध सौंदर्य सृष्टि से भी सामाजिक तत्त्व पूरी तरह बहिष्कृत नहीं हो सकता। चाहे अनचाहे उसकी कला पर इस तत्त्व का प्रभाव आ ही जाता है। बॉदलेअर मानते थे कि नैतिक वक्तव्य कला में घुला-मिला रहता है। पेटर ने उसी कला को महान माना जो हमारे जीवन को ऊँचा उठाती हो किंतु स्पष्ट उपदेश दिए बिना। ऐडगर ऐलन पो का कहना है कि सौंदर्य और कला अभिन्न हैं और कला के चिंतन से मिलने वाला आनंद आत्मा को उत्कर्ष करता है। सुंदर का संबंध उदात्त से है इसलिए प्रासंगिक रूप से ही सही, इसमें नैतिकता तथा वस्तु-जगत के सत्य का समन्वय हो ही गया है।
3. **कला का स्वरूप**—कलावादियों ने कला का संबंध चेतना से माना। सौंदर्य एक अनुभूति होती है जो चेतना में स्थित होती है। कला भी चेतना की ही प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का लक्ष्य केवल कला है जो सहृदय के मन को उदात्तता और शांति से भर देती है।

   कला प्रकृति से श्रेष्ठ होती है क्योंकि प्रकृति अपूर्ण होती है व कला पूर्ण प्रकृति में कुरूपता भी दिखाई देती है जबकि कला उसे सुंदर रूप में प्रस्तुत करती है। कला विशुद्ध सौंदर्य है। वह बाहरी भावों पर ही नहीं बाह्य विषय-वस्तु पर भी आधारित नहीं होती क्योंकि विषय-वस्तु की विशेषताओं की तरफ ध्यान खिंच जाने से प्रमाता विशुद्ध कला का आनंद नहीं ले पाता।
4. **कल्पना का महत्त्व**—यथार्थ सृष्टि की अपूर्णता और कुरूपता को पूर्णता और सुंदरता में बदलकर प्रस्तुत करना कल्पना का ही कार्य है। रचनाकार सृष्टि से सुंदर अंश चुनकर प्रस्तुत नहीं करता बल्कि उसकी सौंदर्य-दृष्टि और अभिव्यक्ति का सौंदर्य कलाकृति को अपने आप ही सुंदर बना देते हैं। यह सौंदर्य-मंडन कला के माध्यम से ही संभव होता है।
5. **शिल्प**—कलावादियों ने विषय-वस्तु को कला की अभिव्यंजना में बाधक माना। मगर शिल्प-विधान को इन्होंने महत्त्व दिया—विशेषकर बॉदलेअर, गोतिए और वाइल्ड ने। किंतु पेटर ने माना कि केवल शिल्प श्रेष्ठ कला को जन्म दे सकता है महान कला को नहीं। कला महान तभी होती है जब वह मानव जीवन को ऊँचा उठाए। शिल्प और शब्द-चयन भी तभी उपयुक्त होते हैं जब वे कलाकार की दृष्टि का सम्प्रेषण कर सकें।

इस प्रकार, कलावाद की प्रमुख मान्यताओं पर विचार करते हुए आपने यह भी देखा कि मुख्य प्रवृत्तियाँ समान होने पर कभी कुछ बिंदुओं पर विचारकों में मतभेद रहा है। अपने युग के रचनाकारों तथा साहित्यशास्त्रियों पर इस सिद्धांत का गहरा प्रभाव पड़ा।

TOUCH 'n PASS

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. बिम्बवाद ने सीधी अभिव्यक्ति के स्थान पर किसको काव्य के लिए अनिवार्य बताया?
(क) वाच्यार्थ (ख) बिंब को (ग) मुक्ति (घ) प्रतीक
उत्तर (ख) बिंब को

प्र.2. "कविता का काम हमारे सामने विचार (कांसेप्ट) लाना नहीं है, बल्कि बिंब खड़ा करना है।" यह कथन किसके द्वारा कहा गया है?
(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ख) एमी लावेल
(ग) डॉ० बच्चन सिंह (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्र.3. प्रतीक आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ?
(क) फ्रांस में सन् 1886 में (ख) जर्मनी में सन् 1870 में
(ग) अमेरिका में सन् 1896 में (घ) इंग्लैण्ड में सन् 1920 में
उत्तर (क) फ्रांस में सन् 1886 में

प्र.4. अतियर्थार्थवाद काव्यान्दोलन किस सन् के वाद विकसित हुआ?
(क) सन् 1905 (ख) सन् 1910 (ग) सन् 1920 (घ) सन् 1925
उत्तर (ग) सन् 1920

प्र.5. बार्थ के अनुसार साहित्य के निर्माण में कितनी संहितायें काम करती हैं?
(क) 2 (ख) 3 (ग) 4 (घ) 5
उत्तर (घ) 5

प्र.6. लेवीस्ट्रॉस द्वारा विकसित संरचनावाद में निरंकुशता के तत्त्व सर्वप्रथम किसने खोजे?
(क) लाकाँ (ख) असपस मिशेल फूको (ग) सुई अल्थुरूर (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (क) लाकाँ

प्र.7. स्पीच एंड फिनोमिना किसकी रचना है?
(क) मिशेल फूको (ख) लाकाँ (ग) जॉक देरिदा (घ) लेवीस्ट्रॉस
उत्तर (ग) जॉक देरिदा

प्र.8. चिह्न संहिता (सेमी कोड) किसको तय करती है?
(क) मूल विचार को (ख) कार्य व्यवहार को (ग) पाठ को (घ) वाक्य को
उत्तर (क) मूल विचार को

प्र.9. शास्त्रवाद या अभिव्यंजनवाद धारा के रचनाकार ऐतिहासिक एवं प्राचीन रचनाओं के ..... करने पर अधिक जोर देते हैं।
(क) अनुभव (ख) व्याख्या (ग) दोनों (क) व (ख) (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ग) (क) व (ख) दोनों

प्र.10. शास्त्रवाद शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के किस शब्द से हुई?
(क) क्लेवर (ख) क्लासिज्म (ग) कल्चर (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर (ख) क्लासिज्म

प्र.11. किसने यर्थार्थवाद को दृष्टिकोण तथा पद्धति दोनों माना है?
(क) डॉ० बच्चन ने (ख) प्लेटो ने (ग) देकार्त ने (घ) कार्विन ने
उत्तर (क) डॉ० बच्चन ने

TOUCH 'n' PASS

प्र.12. यर्थाथवाद के सम्बन्ध में शिल्पे ने कितनी भूमियों की आवश्यकता पर बल दिया है?
(क) 2 (ख) 3 (ग) 4 (घ) 5
उत्तर (ख) 3

प्र.13. आधुनिक संरचनावादी और स्तर संरचनावादी किसको अपना जनक मानते हैं?
(क) सासूर (ख) स्ट्रॉस (ग) लाकाँ (घ) रोलाँ बार्थ
उत्तर (क) सासूर

प्र.14. विचार व अर्थ की यह परम्परा किस वाद का प्रथम बिन्दु है?
(क) यर्थाथवाद (ख) नव्य अभिजात्यंवाद (ग) नया संरचनावाद (घ) कलावाद
उत्तर (ग) नया संरचनावाद

प्र.15. किसने 'ब्लाइंडनैस ऐंड इनसाइट' में नव्यालोचनाओं का विखंडन किया है?
(क) देरिता (ख) पॉल द मान (ग) लेवी स्ट्रॉस (घ) सासूर
उत्तर (ख) पॉल द मान

प्र.16. किसके अनुसार, पाठक एक कार्यवाही है, भेद की भाषा है, भेद स्थापना है?
(क) देरिता (ख) सासूर (ग) रोलॉबार्थ (घ) प्लेटो
उत्तर (क) देरिता

प्र.17. 'द प्रास्लम ऑफ स्टाइल' किसकी रचना है?
(क) इलियट (ख) मिडलटन मरे (ग) स्पिनगार्न (घ) जॉन क्रो रैंसम
उत्तर (ख) मिडलटन मरे

प्र.18. नयी समीक्षा आन्दोलन का उदय कहाँ हुआ?
(क) अमेरीकी काव्यान्दोलन (ख) फ्रांस काव्यान्दोलन
(ग) भारतीय काव्यान्दोलन (घ) चीनी काव्यान्दोलन
उत्तर (क) अमेरीकी काव्यान्दोलन

प्र.19. नयी समीक्षा का जनक किसे माना जाता है?
(क) जॉन क्रो रैंसम (ख) सासूर (ग) टी०एस० इलियट (घ) अरस्तू
उत्तर (ग) टी०एस० इलियट

प्र.20. आन्दोलन के रूप में कलावाद का उद्‌भव कहाँ माना जाता है?
(क) फ्रांस (ख) अमेरिका (ग) यूरोप (घ) भारत
उत्तर (क) फ्रांस

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-VIII

आलोचक एवं आलोचना दृष्टि

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. आलोचना क्या है?

उत्तर आलोचना को रचनाकार और कृति दोनों के गुण-दोषों की परख करने वाला शास्त्र माना जाता है। आलोचना कृति की उपादेय पर प्रकाश डालती है। आलोचना का कार्य सिर्फ कृति के गुण और दोष की विवेचना करना आज के संदर्भ में प्रासंगिक नहीं है। आज कृति के विश्लेषण और उसकी व्याख्या को आलोचना का प्रमुख क्षेत्र माना जाता है।

प्र.2. सबसे प्रसिद्ध आलोचक कौन है?

उत्तर सबसे प्रसिद्ध नामवर सिंह हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक हैं।

प्र.3. हिंदी के प्रथम आलोचक कौन है?

उत्तर भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी साहित्य के सर्वप्रथम आलोचना लेखक हैं यदि संस्कृत में भरत मुनि ने सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र की रचना की तो हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम आलोचना ग्रंथ नाटक इन्होंने लिखा है।

प्र.4. आलोचना का मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर आलोचना से कोई भी मनुष्य बच नहीं सकता। जो मनुष्य जितना बड़ा होता है, उसकी आलोचनाएं भी उतनी ही बड़ी होती हैं। इसलिए आलोचना से घबराकर धैर्य नहीं खोना चाहिए। अपने द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया पर ही हमारा सम्मान, भावनात्मक दृढ़ता और प्रसन्नता निर्भर रहती है।

प्र.5. आलोचना के तीन प्रकार कौन-से हैं?

उत्तर आलोचना के तीन मुख्य प्रकार हैं—विनाशकारी, रचनात्मक और शिक्षाप्रद। विनाशकारी आलोचना नष्ट कर देती है; रचनात्मक आलोचना एक साथ निर्मित होती है, और यह एक समस्या की पहचान करती है और समाधान प्रदान करती है। कोई व्यक्ति जो जानता है, उसमें शिक्षाप्रद आलोचना जुड़ जाती है।

प्र.6. आलोचक की विशेषताएँ क्या हैं?

उत्तर एक अच्छे आलोचक के लक्षण हैं—स्पष्टवादिता, अधिमानत: उच्च स्तर की अपील और कौशल के साथ भाषा का उपयोग करने की क्षमता। सहानुभूति, संवेदनशीलता और अंतर्दृष्टि भी महत्त्वपूर्ण हैं। आलोचक द्वारा रूप, शैली और माध्यम सभी पर विचार किया जाता है।

प्र.7. आलोचक का मूल शब्द क्या है?

उत्तर आलोचक को 16वीं शताब्दी के अंत में लैटिन शब्द क्रिटिकस से लिया गया है, लेकिन इसका मूल ग्रीक विशेषण क्रिटिकोस से लिया गया है. जिसका अर्थ है—'समझदार, निर्णय लेने में सक्षम।' यह उस शब्द से कुछ दशकों पहले का है जो एक आलोचक द्वारा उत्पन्न की जाने वाली आलोचना-आलोचना का संदर्भ देता है।

प्र.8. आलोचना साहित्य का जनक कौन है?

उत्तर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आलोचना साहित्य के जनक माने जाते हैं।

प्र.9. आलोचना का उद्देश्य क्या है?

उत्तर आलोचना का उद्देश्य, किसी साहित्यिक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गुण और अर्थव्यवस्था का निर्धारण करना। 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। यानी कि आलोचना का कर्त्तव्य साहित्यिक कृति की विश्लेषणपरक व्याख्या है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.10. हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक कौन थे?

उत्तर हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक—कृष्णलाल, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० विनय मोहन शर्मा, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, इलाचन्द्र जोशी, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय आदि।

प्र.11. शुक्ल युग के प्रमुख आलोचक कौन है?

उत्तर शुक्ल युग के प्रमुख आलोचक हैं—गुलाबराय, बाबू श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।

प्र.12. हिंदी के युग प्रवर्तक आलोचक कौन थे?

उत्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के युग प्रवर्तक आलोचक हैं।

प्र.13. हिंदी आलोचना के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर कौन है?

उत्तर नवीन कहानी कला की समीक्षा प्रगतिवादी हिंदी आलोचना के एक समर्थ हस्ताक्षर के रूप में डॉ० नामवर सिंह का नाम लिया जाता है।

प्र.14. आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय कौन है?

उत्तर आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय साहित्यकार रामचंद्र शुक्ल रहे हैं। रामचंद्र शुक्ल हिंदी के एक प्रसिद्ध आलोचक थे, वह आलोचक होने के साथ-साथ निबंधकार, साहित्यकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि भी थेष आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म 4 अक्टूबर 1884 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना गांव में हुआ था।

प्र.15. शुक्ल युग का दूसरा नाम क्या है?

उत्तर शुक्ल युग को 'छायावाद युग, प्रेमचंद युग, प्रसाद युग के नामों से जाना जाता है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. मुक्तिबोध की नई कविता का आत्मसंघर्ष पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

मुक्तिबोध : नई कविता का आत्मसंघर्ष

मुक्तिबोध एक सर्जक के रूप में जितने बड़े कवि हैं, समीक्षक के नाते उतने ही बड़े चिन्तक भी। 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' मुक्तिबोध की बहुचर्चित आलोचना-कृति है। छायावादोत्तर हिन्दी कविता के तात्त्विक और रूपगत विवेचन में इस कृति का विशेष महत्त्व रहा है। इसमें उनके मुख्य निबन्ध शामिल हैं, जिनमें नयी कविता के सामने उपस्थित तत्त्कालीन चुनौतियों, खतरों और युगीन वास्तविकताओं के सन्दर्भ में उसकी द्वन्द्वात्मकता का गहन विश्लेषण किया गया है। कविता को मुक्तिबोध सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं और कवि को एक संस्कृतिकर्मी का दर्जा देते हुए यह आग्रह करते हैं कि अनुभव वृद्धि के साथ-साथ उसे सौन्दर्याभिरुचि के विस्तार और उसके पुन: संस्कार के प्रति भी जागरूक रहना चाहिए। उनकी मान्यता है कि आज के कवि की संवेदन-शक्ति में विश्लेषण-प्रवृत्ति की भी आवश्यकता है, क्योंकि कविता आज अपने परिवेश के साथ सर्वाधिक द्वन्द्व-स्थिति में है।

नई कविता के आत्मद्वन्द्व या आत्मसंघर्ष को मुक्तिबोध ने त्रिविध संघर्ष कहा है, अर्थात—

1. तत्त्व के लिए संघर्ष,
2. अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष और
3. दृष्टि-विकास का संघर्ष।

इनका विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं—'प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है। दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्याओं से है।' वस्तुत: समकालीन मानव-जीवन और युग-यथार्थ के मूल मार्मिक पक्षों के रचनात्मक उद्घाटन तथा आत्मग्रस्त काव्य-मूल्यों के बजाय आत्मविस्तारपरक काव्यधारा की पक्षधरता में यह कृति अकाट्य तर्क की तरह मान्य है।

TOUCH 'n' PASS

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'साहित्य में मंगल' से क्या तात्पर्य है? इसका विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : साहित्य में मंगल

'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित एक वैचारिक निबंध है जिसमें काव्य सौन्दर्य, कविकर्म, काव्य रचना के मूल उद्देश्य आदि पर विचार किया गया है। यह निबंध विचार प्रधान होते हुए भी भावुकता और बुद्धि का समन्वय है। काव्य का मुख्य लक्ष्य लोकमंगल को माना गया है और यह लोकमंगल साधनावस्था में ही संभव है। अर्थात जब प्रयत्न और संघर्ष पक्ष चल रहे होते है तब उत्कृष्ट कोटि के काव्य का निर्माण होता है एवं उससे लोक में मंगल का विधान होता है। सिद्धावस्था का काव्य भोग पक्ष को लेकर चलता है इसलिये उसमें लोक उपेक्षित हो जाता है। अध्ययन हेतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मूल निबंध प्रस्तुत है—

लोकमंगल की साधनावस्था

तदेजति तन्नैजति-ईशावास्योपनिषद्

आत्मबोध और जगदबोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाईं खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की। भावना दोनों को एक ही मान कर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनन्द-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में आदम खुदा की प्रतिमूर्ति बताया गया पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में ही दिखाई पड़ा।

सत्, चित् और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई गई- साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विकास रहता है, न सुखसमृद्धि-पूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुँधली-धुँधली फूटती हुई अन्त में वसन्त का पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है। इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोक-रजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेमव्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अन्धकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्णकवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे, भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनंद के केवल सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है। उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

1. आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।
2. आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

डंटन (Theodore Watts-Dunton) ने जिसे शक्ति काव्य (Poetry as energy) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करनेवाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की

स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो काम-शास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग-मात्र का विधायक-तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए। काव्य-समीक्षा में फरासीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से यूरोप में काव्य-दृष्टि इधर कितनी संकुचित हो गई, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबन्ध में करेंगे।

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं-रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय। हिन्दी में रामचरित मानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराजरासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबन्धकाव्य; भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत, उर्दू के वीररसात्मक मरसिये, यूरोपिय भाषाओं में इलियट, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इस्लाम इत्यादि प्रबन्धकाव्य तथा पुराने बैलेड (Ballads)।

आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं-आर्य्यासप्तशती, गाथा सप्तशती, अमरशतक, गीत-गोविन्द तथा शृंगाररस के फुटकल पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण-भक्त कवियों की पदावली, बिहारी-सत्तसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल शृंगारी पद्य, रास-पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएँ हैं। फारसी उर्दू के शेर और गजलें। अंग्रेजी की लिरिक कविताएँ (Lyrics) तथा नई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनन्द की साधनावस्था—लोक में फैली दु:ख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट-पतलून-हैटवाले को धाराप्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पण्डित-वेशधारी सज्जन को अंग्रेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्त्व का जो एक चमत्कार सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौन्दर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को नष्ट हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असौन्दर्य; अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-कला के विकास में ही योग देते पाए जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलन्त रोष है तो उसके और सब ओर करुण दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था।

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अत: अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता-चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है, आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विलक्षण सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अन्त तक सुन्दर होती है—अन्त चाहे सफलता के रूप में हो चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्य कवियों ने पूर्णता विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है, धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासन्ध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गतिविधि में पूरा सौन्दर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोघ है।

आनन्द-कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौन्दर्य का दर्शन करने वाले अनेक कवि हुए हैं। अंग्रेज कवि शेली संसार से फैले पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार

का स्वप्न देखने वाले कवि थे। उनके 'इस्लाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) नामक द्वादशसर्ग-बद्ध महाकाव्य में मनुष्य जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Cythna) से मंगल-शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दान्त अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अन्त में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक को फिर आवृत दिखाकर छोड़ दिया है।

जैसा ऊपर कहते आए हैं, मंगल-अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग अन्त में मंगल-शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा द्वैतवाद (didacticism) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायँगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्राय: दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगलशक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिए; धर्म-शासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे, कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्त:प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्राय: रख देता है। जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता हैं। मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक हृदय आकृति और गुण, सौन्दर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र-गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते हैं—

न तुला-विषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाऽकृतौ गुणा इति सामुद्रिक-सार-मुद्रणा।।

भीतरी और बाहरी सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। 19वीं शताब्दी के कवि शैली जो राजशासन, धर्मशासन, समाज-शासन आदि सब प्रकार की शासन-व्यवस्था के घोर विरोधी थे, इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सकें। उन्होंने भी अपने प्रबन्ध-काव्यों में रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए अपना प्राण तक उत्सर्ग करने वाले, घोर से घोर कष्ट और यन्त्रणा से मुँह न मोड़ने वाले, पराक्रमी, दयालु और धीर हैं उसी प्रकार रूप-माधुर्य-सम्पन्न भी।

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को न देते बनेगी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का रूप गुण सम्पन्न नायक बनाया पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होंने जो उलट फेर किया वह कला या काव्यानुभूति की किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं, बल्कि एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, जिसका शौक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले पहल प्रचलित होने पर प्राय: सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार बंगभाषा के एक-दूसरे कवि नवीनचन्द्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित किए गए है। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्य काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आए हैं और अब भी लेते हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन उद्भावना का, अपनी नई कल्पित बातों का, बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति विशेष को लेकर जो भावनाएँ उठती हैं, उनके आश्रय के लिए जब कि नये आख्यानों और नये पात्रों की उद्भावना स्वच्छन्दतापूर्वक की जा सकती है तब पुराने आदर्शों को विकृत या खंडित करने की क्या आवश्यकता है?

कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक-दूसरे पक्ष में ही केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टॉल्सटॉय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय

जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों का उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव-मण्डल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में (Conscious) रहता है और कुछ अन्तरसंज्ञा के क्षेत्र (Sub-conscious region) में छिपा रहता है। संचारी भावों के संचरणकाल में कभी-कभी उनके स्थायी भाव कारण-रूप अन्तरसंज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रतिभाव में संचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या को ही लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई होती है उस क्षण में आश्रय को ही रतिभाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अन्तर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबन्धकाव्य के प्रधान पात्र में कोई मूलप्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायीभाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर। कठोर और तीक्ष्ण-दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मंगलविधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है, उसके सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालने वाले पात्रों के उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता; चाहे उनकी व्यंजना में रस की निष्पत्ति करने वाले तीनों अवयव वर्त्तमान हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौन्दर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवों के कारण 'शास्त्र-स्थिति-सम्पादन' चाहे हो जाय पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा, पाठक केवल चरित्र-द्रष्टा मात्र रहेगा; उसका केवल मनोरंजन होगा, भाव में लीन करने वाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसको न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीजभाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावों की सुन्दरता की मात्रा उस बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती हैं। जैसे, यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलम्बित होगी कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी मित्र आदि हैं तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीजरूप में अन्तरसंज्ञा में स्थित करुणा यदि इस तरह की होगी कि इतने प्रवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा सह रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौन्दर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रों में से एक तो अपने भाई को अत्याचार और पीड़ा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जन-समूह की तो गति में बाधा डालने वालों के प्रति दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौन्दर्य के परिमाण में बहुत अन्तर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं। करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अत: साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में रामचरित को लेकर चलने वाले महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एक मात्र रस कह दिया। रामायण का बीजभाव करुणा है जिसका संकेत क्रौंच को मारने वाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुँह से निकले वचन द्वारा आरम्भ में ही मिलता है। उसके उपरान्त भी बालकाण्ड के 15वें सर्ग में इसका आभास दिया गया है जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण-द्वारा पीड़ित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि-काव्य के भीतर लोक-मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति जोर पकड़ती दिखाई देती है। सीता-हरण होने पर उसमें आत्मगौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्मगौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट्, मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्मगौरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि-सदृश क्रोध' में काव्य का यह लोकोत्तर सौन्दर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा

और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टॉल्सटॉय के अनुयायी या कुछ 'कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शैली के महाकाव्य (The Revolt of Islam) के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ानेवाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शान्तवृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रर्दशन करने वाले नहीं है। वे उत्साह की उमंग में प्रचण्ड वेग से युद्धक्षेत्र में बढ़ने वाले; पाण्ड, लोकपीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमाने वाले भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं। शैली ने भी काव्यकला का मूलतत्त्व प्रेमभाव ही माना था पर अपने को सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य भाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्ध क्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौन्दर्य और गत्यात्मक (dynamic) सौन्दर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष, दोनों उनमें पाए जाते हैं।

टॉल्सटॉय के मनुष्य-मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहने का बहुत कुछ कारण साम्प्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हल्की रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण को समझना चाहिए। टॉल्सटॉय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं पर केवल पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा की दौड़-धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रर्दशन, त्याग, कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौन्दर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे 'आध्यात्मिक शक्ति' कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति-मनुष्य की अन्त: प्रकृति की सात्विक विभूति मानते हैं। विदेशी अर्थ में इस 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। 'आध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में दूसरे भावों की तह में अर्थात् अन्तरसंज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप में भी और प्रकाशरूप में भी। हम पहले कह आए हैं कि लोक में मंगलविधान की ओर प्रवृत्त करने वाले दो भाव हैं-करुणा और प्रेम। यह भी देखने में आया है कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचण्ड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्वगुण प्रधान हैं। त्रिगुणों मे सत्गुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि तक जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्य जी ने सच्चिदानन्द के सत् स्वरूप का प्रकाश तक जा करने वाली शक्ति को 'सन्धिनी' कहा है। व्यवहार में भी 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिए जाते हैं 'जो वास्तव में हो' तथा 'अच्छा या शुभ'।

जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्द-कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्वगुण के आधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टिरूप में और सब ओर वे सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता, और प्रचण्डता भी सात्त्विक तेज के रूप में भाषित होंगी। इसी से अवतार-रूप में हमारे यहाँ भगवान् की मूर्ति एक ओर तो 'वङ्कयादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है—कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहिए।

प्र.2. प्रेमचंद के साहित्य में, वह जिन उद्देश्यों को प्रधानता देते हैं उन पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

प्रेमचंद : साहित्य का उद्देश्य

'साहित्य का उद्देश्य' 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन, लखनऊ में प्रेमचंद द्वारा दिया गया अध्यक्षीय भाषण है जो बाद में निबंध के रूप में प्रकाशित हुआ।

साहित्य का उद्देश्य

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आमतौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य,

विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आएगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों ने रास्ता साफ करने वालों ने हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है. साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा जिसमें आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गई है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सच्चाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोलचाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी, पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोलचाल से हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं, अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती हैं, और अगर उसके बयान में सच्चाई है तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं। परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाए, वह सबका सब साहित्य है। सहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्मात, कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सच्चाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है, परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सच्चाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं। चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी, कहानी है, जीवन जीवन, दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द-योजना, नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था-चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना (घोंसला) और कफस (पींजराद्), बर्क (बिजली) और खरिमन की कल्पनाएँ विरह दशा के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस खूबी से दिखाई जाती थीं, कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्संदेह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो-जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है और जो साहित्य अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरूचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिंदी और क्या उर्दू-कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रूचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और कद्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी और कविता की कद्रदानी रईसों अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण

जीवन का सामना करने और उसकी सच्चाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या आध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हों और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और श्रृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

परंतु हमारी साहित्यिक रूचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है। केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा बनती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरूचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जागृत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाईयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।

पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था, पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब, साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन-सौंदर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौंदर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसमें सौंदर्य की अनुभूति न हों। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जागृत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असहाय हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है; चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौंदर्य-वृत्ति को जागृत करके अपना यत्न सफल समझता है। पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायेगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है, पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता भी। वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर, इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौंदर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति चित्रण की प्रवृति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा से बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही संतोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से ये सभी पात्र मनुष्यों से मिले-जुलते हैं, बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य हैं और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है, क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो

जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की जुबान से वह खुद बोल रहा है। इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक को मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाए। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्मृति से हमें जागृत करे हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनंद और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरियाँ हैं, वह मर्ज की तरह हमसे चिपटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और राग उसका उल्टा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं और हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरूचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौंदर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की ऊष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्त:करण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौंदर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह कि सौंदर्य है क्या वस्तु? प्रकटत: यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है, क्योंकि सौंदर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका-संदेह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुंदर सुंगध भरे फल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलने वाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं, यही सौंदर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्त:करण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है, इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौंदर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सच्चाई, सहानुभूति, न्याय प्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है, जहाँ इनका अभाव है, वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है, द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव और विरोध प्रकृति-विरूद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरूद्ध आहार-विहार का चिरचिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्त्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायु मंडल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है, दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक संघ', यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाये। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाए रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे। क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किए जाएँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाये? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सच्चाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही

उसकी कला-कुशलता का रहस्य है। पर शायद विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है, इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्‌देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला मनोभावों के व्यक्तिकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दु:खावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गए, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे मासिक पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं अगर वे हममें हरकत और गर्मी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नव युवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौंदर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोए, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रूचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो, पर आज के लिए वे बेकार है। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का संदेश हो। अब तो हजरते इकबाल के साथ हम भी कहते हैं—

रम्जे हयात जोई जुजदर तपिश नयाबी, दरकुलजुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
ब आशियाँ न नशीनम जे लज्जते परवाज, गहे बशाखे गुलाम गहे बरलबे जूयम।

अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं, कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।

अत: हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्‌देश्य सौंदर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे अध्यात्मिक आनंद की कुंजी है, पर ऐसा कोई रूचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वत: एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक वस्तु से हमें सुख भी होता है और दु:ख भी।

आसमान पर छायी लालिमा निस्संदेह बड़ा सुंदर दृश्य है, परंतु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाए, तो वह हमें प्रसन्नता देने वाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनंदित होते हैं। फुलों को देखकर हमें इसलिए आनंद होता है कि उनसे फलों की आशा होती है, प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनंद मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के लिए उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौंदर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कलगान सुनता है, तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणित समझता है।

बंधुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म-प्रवर्त्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बंधनों से इस स्वप्न को सच्चाई बनाने का सतत, किंतु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत, ईसा, हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगबरों और धर्म-प्रवर्त्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही, पर किसी को सफलता न मिली और छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है,' इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जाएँ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए आदर्श ही बाकी न रह जायेगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्त्व ही मिट जाय।

जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास, जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सच्चाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में कदम रखना है। हमें एक ऐसे नए संगठन को सर्वांपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बंधनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्त्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंत:पुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेश-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए, उसका शीन-काफ दुरूस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य विद्रुप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं। यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है संकुचित रूप-पूजा का, शब्दयोजना का, भावनिबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है, भक्ति, वैराग्य, आध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्त्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है, उस बच्चों वाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है! उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है, उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होंठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौंदर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाए तो वह देखेगा कि रंगे होंठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाए हुए होंठों और कुम्हालाए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उनके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्मत्याग का। उसे तो इकबाल के साथ कहना होगा—

आज दस्ते जुनूने मन जिब्रील जबूं सैदे, यजदाँ बकमंद आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के जिब्रील एक घटिया शिकार है! ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमंद में तू खुदा को ही फाँस लाए?

चूं मौज साज बजूदम जे सैल बेपरवास्त, गुमाँ मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायेगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायेगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी, किंतु वह वायुमंडल होगा, जो सारे भूमंडल को घेरे हुए है। तब कुरूचि हमारे लिये सहना न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जाएँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जाएँगे, किंतु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौंदर्य, सुरूचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं, अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मंत्रिमंडल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं। परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्यकार ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो, जो समाज में हो रही हैं,

TOUCH 'n PASS

अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रूचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही, जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है, तो जैसे महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आए।

इसमें शक नहीं है कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बनने वालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी हैं, और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धांत और विधियाँ निश्चित कर दी गई हैं। मगर आज तो हिंदी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्ति मात्र अलम् समझी जाती है और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है। साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गई हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होती जाती है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किंतु उसे समाज के एक अंग-रूप में देखता है! इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपनी स्वार्थ-साधना का औजार बनाए, मानों उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्त्व के साथ उसका अस्तित्त्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे, जो समाज के पैसे से ऊँचे शिक्षा प्राप्त कर उसे शुद्ध-साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसंद नहीं करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे, अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे, उसे उस विभाग से विशेषत: और सब विभागों से सामान्यत: परिचय हो।

अगर हम अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरूद्ध, अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं, तो अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्ध और तेज कलम काफी है। पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दंड ऊँचा करना होगा, जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले, जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके, और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही संतोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ाएँ।

हमें अपनी रूचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जाएँगे, जो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अंतर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं, जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेगी। फिर मान प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सताए? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हो? सेवा में जो आध्यात्मिक आनंद है, वही हमारा पुरस्कार है। हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताए? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों कराएँ? हम तो समाज के झंडा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी सनतुष्टि के लिए दिखावे की अवाश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दुम आजादम आगूना रायूरम कि मरा, मीतवाँ कुश्तव येक जामे जुलाले दीगराँ।

अर्थात् मैं आजाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।
हमारी परिषद ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धांतों के साथ कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पंसद नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का संदेश वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव-सौंदर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाही दिखा सकता हैं जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहने वाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन-साधारण का है, वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायुमंडल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, नियम पढ़े जाएँ, बहस हो, आलोचना- प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायुमंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नए युग का आविर्भाव होगा। हम हर एक सूबे में हर एक जुबान में ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं जिसमें हर एक भाषा में अपना संदेश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नई कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हर एक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुए भी निकलने लगे हैं। उसको सोचना, उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।
हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सच्चाई है, पर हम उसकी ओर से आँखें बन्द नहीं कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था, क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक न होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पियो मौज करो' का कायल हो। ऐसा स्वच्छंदाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है, पर धार्मिकता का अभिमान रखने वाले के लिए सम्भावना नहीं।
जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मन बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

प्र.3. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'आधुनिक साहित्य में नई मान्यताएँ' किन तथ्यों को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं?

उत्तर

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : आधुनिक साहित्य नई मान्यताएँ

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक व्यक्तित्त्व बहुआयामी है। वे जन-चेतना की दृष्टि से साहित्येतिहास के शोधकर्त्ता एवं व्याख्याता, तेजस्वी विचारक, उपन्यासकार, ललित निबन्धकार, सम्पादक तथा एक बहुअधीत एवं बहुश्रुत आचार्य के रूप में मान्य है। 'आधुनिक साहित्य नई मान्यताएँ' उनका लिखा एक निबंध है जिसमें वह मानवतावाद की चर्चा करते हैं और पाठकों को एक नवीन दृष्टि प्रदान करते हैं एवं साहित्य का प्रयोजन समष्टि मानव कल्याण ही मानते हैं, इसलिए उनके समग्र साहित्य में समष्टि मानव-चिन्तन का प्रयास परिलक्षित होता है। मनुष्य को साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने के कारण ही आचार्य द्विवेदी आलोचना की समग्र और सन्तुलित दृष्टि के निर्माण पर बल देते हैं। वे साहित्य को सामाजिक सन्दर्भों में देखने और परखने का आग्रह करते हैं। सामाजिकता का यह आग्रह ही उन्हें 'मानवतावादी' बनाता है। वे जीवन्त मनुष्य और उसके समूह समाज को मनुष्य की सारी साधनाओं का केन्द्र और लक्ष्य मानते हैं। साहित्य भी उन्हीं रेखाओं में से एक है जो संस्कृति का चित्र उभारते हैं। वे कहते है, साहित्य को महान बनाने के मूल में साहित्यकार का महान संकल्प होता है। 'कबीर' उन्हें इसलिए प्रिय हैं क्योंकि उन्होंने सारे भेद-प्रभेदों से ऊपर उठकर मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा पर बल दिया है।

आधुनिक साहित्य : नई मान्यताएँ

साहित्य की नयी मान्यताओं पर विचार करने के पहले मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि साहित्य की नयी मान्यताएँ जीवन की नयी मान्यताओं मे विच्छिन्न नहीं हैं। हमारा आधुनिक साहित्य यूरोपियन सम्पर्क के बाद ही विकसित हुआ है। सौभाग्यवश जिन दिनों अंग्रेजी साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्पर्क हुआ, वह काल अंग्रेजी भाषा के इतिहास का बहुत ही समृद्धकाल था। उन दिनों जड़ विज्ञान नित्य नये सुधरे यन्त्रों को उत्पन्न कर रहा था और ये सुधरे यन्त्र नित्य-नवीन सम्पत्ति से उस देश को सम्पन्न बना रहे थे। यद्यपि इसकी भूमिका सोलहवीं शताब्दी से ही तैयार हो रही थी क्योंकि उन्हीं दिनों धर्म और कला के साथ लोक-चित्त को

प्रभावित करने वाला वह नया शास्त्र जन्म ले रहा था जिसे विज्ञान कहा जाता है पर उन्नीसवीं शताब्दी के पहले वह इनका सच्चा प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन सका था। इस शताब्दी में प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति के चित्त पर इसका प्रभाव पड़ा और उन्नीसवीं शताब्दी में वह ऐतिहासिक शक्तियों के दबाब से सुविधाभोगी वर्ग के हाथ से निकल कर साधारण जनता के हाथ में आ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में यूरोप के विज्ञान की अनेक मानसिक और भौतिक शाखाओं का युगपत और समानान्तर विकास हुआ, जो आगे चलकर बहुत-से ऐतिहासिक परिवर्तनों और विचारगत उथल-पुथल का कारण बना। इन दिनों यूरोपीय विचारों में बड़ा घोर मन्थन हुआ और मानवीय विचारों और क्रियाओं के मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन्हीं दिनों समस्त जागतिक व्यापारों में एक व्यापक नियम और सामंजस्य खोजने की दुर्दम जिज्ञासा-वृत्ति का जन्म हुआ। अन्त में डार्विन ने जीव विज्ञान के क्षेत्र में विकासवाद का प्रतिपादन किया, जिसे सच्चे अर्थों में आधुनिकता की नींव कहा जा सकता है। इसने हर क्षेत्र में मनुष्य को नयी दृष्टि दी। डार्विन के विचारों से ही सूत्र पाकर स्पेंसर ने समस्त जागतिक व्यापारों की विकास-परम्परा को स्पष्ट और प्रतिष्ठित करने वाले तत्त्ववाद की स्थापना की। यहाँ से विज्ञान ने मनुष्य की सम्पूर्ण विचारधारा पर प्रभुत्व-स्थापन किया। आज शायद ही कोई ऐसा ज्ञान-विज्ञान हो जिसे इस विकासवाद के सहारे समझने का यत्न न किया जाता हो। सब प्रकार के आध्यात्मिक दर्शन, सभी प्रकार की अलौकिक समझी जाने वाली सौन्दर्य भावना और रससंवेदना, सब प्रकार की कर्म-प्रणालियाँ इसकी लपेट में आ गयीं। साहित्य के विविध तत्त्व, छन्द, अलंकार, शैली, भाषा-प्रतिपादन इस सिद्धान्त के सहारे अधीन और व्याख्यात हुए। यहीं से मनुष्यों ने विचारों के इतिहास की बात सोची, भावनाओं के क्रमविकास का अध्ययन शुरू किया और मानसग्रन्थियों की ऐतिहासिक विकास-परम्परा को समझने का प्रयत्न किया। यहाँ से साहित्य को नये रूप में देखा जाने लगा, उसके प्रगमन और प्रति-गमन के कारणों पर विचार किया जाने लगा और उसके सम्बन्ध में नयी दृष्टि विकसित होने लगी।

विकासवाद का सिद्धान्त आजकल प्राय: सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। इस सृष्टि-प्रक्रिया को इस दृष्टि से देखने वाले को यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी कि मनुष्य के रूप में ही सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी विकसित हुआ है। मनुष्य देह में ही मन और बुद्धि का, भावावेग और तर्क-युक्ति के आश्रय इन्द्रिय-विशेष का विकास हुआ है। यह संसार क्या है और कैसा है, इसके जानने का एकमात्र साधन मनुष्य की बुद्धि है। हम जो कुछ समझ रहे हैं और जो कुछ समझ सकते हैं, सब मनुष्य का समझा हुआ सत्य है। मनुष्य-निरपेक्ष सत्य बात की बात है। इस जगत में जो कुछ सत्य है वह मनुष्य-सृष्टि में देखा हुआ सत्य है, ज्ञात मानव-सत्य है। इसीलिए मनुष्य की मर्यादा, उसकी महिमा और उसके विचारों का मूल्य अपार है। इन्हीं विचारों ने उस विचार-भंगिमा को जन्म दिया जिसे 'New Humanism' या नव मानवतावाद नाम दिया गया है।

चाहे व्याकरण हो या ज्योतिष, छन्द हो सभी विचारधाराएँ इस यज्ञ याग की क्रियाओं को ठीक-ठीक सम्पादित करने के उद्देश्य से प्रवर्त्तित हुई। बाद में इन्होंने स्वतन्त्र शास्त्रों का रूप लिया। परवर्ती काल में यद्यपि सभी शास्त्र किसी-न-किसी बहाने श्रुतिसम्मत यज्ञ-याग प्रक्रिया के साथ अपना सम्बन्ध बताते रहे, पर वस्तुत: वे उनसे विच्छिन्न हो गये थे। गुप्तकाल में एक बार पुनर्जागरण अवश्य और श्रुतिसम्मत क्रियाएं अधिक दृढ़ता से याद की जाने लगीं लेकिन तब तक गंगाजी का बहुत पानी समुद्र में ढरक चुका था और धर्म और विश्वास के क्षेत्र में मनुष्यरूप की प्रतिष्ठा स्वीकृत हो चुकी थी। इस युग के काव्य और शिल्प में देव-देवियाँ निखरे हुए मानव-सौन्दर्य के भीतर से, प्रकट हुईं। देवता का मनुष्यरूप जिस मोहक और महान रूप में इस युग मे प्रकट हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। शास्त्र और काव्य, दोनों में ही देवता का नाम लिया जाता रहा, पर मनुष्य ही वास्तविक प्रतिपाद्य था। श्रुति और आप्तवाक्य की महिमा बनी रही, पर मनुष्य की बुद्धि ही अधिक प्रामाण्य समझी गयी; क्योंकि श्रुतिवाक्यों में कौन-सा विधि-परक है और कौन-सा अर्थवाद, इन बातों के निर्णय की कसौटी मनुष्यबुद्धि को ही समझा जाता था। मनुष्यरूपी देवता का और भी व्यापक रूप मध्यकाल के अन्त में आया, जब भगवान के नररूप की लीला ही सब प्रकार के साहित्य, शिल्प और नृत्यगीत का आश्रय बनी भक्ति का पूरा साहित्य भगवान के नररूप की लीला को आश्रय करके बना है, वहीं से वह-प्रेरणा पाता रहा है। आगे चलकर हर देवता के अवतार की कल्पना की गयी। भगवद-भक्त महात्माओं को भी किसी-न-किसी पुराने आचार्य या भक्त का अवतार माना गया। कोई उद्धव का अवतार समझा गया, कोई वाल्मीकि का, कोई हनुमानजी का तो कोई भगवान की मुरली का। शिव के भी एकाधिक अवतार स्वीकार किये गये और अवतार विश्वास इस हद तक पहुँचा कि यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान नर रूप धारण करके अलग भाव से भक्त की सहायता करते रहे हैं। उसकी गाय चरा देते हैं, उसका हाथ पकड़कर रास्ता दिखा देते हैं, उसकी गलतबयानी को सुधार देते हैं, उसके घर का पहरा देते हैं और ऐसे ही अन्य अनेक कार्य करते हैं। इस युग की सम्पूर्ण मानवीय उच्च साधनाओं के मूल में इस अवतारवादी भक्ति की प्रेरणा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास

मानवतावाद है। इसे मध्ययुग के उस मानवतावाद से घुला नहीं देना चाहिए जिसमें किसी-न-किसी रूप में यह स्वीकार किया गया था कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है और भगवान अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नर रूप धारण करके ही करते हैं। इस विश्वास की सबसे बड़ी बात है इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्त्व की मर्यादा का बोध। इस नवीन मानवतावाद को स्वीकार करने का युक्तिसंगत परिणाम हो सकता है मनुष्य की मुक्ति।

आर्थिक शोषणों से मनुष्य को मुक्त किया जाए, क्योंकि मनुष्य के जीवन का बड़ा मूल्य है। मनुष्य पर अखंड विश्वास इसका प्रधान सम्बल है। जिन दिनों इंग्लैण्ड के साहित्य में भारतवर्ष का प्रथम परिचय हुआ, उन दिनों इस नव-मानवतावाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने लेने से कवि-चित्त उन रूढ़ियों से मुक्त हो जाता है जो दीर्घकालीन रीति-नीति से आती हुई मनुष्य के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के प्रवाह में और आवेगों की अभिव्यक्ति में बाधा देती हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद कवि-चित्त में कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड़ आवेगों की वह उर्वर भूमि प्रस्तुत होती है, जो रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी होती है। ऐसे अविरल कल्पना-प्रवाह का स्वाभाविक रूप है कवि-चित्त की उन्मुक्तता। जब यह हर एक बार साहित्य में प्रकट होती है तो वह जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव विस्तार करती है। उस काल के अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञों ने दिखाया है कि उन दिनों इंग्लैण्ड के सभी विचार-क्षेत्रों में यह चित्तगत उन्मुक्तता अपना प्रभाव विस्तार कर रही थी। इस युग में मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, ईश्वर पर सन्देह किया, परम्परा-समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर सन्देह किया, परिपाटी-विहित रसज्ञता पर सन्देह किया, परन्तु फिर भी यह युग अपूर्व विश्वास का युग है। क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर अविश्वास नहीं किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़तापूर्वक आस्था जमाये रखी। मनुष्य सब-कुछ कर सकता है, वह प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि-परम्परा की सबसे उत्तम परिणति है। नवीन साहित्य के मूल में यही विश्वास काम कर रहा था। कितने ही कवियों में निराशावाद का स्वर अवश्य था, पर मनुष्य की महिमा पर और इन सब बातों की महिमा पर, जो मनुष्य के विशाल चित्त में स्नान करके निकली हैं, उनकी आस्था बनी रही।

आज संसार का संवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न हैं; यही क्या वास्तविक मानवतावाद है जो मनुष्य को अकारण विनाश के 'गर्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले खेमे के महान साहित्यकारों ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानवचित्त की गम्भीरतम भूमिका से निकल रहा है। मानवतावाद ठीक है, पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं, सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति-मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि-मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा— 'अन्य: पन्था: न विद्यते।'

प्र.4. डॉ० नगेन्द्र की 'मेरी साहित्यिक' मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर डॉ० नगेन्द्र की 'मेरी साहित्यिक' मान्यताएँ

डॉ० नगेन्द्र संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान तो हैं ही उनके ऊपर आई.ए. रिचर्ड्स और बेनेदेतो क्रोचे जैसे पाश्चात्य आलोचकों का विशेष प्रभाव है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के वैभव को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से प्रचारित करने के उद्देश्य से भी कई ग्रंथों का संपादन किया है जिनमें तुलसी और सूर पर ग्रंथ तो हैं ही, नाटक, आलोचना, कहानी आदि पर भी पुस्तकें हैं। वे एक आलोचक, अन्वेषक, संपादक, अनुवादक, निबंधकार और कोशकार आदि कई रूपों में हमारे सामने आते हैं किन्तु एक आलोचक के रूप में निर्मित उनका व्यक्तित्त्व सर्वाधिक प्रभावशाली है। डॉ० नगेन्द्र ने 'आलोचक की आस्था' निबंध संग्रह में प्रथम तीन निबंधों के अंतर्गत अपनी साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्ट किया है। साहित्य का स्वरूप, उसका प्रयोजन, उसमें अंतर्निहित मूल्य, उसके तत्त्व और उपादान, अनुभूति और अभिव्यक्ति का संबंध, उसमें निहित सत्य, युग बद्धता और युग मुक्तता आदि प्रश्नों का समाधान डॉ० नगेन्द्र ने अत्यंत स्पष्ट और सुलझे हुए रूप में किया है। डॉ० नगेन्द्र, साहित्य को मूलत: आत्माभिव्यक्ति मानते हैं।

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ

डा. नगेन्द्र काव्य के संदर्भ में नए पुराने का भेद मानने के समर्थक नहीं हैं। उनकी यह मान्यता कई विवादों का कारण भी बनीं, लेकिन इन विवादों के बावजूद डा. नगेन्द्र अपनी इस मान्यता पर अडिग हैं। इसके पीछे उनका तर्क है कि मानव प्रकृति में कुछ तत्त्व सार्वभौम और सार्वकालिक हैं, ये तत्त्व विभिन्न देशकाल के प्राणियों में समान है। इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति जीवन के कई रूपों

और कार्यों में होती है। काव्य भी उनमें से एक है। इसलिए इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति का प्रकार मात्र बदलता है, उनका मूल रूप नहीं। इसलिए वे काव्य के संबंध में नए पुराने की अपेक्षा अच्छी बुरी या कविता अकविता के भेद को ज्यादा सार्थक मानते हैं। कविता के भेद की प्रतीति के संबंध में वे आगे थोड़ा विस्तार में समझाते हैं कि बिहारी और पंत या घनानंद और गिरिजा कुमार माथुर की कविता में निश्चित ही कथन और कथ्य की भंगिमा का भेद है—'किंतु यह भेद मात्र कवित्व गुण का निर्णय नहीं करता—यह स्वरूप वर्णन में सहायक होता है, मूल्यांकन में नहीं।' आधुनिकता की अपेक्षा डा. नगेन्द्र युगबोध को महत्त्व देते हैं। हालांकि आधुनिकता की तरह ही वे युगबोध को भी मूल्य नहीं मानते मौलिक मूल्य तो बिल्कुल नहीं। आधुनिकता या युगबोध उनके लिए एक परिप्रेक्ष्य मात्र है जिसका महत्त्व दृष्टि के लिए है। उनका कहना है कि परिप्रेक्ष्य या दृष्टि सत्य का स्थान नहीं ले सकती क्योंकि 'सत्य युगापेक्षी नहीं है, इस संबंध में ये दो नए शब्द देते हैं- 'युग सीमित सत्य' और 'युग मुक्त सत्य'। युग सीमित सत्य का संबंध रचना के युग सत्य अर्थात् एक सीमित कालखण्ड में रचना की उपयोगिता से है। इसके तहत एक कविता निश्चित कालखण्ड में ही प्रासंगिक होगी। जबकि युगमुक्तसत्य रचना की कालबद्धता की अपेक्षा उसे कालजयी और प्रासंगिक बनाए रखेगा। प्रेमचंद के संबंध में डा. नगेन्द्र इन शब्दावलियों को समझाने का प्रयास करते हैं—'प्रेमचंद भी अपने युगसत्य के अधिक निकट थे किंतु उनके साहित्य का वही अंश अमर रहेगा जो युग सीमित सत्य की नहीं, युगमुक्तसत्य की अभिव्यक्ति करता है।' रस सिद्धांत केवल अनुभूति ही नहीं अभिव्यक्ति को भी महत्त्व देता है। यह बात वे रस के प्रति उनके आग्रह के प्रति फैली भ्रांति के जवाब में कहते हैं। शब्दार्थ काव्य के प्राण हैं जिसके बिना कविता की सत्ता नहीं रहती। अनुभूति और अभिव्यक्ति के परस्पर संबंध के विषय में वे तीन मतों को उद्घाटित करते हैं—

1. अनुभूति का अभिव्यक्ति के बिना कोई अस्तित्त्व नहीं होता।
2. अनुभूति और अभिव्यक्ति का पृथक अस्तित्त्व है।
3. अनुभूति और अभिव्यक्ति तत्त्वत: अभिन्न है।

पहले मत में अनुभूति में अभिव्यक्ति निहित रहती है। यह मूलत: क्रोचे का मत है। द्वितीय मत में अनुभूति के तत्त्व अभिव्यक्ति के तत्त्वों के माध्यम से रूप धारण करते हैं। यह रीतिवादियों का मत है। तीसरे मत में अनुभूति और अभिव्यक्ति को तत्त्वत: अभिन्न माना गया है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के संबंध में उपरोक्त तीन मत प्रचलित हैं जिनमें से डा. नगेन्द्र तत्त्व की दृष्टि से पहले मत और व्यवहार की दृष्टि में तीसरे मत को स्वीकारते हैं। ये इनका अभिन्न संबंध मानने के बावजूद विवेचन की सुविधा के लिए इन्हें पृथक रूप में ग्रहण करते हैं। डा. नगेन्द्र की मान्यता है कि अभिव्यंजना का सौंदर्य कविता का अनिवार्य तत्त्व है क्योंकि काव्य की स्थिति उचित वक्रता के बिना संभव ही नहीं हैं। ये कविता की अभिव्यंजना के दो मूल तत्त्व मानते हैं—बिंब और छंद। चूंकि ये अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने में सार्थक भूमिका निभाते हैं। जब कवि अपनी अनुभूति को बिंदों के द्वारा मूर्तित करता हुआ पाठक के मन में सह या सम अनुभूति जगाने का प्रयत्न करता है उसे ही कला साधना कहते हैं। अनुभूति को इन्द्रियग्राह्य बनाने के लिए कवि 'बिंब' और 'छंद' का प्रयोग करता है। ये बिंब पाँच ज्ञानेन्द्रियां—चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, प्राण, रसना के विषयक्रम से पाँच तरह के माने गए हैं। किंतु कविता में मुख्यत: 'रूप' और 'लय' पर निर्भर बिंबों को महत्त्व दिया जाता है। रूप बिंबों की प्रकृति चाक्षुष होती है। और लय बिंब श्रोत: होते हैं। पर जितना प्रयोग काव्य में 'रूप' या चाक्षुष बिंबों का होता है उतना लय या श्रोत्रबिंबों का नहीं। लय बिंब रूद्र शब्दावली में छंद के नाम से जाने जाते हैं। डा. नगेन्द्र इस बात से सहमत नहीं कि 'बिंब मात्र कविता के लिए पर्याप्त हैं।' वे ऐसी बातों को आस्थाहीन चिंतन के चमत्कार मानते हैं। उन्हें आज भी कविता की पारंपरिक परिभाषा ही सुहाती है। कविता शब्दार्थ के माध्यम से याद की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति है। जब कविता को कल्पनात्मक अभिव्यक्ति कहा जाता है तब इसका एक ही अर्थ है—'बिंबों द्वारा पूर्तीकरणी इसलिए डा. नगेन्द्र का पक्ष है कि छंद और बिंब कविता की अभिव्यंजना के अनिवार्य तत्त्व हैं। 'जिस प्रकार कविता केवल छंद नहीं है उसी प्रकार वह केवल बिंब भी नहीं है। वह तो छंद और बिंब द्वारा अभिव्यक्त रमणीय (भाव संपृक्त) अर्थ है।' डा. नगेन्द्र की यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है कि यह जानते हुए भी कि वे जो मान्यताएँ रख रहे हैं, नवचिंतक और उनके समकालीन उन्हें परंपरावादी आलोचक मानेंगे या उन्हें आस्थावादी कहकर उनका मजाक उड़ाएँगे, वे अडिगता से अपनी दबंग शख्सियत और धारणाओं को रखते हैं, इस बात का जोखिम लेते हुए कि उनकी मान्यताएँ कुछ और नए विवादों को जन्म देंगी। आलोचक की आस्था इससे और पुख्ता होगी कि वह जोखिम लेने से नहीं कतराता। यहाँ आलोचना विवादित होकर भी अपने मुकाम को पा लेती है। यहाँ आलोचक, आलोचक बना रहता है, चारण, भाट या वकील नहीं बनता। आलोचना बुनियादी रूप से जोखिम का ही नाम है। साहित्यिक मान्यताओं का तीसरा हिस्सा आलोचक और आलोचना के दायित्वों और पारस्परिक संबंधों पर केन्द्रित है। डा. नगेन्द्र इस हिस्से में दृढ़ता से इस बात को स्वीकारते हैं कि वे आलोचना को

ललित साहित्य का अंग मानते हैं। इसलिए इसे भी वे आत्माभिव्यक्ति के अंतर्गत मानते हैं। एक अन्य 'अर्थ में 'आलोचना का विषय रसात्मक होता है तो पहली नजर में लगता है कि वे कविता की बात कर रहे हैं लेकिन नहीं वे आलोचना को ही रसात्मक कहते हैं। अत: वे आलोचना में भी रस खोज लेते हैं। उनकी आस्था इतनी दृढ़ है कि वे कृति के रस ग्रहण के संदर्भ में आलोचक को सहृदय से भिन्न नहीं मानते।' हालांकि रस तत्त्व के विवेचन में पाठक से विशिष्ट है। अर्थात् साहित्य का आस्वादन तो दोनों करते हैं किंतु उस आस्वादन का विश्लेषण आलोचक ही कर सकता है। जब काव्य को जीवन का आख्यान कहा जाता है तब इसी शब्द का प्रयोग करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि 'आलोचना काव्य का आख्यान है।' कवि और आलोचक के फर्क को और स्पष्ट करते हुए डा. नगेन्द्र इनमें साधन और सृजन शक्ति के आधार पर भेद देखते हैं। 'कवि के साधनों में भावना और कल्पना प्रधान है, बुद्धि प्राय: संश्लेषण में ही सहायक होती है जबकि आलोचक के कर्म में मूलत: भावना और कल्पना का सम्यक उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सृजन शक्ति के बलाबल का है कवि जीवन का पुन: सृजन करता है और आलोचक काव्य का।

प्र.5. रामविलास शर्मा ने 'तुलसी साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य' नामक निबन्ध में किस प्रकार की स्थापनाएँ दी हैं?

उत्तर

रामविलास शर्मा : तुलसी साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य

'परंपरा का मूल्यांकन' रामविलास शर्मा की एक आलोचनात्मक पुस्तक है जिसमें कुल बीस निबंध संकलित हैं इन्हीं में से छठा निबंध है-'तुलसी-साहित्य के सामंत विरोधी मूल्य'। इस निबंध के माध्यम से उन्होंने स्थापित करने का प्रयास किया है कि तुलसी का पूरा साहित्य ही सामंतवाद विरोधी मूल्यों से भरा पड़ा है। इस लंबे निबंध को लिख कर उन्होंने आलोचकों को चुप रहने पर मजबूर कर दिया। इस निबंध में उन्होंने लिखा है कि तुलसी के बारे में वे ही आक्षेप लगाते हैं, जिन्होंने उन्हें पूरा नहीं पढ़ा। तुलसीदास की विवादित पंक्तियों के बारे में उनके साहित्य से प्रमाण ढूंढकर रामविलास शर्मा ने बताया था कि कुछ लोगों ने अपना स्वार्थ साधने के लिए तुलसी साहित्य से छेड़खानी की है।

तुलसी साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य

दो तरह के लेखकों ने तुलसी-साहित्य का मूल्यांकन बहुत आसान बना दिया है। पहली तरह के लेखक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखकर इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली और राम, सीता आदि के चरित्रों द्वारा हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के लिए अमर आदर्शों की प्रतिष्ठा कर दी। दूसरी तरह के आलोचक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के छिन्न-भिन्न होने के समय फिर ब्राह्मणवाद का समर्थन किया, नारी की पराधीनता आदर्श रूप में रखी और जनता को भक्तिरूपी अफीम की घूट्टी देकर सुला दिया।

पहली तरह के आलोचक तुलसीदास को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए उन्हें हिन्दू धर्म का उद्धारक मानते हैं। दूसरी तरह के आलोचक उन्हें प्रतिक्रियावादी कहते हैं, उनकी कला का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उनकी विचारधारा को प्रगति-विरोधी मानते हैं। दोनों तरह के आलोचक-श्रद्धा के बावजूद एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं और वह यह कि तुलसीदास जर्जर होती हुई सामन्ती संस्कृति के पोषक थे, इसलिए आज की जातीय संस्कृति के निर्माण में 'ऊँची' जाति और 'नीची' जाति के हिन्दुओं, मुसलमानों आदि की मिली-जुली संस्कृति के निर्माण में उनकी विचारधारा कोई मदद नहीं कर सकती।

दोनों ही तरह के आलोचक भारतीय जनता को—खासकर हिन्दीभाषी जनता को—तुलसीदास की सांस्कृतिक विरासत से वंचित कर देते हैं। क्या इस तरह की धारणाएँ वैज्ञानिक हैं ? क्या वे जनता के हित में, हमारी जातीय संस्कृति के विकास के हित में है?

सोलहवीं सदी या उससे कुछ आगे-पीछे भारत में भक्त कवियों की एक बाढ़ सी आ गयी। न सिर्फ ब्रज, अवध आदि हिन्दी प्रदेशों में बल्कि बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में भी यह बाढ़ दिखायी दी। सन्त-साहित्य ने एक विराट आन्दोलन का रूप ले लिया। जनता की भाषा में ऐसी रचनाएँ होने लगी जो गाँवों तक फैल गयीं। इन रचनाओं में प्रेम को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया गया, वर्ण और धर्म का भेद प्रेम में बाधक न समझा गया, अक्सर इस तरह के भेद की कड़ी आलोचना भी की गयी। इन प्रेममार्गी कवियों में हिन्दू, मुसलमान, सवर्ण और अछूत, सभी तरह के लोग हुए। उनमें कुछ सगुणवादी थे, कुछ निर्गुणवादी, कुछ कृष्ण के उपासक थे, कुछ राम के, कुछ यह सब कुछ एक साथ थे। मूल बात यह थी कि वे उपासना में प्रेम को मुख्य चीज मानते थे।

क्या यह भक्ति-आन्दोलन आकस्मिक घटना थी? क्या वर्ण-व्यवस्था और कट्टरता तोड़कर प्रेम की इस धारा का बहना दैवेच्छा से हुआ? मार्क्सवाद के अनुसार, संस्कृति किसी समाज व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिम्ब है। आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है। भक्ति-आन्दोलन का आधार क्या था?

जो लोग समझते हैं कि सोलहवीं सदी में सामन्ती समाज का ढाँचा ज्यों-का-त्यों बना हुआ था, अपने भीतर पैदा होने वाली नयी शक्तियों के प्रसार से चरमराने न लगा था, वे भक्ति आन्दोलन को या तो पुराने सामन्ती सम्बन्धों का ही प्रतिबिम्ब मानेंगे या फिर उसे शुद्ध कल्पनाजन्य आन्दोलन मानेंगे जिसकी जड़ें नये सामाजिक यथार्थ में गहरे न पैठी थीं। दोनों ही हालत में वे भक्ति आन्दोलन के ऐतिहासिक महत्त्व से इन्कार करेंगे।

सन्त-साहित्य का प्रसार भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अनूठी घटना थी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। अचानक संस्कृत का प्रभुत्व, जो सैकड़ों साल से चला आ रहा था, खत्म होता दिखायी दिया। जनता की संस्कृति, जिसे पुरोहितों ने अब तक दबाया था, पुष्पित और पल्लवित होने लगी। जो लोग खुलकर पुरोहितों के खिलाफ एक शब्द न कह सकते थे, अब खुलेआम उन्हें चुनौती देने लगे। इसका कारण क्या था? क्या सामन्ती व्यवस्था के कमजोर हुए बिना यह सब सम्भव था?

16वीं सदी के लगभग—शेरशाह और अकबर के शासनकाल में—उत्तर भारत में सामन्ती व्यवस्था काफी कमजोर हुई। नहरें खुदने और सड़कें बनने से यातायात में उन्नति हुई; एक ही तरह की मुद्रा के चलन से व्यापार में सुविधा हुई; राज्य और काश्तकार में सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से जनपदों का अलगाव कम हुआ; बारूद के इस्तेमाल से केन्द्रीय राज्यसत्ता जागीरदारों की स्वच्छन्दता कम करके उन्हें अपने मातहत कर सकी। यूरोप में भारत का व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर आगे बढ़ा उत्तर भारत में शहरों की संख्या ही नहीं बढ़ी, उनकी जनसंख्या और उनका व्यवसायी महत्त्व भी बढ़ा, जगह-जगह अपने अधिकारों के लिए जनता ने संघर्ष किये और इस तरह भी उसकी एकता बढ़ी। इन परिस्थितियों में सामन्ती ढाँचा जर्जर हुआ। उस ढाँचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किये पूँजीवादी सम्बन्ध जन्म लेने लगे पुराने जनपदों का अलगाव काफी दूर हुआ और वे मिलकर एक जाति (वर्ग) के रूप में संगठित होने लगे। भक्ति आन्दोलन इस जातीय आन्दोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब था।

इस जातीय आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यापारी, जुलाहे, कारीगर, किसान आदि थे। इनकी एकता की चाह, सामन्ती अलगाव को दूर करके मिलने की चाह भक्ति आन्दोलन में प्रकट हुई। ऊपर से देखने में मालूम होगा कि भक्त कवियों की मूल समस्या संसार से मुक्ति पाने की समस्या थी, उनके सबसे बड़े शत्रु काम, क्रोध, मद, लोभ आदि उनके मनोविकार ही थे। गांधीवादी विचारक सन्त-साहित्य की इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। लेकिन मजदूर वर्ग और पूंजीपतियों के संघर्ष के पहले आमतौर से देखा यह गया है कि वर्ग संघर्ष एक धार्मिक लिबास में सामने आता है। उस लिबास के नीचे छिपे हुए ऐतिहासिक तथ्य को देखना हर वैज्ञानिक विचारक का कर्त्तव्य है।

पुरोहितों और राजाओं से दबे हुए लोगों ने जब सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए अपना अधिकार घोषित किया तब शासक वर्ग प्रसन्न नहीं हुआ। मुक्ति और धर्म पर वह अपना इजारा समझता था। हर वर्ण के लिए उसने धर्म-कर्म की व्यवस्था कर रखी थी; उसमें किसी तरह का हेर-फेर करने पर कठोर दण्ड देने की व्यवस्था भी थी। इसलिए सामन्तों और पुरोहितों के खिलाफ जनता के संघर्ष ने अगर धार्मिक लिबास पहना तो वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

16वीं सदी के जातीय आन्दोलन का नेतृत्व बहुधा व्यापारी कर रहे थे। उस आन्दोलन ने जहाँ-तहाँ सक्रिय संघर्ष का रूप भी लिया। उसके सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब भक्ति आन्दोलन पर अक्सर निष्क्रियतावाद का रंग चढ़ा दिखायी देता है। क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग और उसके नेतृत्व के अभाव में यह रंग चढ़ना भी एक हद तक अनिवार्य था। आज उसके लिए किसी तरह का ऐतिहासिक समर्थन बाकी नहीं रह गया। गोस्वामी तुलसीदास किस हद तक भक्ति-आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं? किस हद तक उनके विचार हमारे सांस्कृतिक विकास में आज सहायक हो सकते हैं?

रामचरितमानस में जहाँ-तहाँ विप्रपद पूजा को बहुत बड़ा धर्म बतलाया गया है और विशेष रूप से उत्तरकाण्ड में शूद्रों के अपना वर्ण धर्म त्यागने पर क्षोभ प्रकट किया गया है। इन पंक्तियों को अलग करके देखने से यह धारणा बन सकती है कि तुलसीदास अपने समय की सामन्त-विरोधी गतिविधि से असन्तुष्ट थे और वे पुरानी व्यवस्था को ही बनाये रखना चाहते थे। क्या हम वर्णधर्म के समर्थन को तुलसीदास के विचारों की ऐतिहासिक सीमा मानें जिससे उनकी मूल विचारधारा पर आंच नहीं आती?

यथार्थ यह है कि वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफी सताया था और तुलसीदास ने भी उनका उचित उत्तर देने में आगा-पीछा न किया था। तुलसीदास अपने जन्म के बारे में कहते हैं—

> 'जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि, बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
> भयो परिताप पाप जननी जनक को। जानत हों चारि फलचारि ही चनक को।'

यह समझने का कोई कारण नहीं दिखायी देता कि केवल अपनी दीनता से इष्टदेव को प्रभावित करने के लिए उन्होंने यह लिख दिया है। इसी तरह 'लालची ललात बिललात द्वार द्वार दीन, बदन, मलीन मन मिटे न बिसूरना' आदि में अत्युक्ति हो सकती है

लेकिन तुलसी ने, निर्धन और अकुलीन बालक को जो अपमान सहना पड़ता है, उसे स्वयं सहा था। इसमें सन्देह नहीं और यह अपमान बालकपन तक सीमित न था। जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, वैसे-वैसे उनका विरोध भी बढ़ा। जब लोग उनकी जाति-पाति की चर्चा करके उनका उपहास करते थे, तब तुलसीदास यही कहकर जवाब देते थे कि जो गोत्र राम का है, वही गोत्र उनके सेवक का है। कभी इन विरोधियों से उदासीन होकर वे कहते—

'मेरे जाति पाँति न चहीं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हीं काहूके काम को।'

लेकिन कभी-कभी जातिवादियों को चुनौती देते हुए वह कहते—

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहो, जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति विगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुच सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोईबो, लैबो को, एकु न दैबे को दोऊ?

इस एक छन्द में तुलसीदास के समूचे जीवन का संघर्ष चित्रित हो गया है। नि:सन्देह उनके कार्यों से पुरोहित वर्ग आतंकित हो उठा था। वह उन्हें तरह-तरह के नाम देने लगा था और तुलसीदास को कहना पड़ा, तुम अपनी जाति लेकर खुश रहो, हमें तुमसे लेना एक है न देना दो। जो लोग समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं इस प्रभुत्व का कटु अनुभव किया था। कवितावली के इन छन्दों में महाकवि का एक निडर व्यक्तित्त्व हमारे सामने उभरकर आता है जो रामभक्ति का प्रचार करता हुआ वर्णवादियों के विरोध की जरा भी परवाह नहीं करता। समूचा तुलसी-साहित्य इस चित्र की सत्यता प्रमाणित करता है।

वर्ण और जाति की व्यवस्था को चुनौती देता हुआ तुलसी का व्यंग्य स्वर-सुनिये कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी। इससे स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति सभी जातियों और वर्णों के लोगों को मिलाने वाली थी और जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की, वे कृपाकर उस पंक्ति पर विचार करें जिसमें महाकवि ने माँगकर खाने और मस्जिद में सोने की बात कही है। वर्ण-व्यवस्था के रक्षकों ने ही भारतीय जनता के हृदय सम्राट् तुलसीदास की यह दशा की थी। यदि तुलसीदास कुलीनता और जातिवाद के समर्थक होते तो उनकी आत्म-निवेदन वाली रचनाओं में बार-बार यह स्वर न सुनायी देता? 'लोग कहँ पोचु, सो न सोचु न संकोचु मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हो।' तुलसीदास की रामभक्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि उनके प्रभु ने जातिहीन व्यक्तियों को अपनाया था। दोहावली का यह दोहा देखिये—

'जातिहीन अघजनम महि, मुकुत कीन अस-नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि।।'

पार्वती-मंगल में शिव विवाह का वर्णन करते हुए वर की विशेषताओं में यह भी है—

'कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनह। अगुन अमान अजाति मातुपितु हीनहि।।'

अकुलीनता का जिक्र रामचरितमानस में भी है—

'निर्गुन निलज कुवेष कपाली। अकुल अगेह दिगम्बर ब्याली'।।

भक्त कवियों का मूल मन्त्र था—'जाति-पांति पूंछ नहि कोई, हरि का भज सो हरि का होई।' तुलसीदास इस मन्त्र को सिद्ध करने वालों की चर्चा बार-बार करते हैं। वह वाल्मीकि का हवाला देते हैं जो मरा-मरा कहकर भी मुनि हो गये-'जहाँ बाल्मीकि भये व्याघ ते मुनीन्द्र साधु, मरामरा जपे सुनि सिष ऋषि सात की।' और भी: 'जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाउ उलटा जपत कोल ते मे ऋषिराज।' इसी तरह शबरी, गीध आदि का हवाला सभी सन्तों के साहित्य में मिलता है जिन्हें प्रेम के वश होकर राम ने मुक्ति दी। 'सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ। नामु उधारे अमित खल, बेद विदित गुनगाथ।।'

तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जो 'अति अघरूप' समझे जाते हैं, उन 'आभीर जवन किरात खस स्वपचादि' के लिए भी वह कहते हैं कि राम का नाम लेकर वे भी पवित्र हो जाते हैं। इससे उनकी भक्ति का जनवादी तत्त्व अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। जिन तमाम लोगों के लिए पुरोहित वर्ग ने उपासना और मुक्ति के द्वार बन्द कर दिये थे, उन सबके लिए तुलसी ने उन्हें खोल दिया। तुलसी की जाति और कुलीनता पर पुरोहितों के आक्षेपों का यही कारण था।

'कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।' तुलसीदास स्त्रियों को पराधीन जानते हुए भी उन्हें पशुओं की तरह ताड़न की अधिकारी कहें तो इससे अधिक निर्ममता और क्या हो सकती है? लेकिन जैसा ममतापूर्ण हृदय तुलसीदास ने पाया था,

TOUCH 'n PASS

वैसा हृदय और किस कवि ने पाया है।। ढोल गंवार वाली पंक्ति समुद्र को बातचीत में आयी है जहाँ वह जल होने के नाते अपने को जद करता है और इस नियम की तरफदारी करता है कि जड प्रकृति को चेतन ब्रह्म ही संचालित करता है। वहाँ एकदम अप्रासंगिक ढंग से यह ढोल गँवार शूद्र वाली पंक्ति आ जाती है। नि:सन्देह यह उन लोगों की करामात है जो यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि नारी पराधीन है और उसे स्वप्न में भी सुख नहीं है। सामन्ती व्यवस्था में स्त्रियों के लिए एक धर्म है तो पुरुषों के लिए दूसरा है। तुलसी के रामराज्य में दोनों के लिए एक ही नियम है—**'एक नारि ब्रतरत सब झारी। ते मन बच क्रम पति 'हितकारी।।'** इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को न मानकर तुलसीदास ने दोनों को समान रूप से एक ही व्रत पालने का आदेश दिया था। लेकिन विशेषाधिकार वालों ने ढोल गंवार आदि जैसी पंक्तियाँ तो गढ़ लीं, और एक नारिव्रतरत होने की बात चुपचाप पी गये। वर्तमान समाज में भी नारी अधिकार-वंचित है। पराधीनता में उसे सुख नहीं है। तरह-तरह की मीठी बातों से उसे भुलावा दिया जाता है। लेकिन उसकी दासता ढँकी नहीं जा सकती। तुलसीदास के समय में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थी कि पराधीनता के पाश तोड़े जा सकें। वह केवल इस पराधीनता पर क्षोभ प्रकट कर सकते थे और एक ऐसे समाज का स्वप्न देख सकते थे जिसमें पुरुष भी एक-नारी व्रतधारी हों। राम के चरित में उन्होंने यही दिखाया।

यह दूसरी बात है कि हिन्दी आलोचना में जितनी चर्चा सीता के पतिव्रत की है, उतनी राम के पत्नीव्रत की नहीं। आज हम इस परिस्थिति में हैं कि तुलसी के स्वप्न को सत्य कर दिखायें।

सामन्ती समाज में साधारणत: विवाह पहले हो जाता है, प्रेम बाद में शुरू होता है। तुलसीदास ने राम और सीता के विवाह में यह दिखलाया है कि विवाह प्रेम की परिणति है। यद्यपि सीता की प्रीति पुरातन है, फिर भी लोक व्यवहार की दृष्टि से **'कंकन किंकिन नूपुरधुनि में राम का मदन दुन्दुभी** सुनना, सियमुख की तरफ नयन-चकोरों का देखना, और सीता द्वारा राम को हृदय में बिठाकर पलक-कपाट लगा देना आदि क्रियाओं का वर्णन तुलसी के मर्मी कवि हृदय का परिचय ही नहीं देता, उनके रूढ़ियों को तोड़ने वाले साहस का भी परिचय देता है। तुलसी केवल भक्त नहीं हैं, वे प्रेम और सौन्दर्य के कवि भी हैं। विवाह मण्डप में सीता की तन्मयता का कितना सजीव और बारीक चित्र उन्होंने खींचा है।

'राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं। याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं।।'

और अपने बरवै छन्दों में तो मानो तुलसीदास ने अवध के ग्राम गीतों की सारी मिठास उंडेल दी

'का घूंघट मुख मूंदहु नवला नारि, चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि।।
गरव करहु रघुनन्दन जनि मन माँह, देखह आपनि मरति सिय के छांह।।
सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन, सिय रघुबर के भये उनींदे नैन।।'

तुलसीदास ने जनसाधारण के सौन्दर्य-बोध की जैसी सुकुमार व्यंजना की है, वह हिन्दी साहित्य में अनुपम है। वर्तमान अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था में मनुष्य की प्रेम और सौन्दर्य की कोमल भावनाएँ बुरी तरह कुचली जाती हैं। विवाह का आधार है सम्पत्ति और कुलीनता; प्रेम करने के लिए प्रेयसी अलग होती है, बच्चे पैदा करने के लिए पत्नी अलग। सामन्ती बन्धनों के खत्म होने पर सौन्दर्य और प्रेम की भावनाएँ अपने सहज रूप में पल्लवित होंगी और नारी कवियों की नायिका मात्र न रह जायेगी। वह श्रम करनेवाली, समान अधिकार वाली नागरिक भी होगी।

तुलसीदास ब्रह्मचर्य पालन करके तपस्या द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का आदर्श नहीं रखते। नारद में ब्रह्मचर्य पालन करने का दम्भ पैदा हुआ था, सो वह बन्दर का चेहरा पाकर नारी के पीछे दौड़ते फिरे और विन्ध्याचल में जो व्रतधारी तप कर रहे थे, वे अहल्या का उद्धार करने वाले राम के आने की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए कि अब सब शिलाएँ चन्द्रमुखी हो जायेंगी, तुलसीदास के नायक साधारण जनों की तरह विवाहित जीवन बिताने वाले हैं। इसलिए तुलसीदास योगवादियों के सहज विरोधी बन जाते हैं। उनके लिए वह कहते हैं, 'जागें जोगी जंगम जती जमाती ध्यान घरें डरें उर भारी लोभ मोह कोह काम के।'

काम, क्रोध, मद, लोभ को जीतने वाले वीर लोग रात-भर ध्यान लगाये जागा करते हैं लेकिन 'सोवे सुख तुलसी भरोसे एक राम के।' सूरदास जैसे कवियों की तरह तुलसीदास भी योग के मुकाबले में सगुण की सरस उपासना की हिमायत करते हैं। कृष्ण गीतावली में तुलसी की गोपियाँ भी कहती हैं—'जोग जुगति अरु मुकुति विविध विधि वा मुरली पर वारौं।'

हिन्दी में अनेक ऐसे पुराणपन्थी लेखक हैं जो योग के उद्धार में भारतीय संस्कृति का प्रसार देखते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि तुलसी, सूर आदि कवियों ने चार सौ साल पहले ही भारतीय संस्कृति को चमत्कारवादियों के प्रभाव से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था। कुण्डलिनी जगाने की कितनी ही नवीन कोशिशें करें, यह अर्द्धसामन्ती समाज व्यवस्था अब कुछ ही दिनों की मेहमान है।

TOUCH 'n PASS

जहाँ तक संसार के प्रति दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, तुलसीदास और निर्गुण वादियों में एक सीमा तक कोई अन्तर नहीं है। उनके लिए भी ब्रह्म व्यापक विरज, अनीह और अभेद है। वेदान्तियों की तरह एक जगह वह कहते हैं, 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।।' निर्गुनिये सन्तों की तरह वह कहते हैं, 'सून्य भीति पर चित्र उरेहे, तनु बिन लिखा चितेरे।' 'द्वैत जनित संसृति दुख' वह भी दूर करना चाहते हैं। तुलसीदास ने ये धारणाएँ प्राचीन भाववादी दर्शन से ली हैं। लेकिन इन स्थापनाओं पर उन्होंने अपनी तरफ से जो टीका-टिप्पणी की है, वह मूल स्थापनाओं को काफी बदल देती है। वह टीका-टिप्पणी ध्यान देने योग्य है।

गोस्वामी तुलसीदास नाम और रूप को ब्रह्म की दो उपाधियाँ मानते हैं। इनमें भी वह रूप को नाम के अधीन मानते हैं। उनका कहना है कि नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता।

'देखिअह रूप नाम आधीना, रूप ज्ञान नहि नाम विहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने, करतलगत न पहि पहचाने।'

नाम के माने भाषा, तुलसी के सिद्धान्त का परिणाम यह निकलता है कि ज्ञान भाषा से परे नहीं है। वाणी और अर्थ की एकता की घोषणा करते हुए वह कहते हैं, 'गिरा अरथ जल वीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।' भाववादी दर्शन ज्ञान को भाषा से स्वतन्त्र मानता है; वस्तुवादी दर्शन दोनों की एकता मानता है। तुलसीदास की स्थापना भाववादी दर्शन के प्रतिकूल है।

नाम के बिना निर्गुनपन्थियों को भी निर्गुन ब्रह्म का पता नहीं लगता, इसलिए निर्गुत और सगुन के बीच तुलसीदास नाम की साखी मानते हैं, नाम के बिना ब्रह्म अगुन का ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह नाम को ब्रह्म से भी बड़ा मानते हैं, 'कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ताह' सच्चिदानन्द ब्रह्म नाम-निरूपण से ही प्रकट होता है। इस तरह ब्रह्म को नाम से बाँधकर नाम को ब्रह्म से भी बड़ा दिखाकर गोस्वामी जी ने ब्रह्म की अगोचरता पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। वास्तव में उनका सारा दर्शन ब्रह्म की गोचरता पर निर्भर है, इसीलिए संसार में उसकी 'लीला' उनके लिए इतनी आकर्षक हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास ने कई जगह माया की चर्चा की है लेकिन उससे यह नतीजा निकालना कठिन होगा कि वह संसार को मिथ्या मानते थे। उल्टा वह उन लोगों को फटकारते हुए दिखायी देते हैं जो संसार को मिथ्या कहते हैं। तुलसीदास की रचनाओं में बहुत से देवी-देवता मिलते हैं। उनका ऐसा सजीव चित्रण हुआ है कि पाठक यही समझता है कि गोस्वामीजी इन सबके अस्तित्त्व पर विश्वास करते होंगे। लेकिन वह 'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी' में भी विश्वास प्रकट करते थे और जहाँ अविनासी ब्रह्म एक है, वहाँ अनेक देवी-देवताओं का अस्तित्त्व भ्रम ही हो सकता है।

वास्तव में देवताओं को अपना काव्य-विषय बनाते हुए तुलसीदास ने पुराणों में बतायी हुई उनकी रूपरेखा में काफी फेरबदल किया है। उनका उद्देश्य स्पष्ट है, भिन्न मत वालों को राम की भक्ति के आधार पर एक करना। निर्गुण और सगुण वादियों को वह नाम के आधार पर एक करते हैं, शैवों, शाक्तों और वैष्णवों को एक करने के लिए शिव को राम का प्रेमी, सीता को जगदम्बा का अवतार आदि कहते है। तमिलनाडु के मन्दिरों में जैसे विष्णु और शक्ति की मूर्तियाँ एक साथ दिखायी देती हैं, वैसे ही रामचरितमानस में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों को सन्तुष्ट करने की सामग्री दी गयी। बहुदेवोपासना का यह रूप लौकिक व्यवहार से ही निश्चित हुआ है। कृष्ण के लिए उन्होंने कृष्ण गीतावली भी लिख दी। उनके समय में जातीय आन्दोलन की जो धारा एकता की तरफ बह रही थी, भिन्न मत वालों के इष्टदेवों के साथ यह उदार व्यवहार उसी का प्रतीक है। लेकिन तुलसी-साहित्य का मूल्य इससे अधिक है। तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक है। तुलसी ने प्राचीन महाकाव्यों की मानववादी परम्परा को आगे बढ़ाया है। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' पर रामचरितमानस मानो सजीव भाष्य है। अनेक बार तुलसी ने भक्त को भगवान से बड़ा बतलाया है, इससे अधिक वह मानव-प्रेम का प्रमाण क्या दे सकते थे?

राम के प्रति तुलसी का सेवक भाव है। दरिद्रता और सामाजिक उत्पीड़न के बीच तुलसी ने राम की तरफ हाथ उठते हैं, कितनी व्यथा के साथ, यह कवितावली और विनयपत्रिका के अनेक पदों में देखा जा सकता है। ऐसी पीड़ा, ऐसा उत्कृट आत्मनिवेदन हिन्दी साहित्य में और कहीं प्रकट नहीं हुआ। तुलसीदास जानते थे 'नहि दरिद्रसम दुख जग माहीं।' उन्होंने अनुभव किया था, 'आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।' उन्होंने राम से प्रार्थना की थी कि दरिद्रता के रावण ने संसार को दबा रखा है, आकर रक्षा करो- 'दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।' इसीलिए वह इतना व्यथित होकर राम से कहते हैं, 'तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।' राम उनके लिए 'दारिद दोष दवानल' हैं जो औरों के सामने जाँचना खत्म कर देते हैं। जब वह सामन्तों को गजशाला और पत्नीशाला से सुशोभित अपनी सम्पत्ति पर गर्व करते देखते हैं तो कहते हैं, 'ऐसे भये तो कहा तुलसी जुपै जानकी नाथ के रंग न राते।'

TOUCH 'n PASS

तुलसी के राम उनकी आशाओं के केन्द्र ही नहीं हैं, मनुष्य में वह जिन तमाम नैतिक गुणों को प्यार करते थे, वह उनके प्रतीक भी थे। ब्रह्मरूप में भले ही वह निर्गुण निर्विकार हों, मानव रूप में वह किसी देश काल की सीमाओं में गतिशील समाज के मानव का ही प्रतिबिम्ब हो सकते हैं। तुलसी के राम भारतीय जनता के नैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके चरित्र में पितृभक्ति, भातृप्रेम आदि पर बार-बार लिखा गया है, लेकिन तुलसीदास का लक्ष्य परिवार में पिता के अधिकार की रक्षा करना न था। राम की मानवीय सहानुभूति माता, पिता, भाई, निषाद सभी के लिए है। विशेषता यह है कि जो जितना त्यागी है, नि:स्वार्थ है और दलित है, राम का प्रेम उसके लिए उतना ही अधिक है। भरत और निषाद पर उनका प्रेम इसी कारण है। यह प्रेम पारिवारिक सम्बन्धों पर ही निर्भर नहीं है। उसका आधार व्यापक सामाजिक सम्बन्ध है। समाज में चाहे दुखी दीनों और नि:स्वार्थ सेवकों को कोई न पूछे, राम उन्हें पूछनेवाले हैं।

तुलसी के राम न्याय-अन्याय के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं। वह न्याय का सक्रिय पक्ष लेते हैं। लक्ष्मण के मुकाबले में वह ज्यादा धैर्य दिखलाते हैं, लेकिन उनके धैर्य की एक सीमा है। वह सीमा पार होने पर वह शस्त्र उठाने में जरा भी आगा-पीछा नहीं करते। यह गुण हमारी जनता का विशेष गुण वह बड़ी सहनशील है। लेकिन एक सीमा तक ही। उस सीमा के पार होने पर वह अन्यायी को दण्ड देने के लिए उठ खड़ी होती है। रासलीला वाले कृष्ण की अपेक्षा तुलसी को धनुर्धर राम अधिक प्रिय हैं। इसका यही कारण है, 'राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।'

जब परशुराम का क्रोध सीमा पार कर जाता है, तब राम उन्हें दृढ़ चेतावनी देते हैं—

'देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होइ बलवाना।
जौं रन हमह प्रचार कोऊ। लहि सुखेन काल किन होऊ।।'

इसी तरह जब समुद्र राम को रास्ता नहीं देता, समझाने और विनती करने पर भी नहीं पसीजता, तब तुलसी कहते हैं—

'विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति।
संधाने प्रभु विसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।।'

इसी तरह रावण का अन्याय देखकर पहले दूत द्वारा राम उसे समझाने की कोशिश करते हैं लेकिन जब वह नहीं मानता, तब उसका हृदय परिवर्तन करने के लिए वह सत्याग्रह नहीं करते, उससे युद्ध छेड़ देते हैं। राम का सारा चरित्र आत्म-पीड़ा द्वारा निष्क्रिय प्रतिरोध का खण्डन करता है। कहना न होगा, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण नैतिक मूल्य है, जिसे हमें अपनाना चाहिए।

रामचरितमानस में, विशेष रूप से अयोध्या काण्ड में, जो वेदना का सागर लहराता हुआ दिखायी देता है, वह सामन्ती समाज में मनुष्य की वास्तविक पीड़ा से ही उत्पन्न हुआ है। माता-पिता से विदा होती हुई लड़कियां, घर में पुत्र-वियोग सहती हुई माता आदि के चित्र तुलसी ने समाज से ही लिये हैं। लेकिन इस करुणा में भी सुख-सौन्दर्य की चाह बादलों में बिजली की तरह कौंध जाती है। तुलसी का व्यंग्य और हास्य भारतीय जनता की कभी न मिटने वाली जिन्दादिली से पैदा हुआ है। वह कठिनाइयों पर हँसना जानती है, जब कठिनाई बढ़ जाती हैं, तब व्यंग्य और भी पैना हो जाता है। क्रोधी परशुराम के सामने लक्ष्मण का व्यंग्य, रावण की सभा में राक्षसों से घिरे हुए अंगद का व्यंग्य इसी तरह का है। तुलसी का व्यंग्य अन्याइयों, अत्याचारियों के लिए है। दलितों और पीड़ितों के लिए, स्त्रियों और बालकों के लिए उनके हृदय में केवल सहानुभूति है। राम के बाल रूप का वर्णन करके, कौसल्या और भरत के प्रेम का वर्णन करके एक तरफ वह हमारी मानवीय सहानुभूति को और निखारते हैं, तो राम के चरित्र से वह शूरता और धीरता के भावों को पुष्ट करते हैं। इस तरह तुलसी मानव आत्मा के एक कुशल शिल्पी साबित होते हैं।

तुलसी की मानवीय सहानुभूति का आधार सामाजिक यथार्थ है। तत्त्कालीन समाज का जैसा भरा-पूरा चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है, वैसा उस समय के और किसी कवि की रचनाओं में नहीं मिलता। जनता की दरिद्रता, उसके क्लेशों का वर्णन उन्होंने बड़े ही यथार्थवादी ढंग से किया है, 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।' बड़ी स्पष्टता से उन्होंने समाज में सामन्तों के कुशासन का सवाल उठाया है।

राजा और प्रजा के संघर्ष में तुलसी प्रजा के साथ हैं। रामचरितमानस में वह प्रजा को सताने वाले राजाओं के लिए कहते हैं—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। ते नृप अवसि नरक अधिकारी।।'

और भी, दोहावली में वह उन राजाओं के पतन की भविष्यवाणी करते हैं जो प्रजा को सताते हैं—'राज करत बिनु काज ही, करें कुचालि कुसाज।

तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइ हैं सहित समाज।' तुलसी ने दुष्ट राजाओं की निन्दा ही नहीं की, बल्कि भारतीय जनता की आशाओं को मूर्त रूप देते हुए समता के आधार पर एक सुखी समाज की कल्पना भी की है।' अल्प मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।।

प्र.6. डॉ० नामवर सिंह कृत 'कहानी नयी कहानी' पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर

डॉ० नामवर सिंह : कहानी नयी कहानी

प्रगतिवादी हिंदी आलोचना के एक समर्थ हस्ताक्षर के रूप में डॉ० नामवर सिंह का नाम लिया जाता है। उन्होंने आदिकालीन साहित्य से लेकर नए से नए हिंदी कवियों व लेखकों को अपनी आलोचना का विषय बनाया है। 'कहानी नयी कहानी' नामवर सिंह की आलोचनात्मक पुस्तक है। इसके पुस्तक के संदर्भ में विख्यात समलोचक राकेश बिहारी लिखते हैं—'नामवर सिंह की आलोचना-पुस्तक 'कहानी नयी कहानी', हिंदी कहानी को समझने के लिए आधार-ग्रन्थ की तरह है। नामवर सिंह ने इसे एक दशक (1956-1965) की चिन्तन यात्रा की पगडंडी कहा है। आज जब 50 साल बाद कहानी का युवा आलोचक इस कृति को पढ़ता है तब उसके समक्ष कुछ नए प्रश्न भी उठते हैं। साहित्य में संवाद का यही तरीका है। ऐसे संवाद कृति को आलोकित करते हैं, परम्परा को प्रशस्त करते हैं।'

कहानी नयी कहानी

हिन्दी कहानी की कोई ठोस आलोचना पद्धति यदि नहीं बन सकी तो इसके पीछे एक खास तरह की आलोचकीय अवधारणा रही है कि 'कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गम्भीर समीक्षा का विषय माना जाये।'। यह दुविधा नामवर जी के मन में भी थी। 'कहानी नयी कहानी' की भूमिका में उन्होंने इसे स्वीकार भी किया है। बावजूद इस दुविधा के यदि नामवर जी ने कहानियों पर 'सैद्धान्तिक ढंग से सामान्य बातें न कहते हुये भी सिद्धांतों के निर्माण में जो योगदान किया है उसके ऐतिहासिक महत्त्व हैं। नामवर जी जिस सहज-सरल और तरल भाषा में कहानी पढ़ने की सैद्धांतिकी गढ़ते और उसे विकसित करते हैं उसे पढ़ना किसी रचना पढ़ने जैसा ही प्रीतिकर है, कई बार इतना सम्मोहक होता है कि कई रचनायें भी अपने पाठकों को उस दुनिया तक न ले जा पायें।

भाषा-शिल्प और रूप से ज्यादा अन्तर्वस्तु और यथार्थ पर जोर ही कथोचित समीक्षा पद्धति की खोज है। जागरूक चिंतन तथा पैनी सामाजिक दृष्टि की जरूरत को रेखांकित करते हुये वे कहते हैं-'घटना-प्रसंग जितना ही वास्तविक होगा, कहानी उतनी ही जोरदार होगी।' नामवर जी की कथालोचना में कहानी की समीक्षा को मनोरंजन और शिल्प के कैद से मुक्त करने की पुरजोर कोशिश को सहज ही रेखांकित किया जा सकता है। कहानी, अच्छी कहानी, नई कहानी जैसे पदों की व्याख्या करते हुए वे कहानी की सोद्देश्यता और सामाजिकता के तहों तक प्रवेश करते हैं। एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है- 'आज इतना ही कहना काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है या अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस 'अच्छेपन' को और 'सफलता' को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, आज की कहानी की 'सफलता' का अर्थ है, कहानी की सार्थकता। आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं है बल्कि वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिये।' वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख कहानी की जिस सार्थकता की बात यहाँ नामवर जी कह रहे हैं उसे हम यथार्थ के पुन:सृजन और पुनर्विश्लेषण के माध्यम से उसके भीतर गहरे पैठे अन्त: सत्यों की पुनर्स्थापना भी कह सकते हैं। यथार्थ को संवेदना से जोड़ने के लिये जिस रचनात्मक संघर्ष की जरूरत होती है उसे नामवर जी केवल युद्ध या कोई स्थूल लड़ाई नहीं मान कर व्यक्ति और समुदाय के आपसी संबंधों की प्रतिक्रिया मानते हैं। व्यक्ति और समुदाय का यह संवाद एक सफल कहानी में रूपायित हो इसके लिये सामाजिक स्थिति, पारिवारिक संस्कार, जीवन दृष्टि तथा अनुभव सीमा को भेदने की जरूरत है, जो सिर्फ भाषा या शिल्प से संभव नहीं है। सायास और चौकन्ने भाषाई रचाव को तो नामवर जी कहानीकार की चालाकी के रूप में देखते हैं, जो पाठक को भरमाने का एक उपक्रम है। 'कहानी में जहाँ भाषा को अधिक कवित्व-पूर्ण, ललित, सुन्दर या उदात्त बनाने की कोशिश दिखाई पड़े वहाँ समझ लेना चाहिये कि वस्तु सत्य की पूंजी के अभाव में शब्दों के व्यापार के सहारे कामयाबी हासिल करने की कोशिश है।' नामवर जी भाषा-शिल्प और अन्तर्वस्तु की इस बहस को और स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि प्रभावोन्विति का असली कारण कहानी में अन्तर्निहित विचार और अनुभूतियों की विशेषता ही होती है। इसलिये भाषा शैली के आधार पर ही कहानियों के मूल्यांकन को वे आलोचनात्मक असामर्थ्य और पाठकीय भोलापन का सूचक मानते हैं।

नामवर जी ने कथालोचना के जो औजार विकसित किये हैं वे सर्वकालिक हैं इसलिये उनकी उपयोगिता और प्रासंगिकता आज भी उतनी ही बनी हुई है। 'कहानी नयी कहानी' को पढ़ते हुये कोई पाठक सहज ही आज के कथा परिदृश्य में तब के यानी नयी कहानी

TOUCH 'n PASS

के दौर के कथा-समय की कई-कई प्रतिछवियाँ देख सकता है। नामवर जी की आलोचना सिर्फ रचना और उसके रसास्वादन तक ही सीमित नहीं होती। उनकी दृष्टि कहानी और कहानीकार के साथ-साथ पाठक, पत्रिका, बाजार और बृहत्तर समाज के आचार-व्यवहार से भी लगातार संवाद बनाती और उसका जरूरी मूल्यांकन करती चलती है। वे रचना-सजग से कहीं ज्यादा समय-सजग आलोचक हैं। तभी तो वे जितनी बारीकी से अपने दौर की कहानियों पर बात करते हैं उतनी ही सचेत और सजग निगाहो से पत्रिकाओं के बाजारू टोटके और पाठकीय समझ पर डोरे डाल रहे विज्ञापनबाज संपादकों की तरफ भी इशारा करते चलते हैं। और इस तरह उनकी आलोचना लेखक, पाठक और संपादक तीनों के लिये बराबर रूप से जरूरी हो जाती है। कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

'जो बाजारू पत्रिकाएँ विषयाश्रयी वर्गीकृत कहानियों के द्वारा 'अपने' पाठकों की भूख मिटाती हैं वे उन्हें सम्पूर्ण जीवन से विछन्न करती हैं। वे परोक्ष ढंग से अपने पाठक समुदाय की कहानी सम्बन्धी प्राथमिक दिल्चस्पी को कुंठित करती हैं। इस प्रकार उनकी रुचि सीमित होती है, समझ संकुचित होती है और आकांक्षा अन्य कहानियों से वंचित होती है। एक ओर कहानियों के वर्ग बनते हैं तो दूसरी ओर पाठकों के। फलस्वरूप कहानीकार 'टाइप' कहानियाँ लिखने लगते हैं। देखते-देखते घटिया ढंग के 'टाईप' कहानीकारों से बाजार पट जाता है।'

ऊपर वर्णित कथालोचना की नामवारी जी की अवधारणाएँ अपने पहले पाठ में हमें शब्द-दर-शब्द सम्मोहित करती हैं। लेकिन जैसे ही कुछ थम कर हम इन सिद्धान्तों के कुछ भिन्न पहलुओं पर देखते हैं अन्तर्विरोधों की कई स्पष्ट दरारें कालीन के भीतर से झांकने लगती हैं। यहाँ नामवर जी की स्थापनाओं की दो परस्पर विरोधी मान्यताओं पर गौर करना जरूरी है। नामवर जी लिखते हैं—'आज की हिन्दी कहानी के विकसित तत्त्वों के रसास्वादन के लिये यथोचित अभिरुचि का वातावरण बनाने की जिम्मेदारी सबसे पहले आज के जागरूक कहानीकारों की है। अभिरुचि के द्वारा ही सुरुचिसम्पन्न पाठकों का समुदाय तैयार किया जा सकता है, जो कि आज की 'हिन्दी कहानी' के जीवन्त तत्त्व के विकास की खास शर्त है।'

अब एक दूसरा उद्धरण—'कहते हैं जैसे पाठक वैसा साहित्य; लेकिन सिर्फ कहते हैं। इसके में क्या यह तथ्य नहीं है कि साहित्य का स्तर नीचा है तो इसकी बहुत कुछ जिम्मेदारी पाठकों पर है? अगर अच्छी या बुरी सरकार की जिम्मेदारी किसी देश की जनता पर है तो अच्छे या बुरे साहित्य की जिम्मेदारी पाठकों पर है।' नामवर जी अद्‌भुत तर्क शक्ति के धनी आलोचक हैं। वे कहानी पर लगातार एक विचार करते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1. 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' किसकी आलोचना है?

(क) मुक्तिबोध (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) जय शंकर प्रसाद

उत्तर (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्र.2. प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन हुआ।

(क) 1936 (ख) 1937 (ग) 1938 (घ) 1939

उत्तर (क) 1936

प्र.3. हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं?

(क) छायावाद (ख) उदारवादी
(ग) यथार्थवाद (घ) यथार्थवाद एवं छायावाद

उत्तर (घ) यथार्थवाद एवं छायावाद

प्र.4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्तन परम्परा में किसका नाम अग्रणी है?

(क) महावीर प्रसाद द्विवेदी (ख) सुमित्रानन्दन पन्त
(ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) मुंशी प्रेमचन्द

उत्तर (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी

TOUCH 'n PASS

प्र.5. 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' कथन है–

(क) रामकुमार वर्मा (ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(ग) इलाचन्द्र जोशी (घ) अज्ञेय

उत्तर (ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी

प्र.6. 'सुमित्रानन्दन पन्त' किसकी आलोचना कृति है?

(क) निराला (ख) जयशंकर प्रसाद

(ग) दिनकर (घ) डॉ० नगेन्द्र

उत्तर (घ) डॉ० नगेन्द्र

प्र.7. डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिकता के बजाय किसे महत्त्व दिया?

(क) मान्यताएँ (ख) प्रेरणाएँ

(ग) युगबोध (घ) आलोचना

उत्तर (ग) युगबोध

प्र.8. 'तुलसी साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य' से सम्बन्धित है–

(क) रामविलास शर्मा (ख) नामवर सिंह

(ग) हरदयाल शर्मा (घ) डॉ० नगेन्द्र

उत्तर (क) रामविलास शर्मा

प्र.9. नई और पुरानी कहानी के प्रगतिशील लेखक हैं–

(क) युगबोध (ख) रामविलास शर्मा

(ग) नामवर सिंह (घ) मुक्तिबोध

उत्तर (ग) नामवर सिंह

प्र.10. 'नई कविता के आत्मसंघर्ष' से सम्बन्धित है–

(क) नीरज सिहं (ख) मुक्तिबोध

(ग) धर्मवीर भारती (घ) नामवर सिंह

उत्तर (ख) मुक्तिबोध

❑

TOUCH 'n PASS

- यद्यपि इस पुस्तक को यथासम्भव शुद्ध एवं त्रुटिरहित प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया गया है, तथापि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि अनिच्छाकृत ढंग से रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा सन्ताप के लिए लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। सभी विवादित मामलों का न्यायक्षेत्र मेरठ न्यायालय के अधीन होगा।
- इस पुस्तक में समाहित सम्पूर्ण पाठ्य-सामग्री (रेखा व छायाचित्रों सहित) के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं। अतः कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक का नाम, टाइटिल-डिजाइन तथा पाठ्य-सामग्री आदि को आंशिक या पूर्ण रूप से तोड़-मरोड़कर प्रकाशित करने का प्रयास न करें, अन्यथा कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार होंगे।
- इस पुस्तक में रह गई तथ्यात्मक त्रुटियों तथा अन्य किसी भी कमी के लिए विद्वत् पाठकगण से भूल-सुधार/सुझाव एवं टिप्पणियाँ सादर आमन्त्रित हैं। प्राप्त सुझावों अथवा त्रुटियों का समायोजन आगामी संस्करण में कर दिया जाएगा। किसी भी प्रकार के भूल-सुधार/सुझाव आप info@vidyauniversitypress.com पर भी ई-मेल कर सकते हैं।